वसुबन्धु के दर्शन का समीक्षात्मक अध्ययन
A CRITICAL STUDY OF THE PHILOSOPHY OF VASUBANDHU
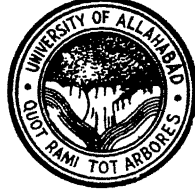
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

की

डी०फिल् उपाधि हेतु

प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्ता

अश्वनी कुमार तिवारी

एम०ए०, एल-एल०बी०

पर्यवेक्षक

डॉ० छोटे लाल त्रिपाठी

एम०ए०, एल-एल०बी०, डी०फिल्

पूर्व रीडर, दर्शन विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

2000

कथ्य

ईश्वर की असीम अनुकम्पा एवं कठोर परिश्रम से मै शोध प्रबन्ध 'वसुबन्धु के दर्शन का समीक्षात्मक अध्ययन' प्रस्तुत कर रहा हूँ। यद्यपि बौद्ध विज्ञानवाद के महान आचार्य वसुबन्धु के विषय में कुछ भी कहना सूर्य को दीपक दिखाना है, फिर भी इस शोध प्रबन्ध द्वारा इनके दर्शन के विषय में मैंने यथोचित विवेचन करने का प्रयास किया है।

सर्वप्रथम मैं अपने पूज्य नाना श्री सत्यनारायण मिश्र 'सेठ' को सादर चरण स्पर्श करूँगा जिनके वात्सल्य की छाया में रहकर मैं इस स्तर पर पहुँच सका हूँ।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के स्नातक कक्षा में प्रवेश लेने के पश्चात् यद्यपि पारिवारिक वातावरण दार्शनिक अभिरुचि का न होने के कारण, मुझे प्रारम्भ में दर्शनशास्त्र विषय लेने में कुछ विचिकित्सा हो रही थी फिर भी मैंने दर्शनशास्त्र को उच्च शिक्षा हेतु एक विषय के रूप में ग्रहण किया। एम० ए० करने के बाद इसी विषय में शोध कार्य भी करने की इच्छा प्रगट की, तदुपरान्त गुरुवर डा० छोटे लाल त्रिपाठी के सुयोग्य निर्देशन में मुझे शोध-कार्य करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इन्हीं के कुशल निर्देशन, स्नेह एवं सहयोग के कारण यह ग्रन्थ पूर्ण हो सका। अतः श्रद्धेय डा० सी० एल० त्रिपाठी का मैं हार्दिक आभारी हूँ। इनके अतिरिक्त दर्शनशास्त्र विभाग के पूज्य गुरुजन दिवंगत प्रो० एस० एस० राय (पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय), प्रो० संगम लाल पाण्डेय (पूर्व विभागाध्यक्ष, इ० वि० वि०), प्रो० जगदीश सहाय श्रीवास्तव (पूर्व विभागाध्यक्ष, इ० वि० वि०), प्रो० एस० के० सेठ, प्रो० राम लाल सिंह, प्रो० देवकीनन्दन द्विवेदी (पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इ० वि० वि०), प्रो० आर० एस० भटनागर, डॉ० नरेन्द्र सिंह, डॉ० मृदुला प्रकाश, डॉ० जटाशंकर तिवारी, डॉ० हरि शंकर उपाध्याय, डॉ० गौरी चट्टोपाध्याय, डॉ० आशा लाल, डॉ० श्रीकान्त मिश्र के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने मुझे इस कार्य हेतु समय-समय पर परामर्श दिया। इनके अतिरिक्त दर्शनशास्त्र विभाग के डॉ० उमाकान्त शुक्ल, डॉ० हेम लता श्रीवास्तव, डॉ० हरी कान्त मिश्र, डॉ० अनिल कुमार सिंह 'भदौरिया' के प्रति भी आभार प्रगट करता हूँ जिन्होंने मेरा उत्साह संवर्धन कर शोध प्रबन्ध पूर्ण करने में अपूर्व योगदान किया। दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर के प्रो० सभाजीत मिश्र (अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग) और डॉ० सत्या पाण्डेय (प्राचार्या, कुण्डा स्नातकोत्तर महाविद्यालय, प्रतापगढ़) के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिनका सत्परामर्श हमें सदैव मिलता रहा।

दर्शन विभाग के अतिरिक्त अन्य विभागों के आचार्यगण ने भी मेरा मार्ग दर्शन किया। इनमें प्रो० सुरेश चन्द पाण्डे (पूर्व विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इ० वि० वि०), प्रो० हरिशंकर त्रिपाठी (अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इ० वि० वि०),

डॉ० चन्द्रभूषण मिश्र (अवकाश प्राप्त, संस्कृत विभाग, इ० वि० वि०), डॉ० जयशंकर त्रिपाठी (पूर्व प्रवक्ता, ईश्वर शरण डिग्री कालेज, इलाहाबाद) तथा डॉ० सुरेन्द्र कुमार पाण्डेय (पी० सी० एस०) मुख्य हैं, इनके प्रति मैं श्रद्धावनत हूँ।

वात्सल्य की मूर्ति ममतामयी माँ श्रीमती श्यामा देवी, मामागण श्री ओंकारनाथ मिश्र, डॉ० मिथिलेश कुमार मिश्र, श्री ओम प्रकाश मिश्र 'राजाबाबू', डॉ० उमेश कुमार मिश्र तथा स्नेहमयी मामियों श्रीमती पुष्पा देवी, श्रीमती ज्योत्स्ना देवी, श्रीमती रीता देवी, तथा श्रीमती ममता देवी की कृपा और स्नेह का मैं किन शब्दों में वर्णन करूँ। इनकी कृपा के अभाव में मेरा शोध प्रबन्ध कभी पूरा ही नही हो सकता था। मै अपने मित्र श्री ब्रजेश कुमार त्रिपाठी (बी० डी० ओ०), श्री राकेश कुमार शुक्ल (उपजिलाधिकारी), श्री उमेश मिश्र (उप जिलाधिकारी), श्री अतुल मिश्र, श्री अनिल राम त्रिपाठी (रोजगार अधिकारी), श्री अनिल सिंह (बी० डी० ओ०), श्री राकेश कुमार सिंह (उपपुलिस अधीक्षक), श्री अवधेश उपाध्याय, श्री सुशील कुमार राय तथा श्री अविनाश तिवारी (डायरेक्टर, इलाहाबाद कोचिंग संस्थान) के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने समय-समय पर शोध प्रबन्ध से सम्बन्धित गुत्थियों को सुलझाने में सहयोग दिया।

अपने पुत्र ऐश्वर्य एवं पत्नी श्रीमती (डॉ०) राम माया त्रिपाठी का भी आभारी रहा हूँ, जिन्होंने घर को शान्तिमय वातावरण देकर पढ़ने-लिखने योग्य बनाये रखा। भाई डॉ० अभय मिश्र, श्री विष्णु मिश्र, श्री मुरारि मिश्र, श्री अनूप कुमार मिश्र, श्री सुधांशु कुमार मिश्र, श्री मुकेश कुमार मिश्र, हिमांशु मिश्र, प्रांशु मिश्र, अभिमन्यु मिश्र, यश मिश्र एवं भतीजे भव्य मिश्र के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने सदैव मित्रवत सहयोग एवं स्नेह प्रदान किया।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को स्पष्ट करने एवं अवगाहन हेतु अनेक पुस्तकालयों एवं संस्थाओं के साथ-साथ जिन पुस्तकों या विचारों का इस शोध-विषय में मैंने उपयोग किया है, उन सबके प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ। 'राका प्रकाशन' के व्यवस्थापक श्री राकेश तिवारी एवं टाइपिस्ट श्री. जितेन्द्र कुमार मिश्र ने बड़ी आत्मीयता और अभिरुचि के साथ मेरे शोध प्रबन्ध का टंकण किया। इनके प्रति मैं हार्दिक रूप से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

Ashwani Kumar Tiwari

अश्वनी कुमार तिवारी

विषय-सूची

अध्याय १

बौद्ध धर्म का उद्भव

बौद्ध धर्म का उद्भव- भगवान बुद्ध के जन्म से लेकर बारहवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध तक का समय बौद्ध–धर्म एवं दर्शन का ऐतिहासिक काल स्वीकार किया जाता है। यदि हम ऐतिहासिक साक्ष्यो के आधार पर कहें तो बिम्बिसार के काल से लेकर बंगाल के पालवंश तक बौद्ध–धर्म का इतिहास उपलब्ध होता है। अंग्रेज विचारक रीज़ डेविड्स के अनुसार ज्यों–ज्यों शताब्दियाँ गुजरती गई, त्यों–त्यों बौद्ध धर्म के प्रायः प्रत्येक ग्रन्थ में कुछ अंश में परिवर्तन होता गया और यह परिवर्तन एक हजार ई० तक चलता रहा।[1]

अब प्रश्न उठता है कि कौन सी ऐसी तात्कालिक परिस्थितियाँ थी जिनके कारण बौद्ध धर्म का आविर्भाव हुआ? वस्तुतः भगवान बुद्ध ने जब जन्म लिया था उस समय भारत में कोई एक छत्र साम्राज्य नहीं था किन्तु विशेष–विशेष गणजातियों और गोत्रों के शासक राजा लोग थे जो अपने पृथक एवं छोटे–छोटे राज्य बनाने के लिए प्रयत्नशील थे। नाना प्रकार की स्थानीय भाषाओं का प्रयोग होता था और संस्कृत सामान्य रूप से एक पवित्र भाषा थी। संस्कृत भाषा में रचित वेदों को पहले से ही रहस्यमय एवं पवित्र ग्रन्थ के रूप में मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। फलतः इन्हीं मान्यताओं को लेकर ब्राह्मण धर्म का बोलबाला हुआ। प्रारम्भ में तो ब्राह्मण धर्म स्वच्छ एवं नैतिकता पर आधारित होने के कारण सर्वजनहेतु ग्राह्य एवं आदरणीय था किन्तु शनैः शनैः इसमें कुरीतियों यथा जातिप्रथा, स्त्रियों की नीची स्थिति, पुरोहितवाद, व्यर्थ के आडम्बर तथा संस्कारों का जखीरा खड़ा होने के फलस्वरुप श्रमण धर्म के रूप में बौद्ध धर्म का श्रीगणेश हुआ। ज्ञातव्य है कि इन्हीं कुरीतियों से जनसामान्य को मुक्त करने के लिए जैन–धर्म का भी आविर्भाव हुआ इसके अतिरिक्त एक कटु सत्य यह भी है कि जिस प्रकार यूरोप में सामन्तशाही एवं राजशाही को बचाने के लिए वहाँ के लोगों ने कैथोलिक सम्प्रदाय को चर्च पर स्थापित कर जनसामान्य को अप्रत्यक्ष ढंग से

अपने बस में करना चाहते थे उसी प्रकार भारत में भी तत्कालीन शासक ब्राह्मण धर्म एवं पुरोहितों के प्रभाव से भयाक्रान्त होकर अपनी सत्ता को बचाये रखने के लिए तथा जनसामान्य की भावनाओं को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए जैन एवं बौद्ध–धर्म के विकास में भरपूर योगदान दिया।

किन्तु इस मत के होते हुए भी हम यह भी कह सकते हैं कि बुद्ध जैसे महापुरुष वस्तुतः मानव की करुणा एवं क्लेश से द्रवित होकर एवं उनके उत्थान हेतु ही बौद्ध धर्म का सूत्रपात किया होगा। इसके अतिरिक्त और कई कारण हैं किन्तु शोध विषय को ध्यान में रखते हुए हम केवल इन्हीं कारणों का ही उल्लेख करना आवश्यक समझते है। अब हम इन कारणों के पश्चात् बुद्ध के विषय में कुछ वर्णन करेंगे–

भगवान बुद्ध के आविर्भाव एवं निर्वाण का काल–निर्धारण निश्चित रूप से नहीं हो सका है फिर भी इनका आविर्भाव छठीं शताब्दी ई० पू० के मध्य (५६३ ई० पू०) तथा महापरिनिर्वाण पाँचवी शताब्दी ई० पू० का उत्तरार्द्ध (४८३ ई० पू०) माना जा सकता है। भगवान बुद्ध के पिता शाक्यगणाधिप सूर्यवंशी अन्तिम नरेश शुद्धोधन थे और उनकी पत्नी महामाया देवी थी। उनका जन्म कपिलवस्तु के पास लुम्बिनी (अब नेपाल में है) वन में वैसाखी पूर्णिमा के दिन हुआ था। इनके बचपन का नाम सिद्धार्थ गौतम था। उनके जन्म के कुछ सप्ताह बाद ही इनकी माता का स्वर्गवास हो गया। इस कारण उनका पालन–पोषण उनकी विमाता (मौसी) महाप्रजापति गौतमी ने किया। उनका विवाह राजकुमारी यशोधरा से हुआ था, जिन्होंने राहुल नामक पुत्र को जन्म दिया। भगवान बुद्ध बचपन से ही वैराग्योन्मुख थे किन्तु वृद्ध, रोगी, मृतक एवं परिब्राजक ये दृश्य देखकर उनका वैराग्य मुखरित हो उठा[२]। उन्होंने इन दुःखों का स्थायी निदान खोजने हेतु राजपाट, पत्नी और नवजात पुत्र का मोह छोड़ २६ वर्ष की अवस्था में, रात्रि के अंधकार में वन के लिए प्रस्थान किया।

भगवान बुद्ध ने यह अनुभव किया कि विश्व के क्षणिक एवं दिखावटी सुख का आधार चिरस्थायी वेदना है तथा भोग–विलास की कृत्रिम रेखा के नीचे आधि, व्याधि, जरा एवं मरण की भीषण व्यथा का अट्टहास निहित है। छः वर्षो की कठिन साधना के पश्चात लगभग ३५ वर्ष की आयु में वैशाखी पूर्णिमा के पर्व पर गया के समीप बोधिवृक्ष (पीपल वृक्ष) के नीचे मारविजय करके अज्ञान के अन्धकार को दूर करने वाले ज्ञान–सूर्य का साक्षात्कार करके वे बोधिसम्पन्न हो गये और बचपन के सिद्धार्थ गौतम के स्थान पर गौतम बुद्ध बन गए। इसके साक्षात्कार के बाद वे वाराणसी

के पास 'ऋषि–पत्तन मृगादाव' (सारनाथ) गये और वहाँ पर पाँच भिक्षुओं को उन्होंने अपना शिष्य बनाकर अपने साक्षात्कृत सत्य का प्रथम उंपदेश दिया, जिसे 'धर्मचक्र–प्रवर्तन' की संज्ञा दी गई है। यहीं से बौद्धधर्म का प्रारम्भ हुआ। तदनन्तर भगवान बुद्ध आधुनिक पूर्वी उ० प्र० एवं बिहार के कुछ भागों में लगभग पैतालीस वर्षो तक अनवरत चारिका (भ्रमण एवं भिक्षाचर्या) करते रहे तथा बिना किसी भेदभाव के धर्मोपदेश देते रहे एवं भिक्षु संघ बनाते रहे।[3] अन्त में मल्ल–गणराज्य की राजधानी कुशीनगर (आधुनिक कसया, जिला–देवरिया, उ० प्र०) के पास लगभग ८० वर्ष की अवस्था में वैसाखी पूर्णिमा के दिन उनका स्वर्गारोहण हो गया। अपने सरल उपदेश और राजाश्रय के फलस्वरूप बौद्धधर्म थोड़े ही काल में सारे भारत में फैल गया और अपनी जन्म भूमि की सीमाएँ पार कर श्रीलंका, वर्मा, थाइलैण्ड, कम्बोडिया, हिन्दएशिया, मलेशिया, मध्य एशिया, ईरान, अफगानिस्तान, नेपाल, तिब्बत, चीन, मंगोलिया, कोरिया, जापान तक फैला और विश्व धर्म का रूप धारण किया। भारत में लगभग डेढ़ हजार वर्षों तक व्याप्त रहकर तथा अनेक महान् दार्शनिक एवं सन्त–पुरुषों द्वारा संवर्धित होकर अन्ततः काल–चक्र से अपनी जन्मभूमि से लुप्त हो गया। आधुनिक समय में पुनः उसका जन्म भारत में हो रहा है। यद्यपि अब सिद्धार्थ गौतम नहीं रहे फिर भी वे अपनी मानवतावादी दृष्टिकोण से उपदेश देने के कारण अब भी अमर हैं। यद्यपि बौद्ध धर्म भारत में अस्तित्ववान नहीं रहा फिर भी उसके मूल सिद्धान्त आज भी हिन्दू धर्म में सुरक्षित हैं।

भगवान बुद्ध के उपदेश मौखिक थे जिन्हें उनके शिष्य याद कर उनका पाठ किया करते थे। ४८३ ई० पू० में बुद्ध निर्वाण के कुछ सप्ताह बाद ही राजगृह में अजातशत्रु के शासन काल में प्रथम बौद्ध संगीति हुई, जिसमें 'विनय पिटक' (आचार सम्बन्धी ग्रन्थ) और 'सुत्तपिटक' (बुद्ध के उपदेश) के प्राचीनतम अंश संकलित किए गए। लगभग १०० वर्षो के पश्चात् वैशाली में राजा कालाशोक के संरक्षण में द्वितीय बौद्ध संगीति हुई, जिसमें विनय एवं सुत्त पिटकों का विस्तार किया गया तथा 'अभिधम्म पिटक' (दार्शनिक ग्रन्थ) के कुछ अंश संकलित हुए। इस संगीति में भिक्षु–संघ थेरवाद एवं महासांघिक इन दो दलों में विभक्त हो गया जो आगे चलकर हीनयान एवं महायान के नाम से विख्यात हुए। लगभग २५६ ई० पू० में सम्राट अशोक द्वारा पाटलिपुत्र में आहूत तृतीय बौद्ध संगीति में थेरवादियों द्वारा विनय, सुत्त एवं अभिधम्म नामकापालित्रिपिटक का संकलन हुआ। पालि भाषा के इन तीनों पिटकों को अशोक के पुत्र (या भाई) महेन्द्र बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ सिंहलद्वीप ले

गए थे। बाद में वहीं प्रथम सदी ई० पू० में सिंहल नरेश वट्टगामिणी के शासनकाल में इन्हें सर्वप्रथम सुव्यवस्थित ढंग से लिपिबद्ध किया गया जो किंचित परवर्ती विस्तार के साथ आज भी उपलब्ध है और भगवान बुद्ध के मतावलम्बियों का आज भी धर्म ग्रन्थ है।

भारत मे तृतीय संगीति के बाद सर्वास्तिवाद थेरवाद से अलग हो गया तथा थेरवाद का ह्रास और सर्वास्तिवाद का विकास होने लगा। कनिष्क के शासनकाल में (प्रथम या द्वितीय सदी में) चतुर्थ बौद्ध संगीति कश्मीर के कुण्डलवन में वसुमित्र की अध्यक्षता तथा अश्वघोष की उपाध्यक्षता में सम्पन्न की गई। इसमें सर्वास्तिवाद के त्रिपिटक की संस्कृत भाषा में संरचना हुई।[4] किन्तु यह मूलरूप मे नष्ट हो गया एवं इसके कुछ अंश ही मिले हैं किन्तु चीनी अनुवाद में यह पूर्णरूप में उपलब्ध है। सर्वास्तिवाद को वैभाषिक भी कहते हैं। कुछ मतभेदों के फलस्वरूप कालान्तर में इसी की सौत्रान्तिक नाम की एक शाखा उत्पन्न हुई। थेरवाद (स्थविरवाद), वैभाषिक (सर्वास्तिवाद) एवं सौत्रान्तिक ये हीनयान के तीन प्रमुख सम्प्रदाय हैं। हीनयान के विरोध में महायान का विकास हुआ जिसका बीजारोपण 'महासांधिक' के रूप में द्वितीय धर्मसंगीति के समय ही हो गया था। माध्यमिक (शून्यवाद), योगाचार (विज्ञानवाद) एवं स्वतन्त्रयोगाचार (स्वतंत्र विज्ञानवाद) महायान के तीन प्रमुख सम्प्रदाय है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन के छः मुख्य सम्प्रदाय हैं।

प्रथम संगीति भगवान् बुद्ध की देशना के मर्मज्ञ रश्मिभू और प्रमुख शिष्य महाकश्यप की अध्यक्षता में हुई। इस संगीति में उनके अन्य दो प्रमुख शिष्य आनन्द एवं उपालि ने भी भाग लिया। प्रथम संगीति या विनय संगीति में लगभग ५०० भिक्षु थे, अतः इसे पञ्चशतिका भी कहा जाता है। विनय पिटक के दो मुख्य भाग हैं—विभंग एवं स्कन्धक।

सुत्तपिटक के पॉच विभाग हैं जिन्हें निकाय कहा जाता है। इनमें से पहले चार में मुख्य रूपेण बुद्ध के सुत्त (कहानियॉ) अथवा व्याख्यान हैं। ये वार्ता अथवा संवाद के रूप में हैं। ये जिन सिद्धान्तों को समझाने की कोशिश करते हैं उनमें परस्पर कोई मतभेद नहीं है। सुत्तपिटक के पॉच विभाग हैं– (१) दीघनिकाय, यह लम्बे भाषणों का संग्रह है। (२) मज्झिमनिकाय, यह साधारण लम्बाई के भाषणों का संग्रह हैं। (३) संयुक्तनिकाय, इसमें संयुक्त भाषणों का संग्रह है। प्रसिद्ध 'धर्मचक्रप्रवर्तनसूत्र' भी इसके अन्तर्गत है। (४) अंगुत्तरनिकाय, इसमें २३०० सुत्तों से कुछ अधिक हैं

और यह ११ विभागों में बँटा है। (५) खुद्दनिकाय, यह छोटे–छोटे टुकड़ों का संग्रह है। इसमें १५ विभाग है– जैसे–खुद्दकपाठ, धम्मपद, उपादानादि।

अभिधम्मपिटक में मनोवैज्ञानिक नीतिशास्त्र का प्रतिपादन किया गया है एवं प्रकरणवश आध्यात्मविद्या एवं दर्शनशास्त्र का भी प्रतिपादन किया गया है। इसके सात उपविभाग हैं– (१) धर्मसंगिणी (२) विभंग (३) कथावत्तु (४) पुग्गलपञ्अति (५) धातु (६) यमक (७) पट्ठान। यह पालि धर्मशास्त्र है जो थेरवाद के नाम से विख्यात, सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।[५]

कभी–कभी जैसे स्याम इत्यादि देशों में 'मिलिन्दपन्हों' ग्रन्थ को भी बौद्ध धर्मशास्त्र के अन्तर्गत शामिल कर लिया जाता है किन्तु इसे अपवाद ही कहा जा सकता है। द्वितीय बौद्ध संगीति 'सर्वकामी' की अध्यक्षता में हुई। तृतीय बौद्ध संगीति 'मोग्गलिपुत्त तिस्स' की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुई तथा संघभेद को रोकने हेतु कड़े नियमों का निर्माण किया गया।

उपर्युक्त विवेचित बुद्ध के जीवन परिचय एवं बौद्ध संगीतियों तथा त्रिपिटकों का परिचय देने के पश्चात् अब हम बौद्ध दर्शन के दार्शनिक विचारों का कालक्रम निर्धारित करने का प्रयास करेंगें।

बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास

जैसा कि यह कहा जा चुका है भारत में बौद्ध–दर्शन का अस्तित्व छठीं शताब्दी ई०पू० में जन्में बुद्ध से लेकर ग्यारहवीं सदी के आरम्भ तक रहा जिसे निम्न तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है–प्रथम काल ५०० ई० पूर्व से प्रथम सदी ई० तक, द्वितीय काल प्रथम सदी से ५०० ई० तथा तृतीय काल ५०० से लेकर ११वीं सदी का आरम्भ तक निर्धारित किया जा सकता है।

बौद्ध दर्शन का प्रथम काल–बौद्ध दर्शन का आरम्भ पुद्गल (मानव व्यक्तित्व) का निर्माण करने वाले विभिन्न धर्मों के सूक्ष्म विश्लेषण से हुआ। सर्वप्रथम पुद्गल के धर्मों का 'सास्रव–अनास्रव' तथा 'कुशल–अकुशल' के रूप में विभाजन किया गया।[६] मोक्ष की कल्पना और उसका प्रतिपादन निरोध, शान्ति या निर्वाण की अवस्था के रूप में किया गया। अतः साधारण जीवन अथवा संसार को दुःखावस्था मान लिया गया। इस प्रकार ऐसी नैतिक विशेषताओं अथवा शक्तियों को व्यावदानिक कहा गया हैं जो निर्वाण की प्राप्ति कराती है। धर्मों के इन दो परस्पर विरोधी वर्गों के अतिरिक्त प्रत्येक मानसिक जीवन–तल में स्थित कुछ अन्य सामान्य, निरपेक्ष तथा आधारभूत धर्मों को भी ढूँढ़ा

गया किन्तु उनके सामान्य आधार के रूप में किसी का निर्धारण नहीं किया जा सका। इसीलिए कोई अहम नहीं, कोई आत्मा नहीं (अनात्मवाद), कोई व्यक्तित्व नहीं (पुद्गलों नाऽस्तें–अनात्मत्व–नैरात्म्य–पुद्गल–शून्यता)।

प्रारम्भिक बौद्धमत का यही अनात्मवाद ही प्रथम प्रमुख विशेषता है। अनात्मवाद बौद्धमत का एक दूसरा नाम ही है।

बाह्य आयतन का भी उसका निर्माण करने वाले धर्मों के अन्तर्गत विश्लेषण किया गया है। यह व्यक्तित्व या पुद्गल आपेक्ष्य भाग उसका ऐन्द्रिक विषय हैं। बौद्ध मत के पूर्व ही कुछ दार्शनिक मत थे, जो ऐन्द्रिक विषय एक सुसंहति को वस्त्वात्मक और नित्य तत्व, प्रधान की परिवर्तनशील अभिव्यक्ति मानते थे। बौद्ध मत ने इस सिद्धान्त का परित्याग कर दिया और यह प्रतिपादित किया कि भौतिक तत्व भी उतने ही परिवर्तनशील, अनित्य और प्रवाहमान हो गए, जितने मानसिक माने जाते थे। आरम्भिक बौद्ध–मत की यह दूसरी विशेषता है। कोई पदार्थ नहीं, कुछ भी स्थाई नहीं, सब कुछ पृथक् है, बिना किसी तत्व के ही कार्य साधक शक्ति का क्षणिक स्फुरण, सतत सामञ्जस्य, अस्तित्वात्मक क्षणों का एक प्रवाह मात्र हैं।[8]

एक अन्य विशेषता के अन्तर्गत हेतु प्रत्ययावस्था अर्थात् भौतिक और नैतिक कारणत्व या हेतुत्व को स्थान दिया गया है। क्षणभंगुर तत्वों का प्रवाह एक अस्त व्यस्त पद्धति नहीं थी। प्रत्येक तत्व चाहे एक क्षण के लिए ही प्रकट हों, वह प्रतीत्यसमुत्पन्न होता है। 'अस्मिन् सति इदं भवति' के सिद्धान्त के आधार पर यह विशुद्ध हेतुवाद के अनुरूप ही है। इस प्रकार बौद्धमत की यह तीसरी विशेषता है।

एक अन्य विशेषता इस तथ्य में निहित है कि अस्तित्व के धर्मों को भौतिक धर्मों की अपेक्षा बहुत कुछ संस्कारों या संस्कृत धर्म के समान माना जाता है। मानसिक धर्म या चित्त चैत्य स्वभावतः नैतिक–अनैतिक अथवा निर्लिप्त शक्तियाँ होती थीं। पदार्थ धर्म की कल्पना एक ऐसी वस्तु के रूप में की गई जिसमें स्वयं पदार्थ की अपेक्षा पदार्थवत् प्रतीत होने की क्षमता थी। अतः उन्हें सह–संस्कृत धर्म या संस्कार कहा गया।

इस प्रकार, आरम्भिक बौद्ध–मत में असंख्य विषयों के प्रवाह से युक्त एक ऐसे ससार की खोज की गयी जो एक ओर तो हम जो कुछ देखते, सुनते, सँघते, स्वाद लेते और स्पर्श करते हैं, उसका आयतन (रूप–शब्द–गन्ध–स्पृष्टव्य–आयतनानि) है, और दूसरी ओर वेदना, संज्ञा और संस्कारो– ये संस्कार चाहे अच्छे हो या बुरे– से युक्त साधारण ज्ञान है, किन्तु जिसमें कोई आत्मा नहीं, सामान्यरूपेण कोई भी स्थाई या पदार्थभूत वस्तु नहीं है।[५] बौद्ध–दर्शन की एक अन्य विशेषता लक्षित होती है जो भौतिकवादियों के अपवाद के अतिरिक्त भारत के अन्य सभी दर्शनों में समानरूपेण उपलब्ध है। यह विशेषता है–मोक्षवाद। इस अभीष्ट के मार्ग की शिक्षा देने में बौद्धों का पूर्वगामी आरम्भिक भारतीय योग है। बौद्ध–दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण मतवाद को तथाकथित 'चार सत्यों' अथवा चार आर्य सत्यों के सूत्र के रूप में संक्षिप्त कर दिया गया है, यथा–प्रथम–जीवन एक अशान्त संघर्ष है। द्वितीय–इसकी उत्पत्ति पापपूर्ण वासनाओं से होती है। तृतीय– चिरन्तन शान्ति ही अभीष्ट है। चतुर्थ–एक ऐसा मार्ग है जहाँ जीवन के निर्माण में सहायक समस्त संस्कार क्रमशः लुप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार बौद्ध–दर्शन के प्रथम काल, धर्मचक्र के प्रथम प्रवर्तन के यही प्रमुख विचार है। इसे कदाचित् ही किसी धर्म का प्रतिनिधित्व करने वाला कहा जा सकता है। इस काल का अर्थात् अशोक के बाद का बौद्ध–दर्शन साधारण महत्व की बातों पर अट्ठारह सम्प्रदायों में विभक्त था। वत्सीपुत्रियों के सम्प्रदाय द्वारा एक छायात्मक, अर्द्धवास्तविक व्यक्तित्व की स्वीकृति की इस दर्शन की भौतिकी रूपरेखा से एकमात्र महत्वपूर्ण विचलन था।[६]

बौद्ध-दर्शन का द्वितीय काल–इस युग में जो प्रथम ईस्वी शताब्दी से प्रारम्भ होकर द्वितीय काल के अन्तिम चरण में अर्थात् पाँचवी शताब्दी के अन्त तक चलता है, बौद्ध धर्म के स्वरूप में एक मौलिक परिवर्तन हुआ। इसने उस मानव बुद्ध के आदर्श का परित्याग कर दिया, जो एक चैतन्य शून्य निर्वाण में सर्वथा विलीन हो जाते है और उनके स्थान पर चैतन्य से आप्लावित निर्वाण में अधिष्ठित एक दिव्य बुद्ध के आदर्श को प्रतिष्ठित किया। दूसरे शब्दों में इस युग में मानव जाति में उत्पन्न शुद्धोदन के पुत्र शाक्य मुनि गौतम बुद्ध को देवत्व प्रदान कर दिया गया और वे अब भगवान बुद्ध हो गए। यहाँ अनेक धर्मों पर आधारित बहुतत्ववादी बौद्ध धर्म एवं एकत्ववाद में परिवर्तित हो गया। यह परिवर्तन भारत में अनादि काल से प्रचलित उस सनातन धर्म या ब्राह्मण

धर्म का अनुकरण प्रतीत होता है जिसमें महान राष्ट्रीय देवता, शिव और विष्णु की उपासना होती थी। प्रारम्भिक बौद्ध–दर्शन में समस्त भौतिक और मानसिक धर्मो को परस्पर सम्बद्ध धर्म (संस्कृत–धर्म) अथवा सहकारी शक्तियाँ (संस्कार) माना गया था। ये सभी धर्म परस्पर सम्बद्ध, परस्पर आपेक्ष्य और स्वभाव शून्य थे।[१०] पूर्वकाल में समस्त पुद्गलो, समस्त स्थाई तत्वों, आत्माओ और पदार्थों के चरम सत्य को अस्वीकार किया गया था। नवीन बौद्ध दर्शन में न केवल उनके धर्म ऐन्द्रिक प्रदत्त और चेतना के आधारभूत प्रदत्त ही, वरन् समस्त चित्त संप्रयुक्त–संस्कार भी एक द्वन्द्वात्मक पद्धति में आत्माओं का अनुगमन करने लगे। आरम्भिक वादों को अनात्मवाद या निःस्वभाववाद का नाम दिया गया था। जिसका स्थान अब एक प्रकार के आत्मवाद ने ले लिया। भले ही आत्मा शब्द से वे घृणा करते रहे हों।

इस युग में प्रादुर्भूत नवीन बौद्ध–दर्शन में दो सत्यों की स्थापना हो गयी– एक संवृत् सत्य (सावृत) एवं द्वितीय परमार्थ सत्। एक सत्य का भ्रान्तिमय पक्ष है। और दूसरा वास्तविक, जो उसका चरम स्वरूप है। नवीन बौद्ध–दर्शन के इन दो परम तत्वों या 'दो सत्यों' ने प्रथम युग के 'चार' आर्य सत्यों को स्थानापन्न कर दिया है।[११]

आरम्भिक बौद्ध–दर्शन के समस्त धर्मों को जिन्हें केवल निर्वाण में ही प्रसुप्त किन्तु साधारण जीवन में सक्रिय संस्कार माना गया था, यहाँ उन्हें चिरप्रसुप्त और उनकी सक्रियता को केवल एक भ्रम माना गया। इस प्रकार, यहाँ अनुभूत जगत केवल एक भ्रमात्मक प्रतीति है जिसके नीचे साधारण मानव के सीमित बोध के लिए निरपेक्ष अपने को अभिव्यक्त करता है, अतः दोनों के तल में कोई अन्तर नही है। निरपेक्ष सत्य के इस पक्ष का साधारण अनुभवात्मक आयतनों के द्वारा बोध भी नही हो सकता। सत्य ज्ञान का एकमात्र स्रोत अर्हत् का यौगिक ज्ञान और उस नवीन बौद्ध–धर्म ग्रन्थों द्वारा उद्घाटित ज्ञान है।

बौद्ध–दर्शन भी हिन्दू धर्म की भाँति यह स्वीकार करने लगा कि दृश्यमान लौकिक बहुदेवत्ववाद एक अलौकिक विश्व देवैक्यवाद की अभिव्यक्ति है। दूसरे शब्दों में ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जिस लौकिक जगत् की अनभूति हो रही है उसका आधार दिव्य परम तत्त्व है जिसे विश्वदैवैक्यवाद की संज्ञा दी जा सकती है। पूजा के स्वरूप के लिए इसने प्रचलित अद्‌भुत कृत्यों, अथवा तथाकथित तान्त्रिक संस्कारों को ग्रहण किया। अपने मूर्ति विषयक आदर्शों की पूर्ति के लिए इसने, आरम्भ में यूनानी कलाकारों की कुशलता का प्रयोग किया।[१२]

इस प्रकार बौद्ध–दर्शन के विकास के द्वितीय क्रम में गम्भीर परिवर्तनों ने प्रवेश किया।

बौद्ध-दर्शन का तृतीय काल :–यह काल भारतीय सभ्यता के स्वर्णयुग का समकालीन था, जब भारत का अधिकांश भाग गुप्तो के राजवंश के समृद्धिशाली शासन के अन्तर्गत था। इस काल में कला एवं विज्ञान ने अपनी चरम सीमा प्राप्त की और बौद्धों ने इस पुनर्जागरण में यह महत्वपूर्ण योगदान किया।

इस युग में असंग और वसुबन्धु के बौद्ध दर्शन ने एक नवीन दिशा प्रदान की। जहॉं द्वितीय युग की न्याय की भर्त्सना की परम्परा का परित्याग कर दिया गया और बौद्धों ने नैयायिक विषयों में गहन अभिरूचि प्रकट करना आरम्भ किया[१३] । इस प्रकार न्यायशास्त्र में गहन अभिरूचि, अर्थात् दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना में इसका प्रयोग और इसके विकास के प्रति जागरूकता इस युग की प्रमुख विशेषता बन गयी।

इस नवीन परिवर्तन का आरम्भ बिन्दु बहुत कुछ (मैं सोचता हूॅ इसलिए मैं हूॅ) स्वसंवेदना जैसा प्रतीत होता है। नव विकसित पूर्ण मायावादी बौद्ध सम्प्रदाय (शून्यवाद) के विरुद्ध इन बौद्ध दार्शनिकों ने अब यह घोषणा की कि हम स्वसंवेदना की वैधता को अस्वीकार नही कर सकते, क्योकि यदि हम स्वसंवेदना को अस्वीकार करते हैं तो हमें चेतना को ही अस्वीकार करना होगा और तब सम्पूर्ण जगत् सर्वथा अन्धत्व की अवस्था में परिणत हो जाएगा। यदि हम यह नहीं मानते कि हम एक नीलपट देख रहे हैं, तो हम नीलेपन को कभी नहीं जान सकते।[१४] अतः स्वसंवेदना को ज्ञान के एक सार्थक स्रोत के रूप में अवश्य स्वीकार करना चाहिए। स्वसंवेदना की समस्या ने सम्पूर्ण भारतीय दर्शन साथ ही साथ बौद्धों को भी दो विरोधी दलों– में विभक्त कर दिया। एक जो उसके समर्थक थे और दूसरे वे जो इसके विरोधी थे, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मूलतः इस सिद्धान्त का उद्देश्य माध्यमिकों के अतिसंशयवाद का प्रतिकार करना था।

इस युग की एक अन्य विशेषता इसका आलयविज्ञान का सिद्धान्त है जिसके अनुसार न तो कोई बाह्य जगत् है और न उसका ज्ञान प्राप्त करने वाली या बाह्य संवेदना चेतना है। इस सिद्धान्त के अनुसार केवल एक ही संवेदना है जो स्वसंवेदनात्मक है अर्थात् वह केवल अपने ही स्वत्व का ज्ञान प्राप्त करती है। यह दृश्य जगत् या वास्तविक संसार इसी (आलयविज्ञान) की अभिव्यक्ति है जो सुप्त रूप में या बीजरूप में इसमें विद्यमान रहता है। इसी कारण इसको

सर्वबीजक भी कहा जाता है। वैदिक दर्शन का अनुकरण करते हुए इस नवोदित बौद्ध दर्शन द्वारा 'ईश्वर की बुद्धि' के स्थान पर 'आलय विज्ञान' को और उसकी इच्छा के स्थान पर 'अनादिवासना' को स्थापित कर दिया गया।

इस युग के प्रारम्भ में आलय विज्ञान का इस दर्शन में प्रमुख स्थान था किन्तु इस युग के परवर्ती दार्शनिकों ने यह सोच कर कि कहीं इससे 'प्रच्छन्न आत्मा' का बोध न हो, इसका भी परित्याग कर दिया।

संदर्भ

१. रीज डेविड्स–'द सेक्ट्स ऑफ बुद्धिस्ट्स, जर्नल ऑफ द रायल्स एशियाटिक सोसाइटी' १८९१.

२. डॉ० जी० सी० पाण्डेय कृत 'बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास', पृष्ठ ४४,।

३. सी० डी० शर्मा कृत 'भारतीय दर्शन का चिन्तन एवं अनुशीलन' पृष्ठ, ४६–४७।

४. देखे, पृष्ठ ५०२, राहुल सांकृत्यायन कृत 'दर्शन दिग्दर्शन'।

५. देखे ओल्डेनबर्ग, दीपवंश, पृष्ठ, २७।

६ डॉ० जी० सी० पाण्डेय कृत 'बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास', देखें, पृष्ठ ६१,।

७. डॉ० जी० सी० पाण्डेय कृत 'बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास', पृष्ठ ७३, देखे,।

८. द्रष्टव्य पृष्ठ ३६६–४००, 'अरिजिन्स आव बुद्धिज्म' नामक पुस्तक में ओल्डेन बर्ग द्वारा।

९. न्यायवार्तिक, पृष्ठ १२, (चौखम्बा, १९१५)।

१० राहुल सांकृत्यायन कृत 'दर्शन दिग्दर्शन', पृष्ठ ५०४,।

११ डॉ० जी० सी० पाण्डेय कृत 'बौद्ध धर्म का इतिहास', पृष्ठ ७३,।

१२ उदा० राइजडेविड्स, अमेरिकन लेक्चर्स, पृ० ३६–४१, शेरवात्स्की, सेण्ट्रल कन्सेप्शन ऑफ बुद्धिज्म, पृ० ७३, इत्यादि।

१३. दत्त कृत 'अर्ली मौनेस्टिक बुद्धिज्म' जि० १, पृ० ३२६।

१४. द्रष्टव्य मिनयेपफ, रेशर्श सूर ल बुद्धिज्म, ओल्डेनबर्ग, जेड्० डी० एम० जी०, १८९८, पृ० ६१३–६४।

अध्याय—२

योगाचार विज्ञानवाद के दार्शनिकों का संक्षिप्त परिचय

बौद्ध धर्म के विकास के इस दीर्घकालीन इतिहास में दार्शनिक समस्याओं पर चुप्पी साधे मूल बौद्ध धर्म को जिन महान आचार्यों ने प्रौढ़ दर्शन के रूप में विकसित किया उनमें अश्वघोष, नागार्जुन, मैत्रेयनाथ, असंग, वसुबन्धु, स्थिरमति, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, विनीतदेव प्रमुख हैं। अतः शोध प्रबन्ध के विषय को सम्यग् रुपेण समझने के लिए इन दार्शनिकों के व्यक्तित्व और कृतित्व का संक्षेप में वर्णन किया जाता है।

वसुबन्धु ने सर्वास्तिवाद का विवेचन करने के लिए 'अभिधर्मकोश' नामक सवोत्कृष्ट ग्रन्थ लिखा। जिसमें उन्होंने सर्वास्तिवाद दर्शन के सभी सिद्धान्तों का सर्वेत्कृष्ट विवेचन किया है। किन्तु वे वहीं नहीं रूके। उन्होंने प्रौढ़ावस्था में अभिधर्म ज्ञान के सर्वोच्च् शिखर पर आरूढ़ होने के बाद अपने अग्रज आर्य असंग के सानिध्य में आकर उसका परित्याग कर दिया और साथ ही यह भी निश्चय किया कि जिस जिह्वा द्वारा महायान की निन्दा की गयी है उसको काट देना ही उचित होगा। किन्तु आर्य असंग के इस प्रकार उद्बोधन करने पर कि जिस जिह्वा द्वारा आपने महायान की निन्दा की है उसके द्वारा उसका मण्डन कीजिए। उनके इस उद्बोधन पर उन्होंने महायान बौद्ध दर्शन के योगाचार विज्ञानवाद का गम्भीर अध्ययन किया और 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' नामक ग्रन्थ की रचना की, जो योगाचार विज्ञानवाद का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है और जिसके फलस्वरूप योगाचार विज्ञानवाद का प्रभाव समस्त बौद्ध संसार में फैल गया और जो अब तक अनेक देशों में प्रकाश का कार्य कर रहा है।

अब प्रश्न उठता है कि वे कौन सी विशेषताएं हैं जो महायान में हैं किन्तु हीनयान में नहीं हैं और जिनसे प्रेरित होकर उन्होंने हीनयान में अपनी सर्वोत्कृष्ट प्रतिष्ठा का परित्याग कर महायान

का वरण किया था। इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हीनयान और महायान में निहित सामान्य विशेषताओं और उनके अन्तर का विवेचन आवश्यक है।

हीनयान और महायान में निम्नलिखित बातों पर मतभेद हैं–

१. हीनयान बौद्धधर्म के उद्‌भव और विकास की प्रथम अवस्था है। यह नैतिक और ऐतिहासिक है। इसके विपरीत महायान का प्रादुर्भाव और विकास ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में हुआ। यह स्वरूपतः धार्मिक और तत्वदार्शनिक है। इस पर इतिहास का कम और पौराणिकता का अधिक प्रभाव है। जिन तत्वों को बुद्ध ने अव्याकृत मान कर छोड़ दिया था उन्हीं का महायान मे सर्वाधिक विवेचन है। यह दूसरी बात है कि उन सिद्धान्तों की प्रचलित पदावली के स्थान पर वही पदावली का गठन हुआ था।

२. सर्वास्तिवाद के अतिरिक्त हीनयान के सभी धार्मिक ग्रन्थ पाली में रचे गए थे जो जनसामान्य की बोली थी इसके विपरीत महायान के सभी ग्रन्थ संस्कृत में रचे गए जो विद्वानों की भाषा थी।

३. हीनयान में आत्मा का सम्प्रत्यय पंचस्कन्ध मात्र है जो रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का संघात है जो निरन्तर परिवर्तनशील (अनित्य) और क्षणिक हैं।

४. हीनयान में निर्वाण व्यक्तिपरक है। यहाँ व्यक्ति का कर्म अपना निर्वाण प्राप्त करना है। किन्तु निर्वाण की यह अवस्था अभाव या विनाश की अवस्था नहीं है। यह पूर्णशान्ति, पूर्ण आनन्द और पूर्ण उदात्तता की अवस्था है। किन्तु महायान में यह पूर्णज्ञान–प्रज्ञापारमिता अथवा बुद्धत्व की अवस्था है। जिसे प्राप्त कर लेने पर उसे बुद्ध की समस्त आध्यात्मिक शक्तियाँ उपलब्ध हो जाती हैं।

५. हीनयान में निर्वाण की प्राप्ति अविद्याजन्य क्लेशों (वासनाओं, राग–द्वेष) की निवृत्ति से होती है जबकि महायान में इसकी प्राप्ति क्लेशावरण और ज्ञेयावरण दोनों की निवृत्ति से होती है अर्थात् माधव को वासनाओं के अतिरिक्त उन आवरणों को भी अनावृत्त करना है जो वास्तविक ज्ञान को आच्छादित करते हैं।

६ हीनयान के साधक श्रावक कहलाते हैं जिसका लक्ष्य अहर्त् का पद प्राप्त करना है और जो जीवन के अन्त में निर्वाण प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत महायान के साधक बोधिसत्व कहलाते है जिसका लक्ष्य बोधिप्रणधिचित्त और बोधिप्रशान्त चित्त प्राप्त करना है।[1] बोधिप्रणधिचित्त में साधक यह संकल्प करता है कि उसका लक्ष्य बोधिप्राप्त करना और बुद्ध होना है और बोधिप्रशान्त चित्त में साधक षड्पारमिताओं और दशभूमियो में पूर्णता प्राप्त करता है यहॉ बोधिसत्व का कथनानुसार परमार्थ सत्य का साक्षात्कार करना है जो समुद्र की भॉति अनन्त और एक स्वाद से युक्त है जिसमे सभी व्यक्ति अपना व्यक्तित्व उसी प्रकार विलीन कर देते हैं जैसे समुद्र में नदियॉ।

७. हीनयान में श्रावक जन संघ के संरक्षक हैं जो श्रमणों को भोजन और वस्त्र का दान देते हैं तथा उनके रहने के लिए मठ का निर्माण करते हैं। वे श्रमणों और अर्हतो द्वारा दिए गए प्रवचन को सुनते हैं तथा प्रायः पंच महाव्रतों और समय–समय पर अष्टव्रतों का पालन करते हैं जबकि महायान के साधक बोधिसत्व कहलाते हैं।

८. हीनयान के अनुसार बुद्धकल्प मे केवल एक बार जन्म लेते है जबकि महायान में प्रत्येक प्राणी बुद्धत्व जिसे तथागत गर्भ भी कहते हैं से युक्त है। जो शुभ और अशुभ दोनों से युक्त हैं किन्तु साधक द्वारा अशुभ को विनष्ट कर वह बुद्ध हो जाता है।

९. हीनयान में माध्यमिकों की शून्यता तथा योगाचार विज्ञानवादियों के विज्ञानमात्रादि ये तत्वदार्शनिक संप्रत्ययन के लिए तनिक भी स्थान नहीं है जबकि माध्यमिकों के अनुसार समस्त प्राणी क्षणिक और शून्य हैं और विज्ञानवादियों के अनुसार विज्ञानमात्र (चित्तमात्र) के अतिरिक्त किसी भी कारण पदार्थ का अस्तित्व नहीं है।[2] व्यापकता–हीनयान गौतम बुद्ध की शिक्षाओं तक सीमित है जबकि महायान विश्व के समस्त सन्तों और धर्म प्रवर्तकों– कन्फ्यूसियस, लाओ जो, शिण्टो, जरतुस्थ्र, सकतन और ऐसे ही अन्य शिलाओं में बुद्ध की शिक्षाओं के दर्शन करता है।

१०. प्राणिमात्र के लिए करुणा– हीनयान का ग्रन्थ मात्र व्यक्ति का निर्वाण है किन्तु महायान विश्व के समस्त प्राणियों के निर्वाण के लिए प्रयत्नशील है। उसके लिए निर्वाण का सुख तो भार का प्रलोभन मात्र है। वह प्राणियों के दुःख को दूर करने के लिए शूकर,

कूकर, कीट पतंग आदि की योनि ग्रहण कर सकता है और स्वर्ग, नरक, गन्दा स्थान कहीं भी वास कर सकता है।[3]

११. पुद्गल नैरात्म्य और धर्म नैरात्म्य– हीनयान केवल पुद्गल नैरात्म्य में विश्वास करता है उसके अनुसार नित्य आत्मा भय की कोई चीज नहीं है। वह पंच स्कन्ध मात्र है। इसके विपरीत महायान आत्मा की वस्तु एवं द्रव्य (धर्म) दोनों को नहीं मानता है। जैसे आत्मा– रुप, वेदना, संज्ञा, संस्कार का समूह है उसी प्रकार वस्तु भी उसमे पाए जाने वाले गुण–लम्बाई, चौडाई, मोटाई, कठोरता, रंग आदि का समूह मात्र है। उन क्षणों के अतिरिक्त वस्तु भय की कोई चीज नहीं।

१२ अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति– बोधिसत्व प्राणियों के निर्वाण के लिए प्रयत्न करते समय कभी भी थकावट और निराशा का अनुभव नहीं करता भले ही उसे कितना ही कष्ट सहना पडे और अनन्तकाल तक प्रतीक्षा करना पड़े।

१३ उपाय कौशल्य– बोधिसत्व का लक्ष्य प्राणियों को भवदुःख से छुटकारा देकर निर्वाण के शाश्वत आनन्द की अनुभूति करना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह असंख्य उपायों को काम में लाता है। वह प्रत्येक व्यक्ति को निर्वाण की प्राप्ति हेतु उसी ढंग से शिक्षा देता है जो उसकी परिणिति और बौद्धिक क्षमता के सर्वथा अनुकूल है।

१४. बृहत्तर क्रिया और अद्भुत सामर्थ्य– बुद्धत्व की अवस्था प्राप्त करने पर बोधिसत्व ब्राह्मण की दशों दिशायें प्रत्येक स्थल पर अपने को प्रकट कर सकता है और भ्रान्तियो को अमृत का आनन्द प्राप्त करा सकता है।[4]

१५. त्रिकाय आदि ब्रह्म की व्याख्या– हीनयान में बुद्ध तक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं वे कपिल वस्तु के राजा शुद्धोधन के पुत्र हैं। किन्तु महायान में बुद्ध हिन्दू धर्म के ही भगवान की भाँति एक तात्विक और आध्यात्मिक सत्ता हैं। संसार में अब तक असंख्य बुद्ध हो चुके हैं और होंगे। शाक्यमुनि उन्हीं में से एक हैं। परमतत्व धर्मकाय का आदि बुद्ध है। वही प्राणियों के उद्धार के लिए बुद्ध के रूप में अवतार लेता है और अवतार के पूर्व हिन्दूधर्म के विष्णु के बैकुण्ठ धाम की भाँति तुषित लोक में विहार करता है। धर्मकाय के इन रूपों को क्रमशः निर्माणकाय और संभोग काय कहते हैं।

१६. सामान्य व्यक्ति की स्थिति– हीनयान में गृहस्थ और भिक्षु में काफी अन्तर है किन्तु महायान में यह अन्तर काफी कम हो गया है।

१७. निर्वाण के अर्थ में भेद– हीनयान के अनुसार यह शान्ति या पूर्ण विनाश की अवस्था है। यह एक गुण है जिसकी अष्टांग मार्ग द्वारा प्राप्ति होती है। महायान (माध्यमिक) के अनुसार संसार और निर्वाण में तनिक भी भेद नहीं है। प्रज्ञापारमिता की आराधना कर हम संसार और निर्वाण की एकरूपता का साक्षात्कार कर सकते है।[५]

१८. कर्म तथा परिवर्तन का सिद्धान्त– हीनयान में प्रत्येक व्यक्ति को अपने शुभ और अशुभ कर्मो का फल अवश्य भोगना पड़ता है। उससे उसे कोई बचा नहीं सकता। किन्तु महायान में बुद्ध करुणा करके दुःखी व्यक्ति को अपने कर्मो का फल प्रदान कर उसे बचा सकते हैं।[६]

१६. प्रतीत्यसमुत्पाद– हीनयान में प्रतीत्यसमुत्पाद मात्र कारणता का सिद्धान्त है जो दो घटनाओं के कारणकार्य सम्बन्ध की व्याख्या करता है किन्तु महायान में यह सर्वोच्च तात्विक सत्ता और सद्धर्म का पर्यायरोपण है। यहॉ यह शून्यता, तथता और बुद्धता का पयार्य है और जो हमे जानता है वही धर्म को जानता है।

हीनयान और महायान में पर्याप्त अन्तर प्रदर्शन के बाद अब यह देखना है कि उनमे किन बातों पर समरुता है। दोनों का उत्स ब्रह्म की मूल शिक्षाए हैं– और महायान का विकास हीनयान से ही शनैः शनैः हुआ है अतः उनमें समानता भी अवश्यमेव होनी चाहिए।

उनमें निम्नलिखित सिद्धान्तों में समानता है–

१. हीनयान और महायान दोनों ही सम्प्रदाय राग, द्वेष और मोह से छुटकारा पाने पर बल देते हैं।

२. दोनों ही सम्प्रदाय यह मानते हैं कि संसार अनादि और अनन्त है (अनमत्तगो अयं ससारो)।

३. दोनों ही सम्प्रदाय चार आर्य सत्य (दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध और दुःख निरोध मार्ग) में विश्वास करते हैं।

४ दोनों ही सम्प्रदाय संसार के प्राणियों और वस्तुओं को अनित्य, क्षणिकप्रवाहशील अनात्म (धर्म स्कन्ध मात्र और धर्मी से रहित) मानते हैं।

५ दोनों ही सम्प्रदाय प्रतीत्यसमुत्पाद में विश्वास करते हैं किन्तु उनकी व्याख्याएं भिन्न–भिन्न हैं।

६. संसार के सभी प्राणी और पदार्थ जो हेतुप्रत्ययजन्य हैं उनके उद्भव और विनाश दोनों की ही व्याख्या महाश्रमण भगवान् बुद्ध ने की है।[७]

७. नागार्जुन अपनी माध्यमिक कारिका[८] में प्रतीत्यसमुत्पाद परमार्थ सत्य और बुद्ध को पर्यायवाची मानते हैं। उनके अनुसार जो व्यक्ति प्रतीत्यसमुत्पाद को भली भॉति जानता है वह धर्म को भी जानता है और जो धर्म को जानता है वह बुद्ध को भी जानता है।

हीनयान एवं महायान दर्शन के सम्बन्ध के विवेचन के उपरान्त अब हम महायान विशेष रूप से योगाचार विज्ञानवाद के दार्शनिकों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं–

(१) अश्वघोष

अश्वघोष के जीवन के सम्बन्ध में विस्तृत सामग्री उपलब्ध नहीं है। उनके ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि वे अयोध्या के निवासी थे और ब्राह्मण कुल में जन्म लिए थे। उनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी[९] था और उन्हे आर्य भदन्त भी कहा जाता था। वे सम्राट कनिष्क के गुरू थे। अतः वे प्रथम शताब्दी ईसवी मे विद्यमान थे। वे बचपन में अल्हड़ थे[१०] किन्तु बाद में बौद्ध धर्म में दीक्षिप्त हो गए और वेदशास्त्र, रामायण, महाभारत एवं अन्य दर्शनों का गहन अध्ययन किया। उन्होंने बौद्ध धर्म का प्रचार करते हुए सुदूर देशों की यात्रा की। कनिष्क के काल में आयोजित चतुर्थ बौद्ध धर्म सगीति के वे संचालक और कार्याध्यक्ष चुने गए थे। उनके ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुॅचते हैं कि वे एक उच्चकोटि के कवि, दार्शनिक, आचार्य, संन्यासी, वैयाकरण, वाग्मी व धर्म प्रचारक थे। निम्नलिखित ग्रन्थ उनकी महत्वपूर्ण रचनायें हैं–

१. महायान श्रद्धोत्पाद

२. बुद्धचरित

३. सौंदरनंद

४ शारिपुत्र प्रकरण और

५. अभिधर्म की विभाषा पर की गयी टीका।

१. महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र में शून्यवाद और योगाचार विज्ञानवाद दोनों ही सम्प्रदायों के मूलभूत सिद्धान्त मिलते हैं।

२. बुद्धचरित में बुद्ध के जीवन और सिद्धान्तों का निरूपण है। इसमें २८ सर्ग हैं।

३. सौंदरनंद में १८ सर्ग हैं। इस ग्रन्थ में बुद्ध के सौतेले भाई नन्द और उसकी पत्नी सुन्दरी के प्रेमपूर्ण जीवन और उनके बौद्ध धर्म में दीक्षित होने का वर्णन है। महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री ने इसे नेपाल नरेश के पुस्तकालय से जीर्णशीर्ण अवस्था में प्राप्त कर १९१० ई० में इसे सम्पादित कर, प्रकाशित किया। १९२८ ई० में जान्सन ने इसे अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया। इसका बंगला अनुवाद लादेन ने और हिन्दी अनुवाद सूर्य नारायण चौधरी ने १९४८ ई० में प्रकाशित किया।

४. शारिपुत्र प्रकरण में बुद्ध के महायान शिष्य शारिपुत्र का वर्णन है जो युवावस्था में दिवगंत हो गए थे।

५. अभिधर्म विभाषा में योगाचार विज्ञानवाद का मण्डन किया गया है।

नागार्जुन

नागार्जुन का जन्म विदर्भ (बरार) के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वह एक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। जिन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थों का और बौद्ध ग्रन्थों का भी गम्भीर अध्ययन किया। उन्होंने श्रीपर्वत (नागार्जुनकोण्डा, गुण्टूर, आन्ध्र प्रदेश) को अपना निवास–स्थान बनाया। जो उनके व्यक्तित्व और चमत्कारी गुणों के कारण उनके जीवनकाल में ही सिद्धपीठ बन गया। वे दर्शनशास्त्र के अतिरिक्त वैद्यक एवं रसायनशास्त्र के भी आचार्य माने जाते हैं। उनका अष्टांगहृदय अब भी तिब्बत के वैद्यों की सबसे प्रमाणिक पुस्तक है। वे आन्ध्र राजा गौतमी पुत्र के समकालीन थे (१६६–१९६ ई०), ऐसा अधिकांश इतिहासकारों का मत है। उन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की।

(१) माध्यमिककारिका (२) युक्तिषष्ठिका (३) प्रमाणविध्वंसन (४) विग्रहव्यावर्तनी[११] (५) उपायकौशल्य (६) वैपुल्यसूत्रप्रकरण।

इसमें केवल माध्यमिककारिका एवं विग्रहव्यावर्तनी ही मूल संस्कृत में उपलब्ध है। नागार्जुन ने 'विग्रहव्यावर्तनी' में अपने विरोधी दार्शनिकों के तर्कों का खण्डन करके 'वस्तु–शून्यता' (वस्तुओं के भीतर कोई स्थिर तत्त्व नहीं, वह विच्छिन्न प्रवाहमात्र है) सिद्ध करते है। आचार्य नागार्जुन 'माध्यमिक सम्प्रदाय' के संस्थापक आचार्य थे। उनके अनुसार न वाह्य प्रमेय अर्थसत् है और न प्रमाणसत् है। वे प्रमाण का खण्डन कर प्रमेय का भी खण्डन कर देते हैं तथा शून्य तत्व को सिद्ध करते हैं। प्रामाण्य विचार के सन्दर्भ में उनकी शून्यता का अर्थ है– वह प्रज्ञा जो किसी सत्य को पूर्णरूप से सत्य नहीं मानती।[१२]

अपने ग्रन्थ माध्यमिककारिका की ७१वीं कारिका में शून्यता का माहात्म्य बतलाते हुए लिखते हैं–

प्रभवति च शून्यतेऽयं यस्य प्रभवन्ति तस्य सर्वार्थाः।
प्रभवति न तस्य किंचित् न भवति शून्यता यस्य।।

अर्थात् जो इस शून्यता को समझ सकता है वह सभी धर्मो को समझ सकता है, जो शून्यता को नहीं समझता वह कुछ भी नहीं समझ सकता है।

इसकी व्याख्या करते हुए पुनः कहते हैं कि जो शून्यता को समझता है, वह प्रतीत्यसमुत्पाद को समझ सकता है। प्रतीत्यसमुत्पाद समझने वाला चारों आर्य सत्यों को समझ सकता है। चारों सत्यों के समझने पर उसे निर्वाण (तृष्णा निरोध) आदि पदार्थों की प्राप्ति. हो सकती है।[१३] प्रतीत्यसमुत्पाद जानने वाला जान सकता है कि क्या धर्म है, क्या धर्म का हेतु और क्या धर्म का फल है। वह जान सकता है कि अधर्म, अधर्म हेतु, अधर्मफल क्या है? क्लेश (चित्तमल), क्लेश–हेतु, क्लेशवस्तु क्या है, जिसे यह सब मालूम है, वह जान सकता है कि क्या है सुगति या दुर्गति, क्या है सुगति–दुर्गति में जाना क्या है सुगति–दुर्गति में जाने का मार्ग, क्या है सुगति–दुर्गति से निकलना तथा उसका उपाय। वे प्रतीत्यसमुत्पाद की निम्नलिखित परिभाषा करते हैं :–

अर्थ– "अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्।।" (माध्यमिककारिका)

वे शून्यता, प्रतीत्यसमुत्पाद और मध्यमा प्रतिपत् को पर्यायवाची मानते हैं। उनके अनुसार

य: प्रतीत्यसमुत्पाद: शून्यतां तां प्रचक्ष्म्हे।

सा प्रज्ञप्तिरूपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा।।

३. मैत्रेयनाथ-

मैत्रेयनाथ के विषय में यह भ्रान्त धारण थी कि वे एक काल्पनिक पुरुष थे। असंग के गुरू मैत्रेयनाथ पौराणिक मैत्रेयनाथ से भिन्न है। योगाचार दर्शन के ये ही वास्तविक संस्थापक थे। इन्होंने नागार्जुन के 'भव क्रान्ति' नामक ग्रन्थ की व्याख्या की थी। अतः इनका काल नागार्जुन के बाद सिद्ध होता है। इनके ग्रन्थों पर असंग ने टीकाएँ लिखी हैं। अतः इनका काल असंग के पूर्व सिद्ध होता है। इस प्रकार ये तीसरी या चौथी शताब्दी के मध्य में थे। मैत्रेयनाथ एवं असंग के दर्शन में पर्याप्त साम्य है अतः दर्शन के इतिहासकारों ने इन दोनों के दर्शन की तुलना सुकरात और प्लेटो के दर्शनों से की है।

मैत्रेय के प्रमुख ग्रन्थों में निम्नलिखित हैं :-

१. बोधिसत्वचर्या निर्देश
२. सप्तदश भूमिशास्त्र
३. योगाचारशास्त्र
४. अभिसमयालंकार
५. मध्यान्तविभाग शास्त्र।

मैत्रेयनाथ के दर्शन की तुलना कुछ हद तक नागार्जुन से की जा सकती है क्योंकि नागार्जुन के सदृश मैत्रेय का भी मुख्य कार्य प्रज्ञापारमिता सूत्रों के आधार पर एक दार्शनिक प्रस्थान का प्रवर्तन था। फिर भी नागार्जुन की अपेक्षा उनकी रचनाएँ योग चर्या से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है तथा निश्शेष शून्यवाद से उसमें सिद्धान्तपार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। फिर भी उन्हें माध्यमिक दर्शन से पूर्णरूप से भिन्न नहीं किया जा सकता क्योंकि महायान उत्तरतन्त्र को माध्यमिक प्रासंगिक तथा अभिसमयालंकार को योगाचार–माध्यमिक–स्वातंत्रिक कहा गया है।

४. असंग-

बुदोन के अनुसार असंग ने काश्मीर में वैभाषिक आचार्य संघभद्र से शिक्षा प्राप्त की थी। ये पेशावर के निवासी थे तथा वसुबन्धु के अग्रज थे। इन्हीं की प्रेरणा से सौत्रान्तिक दर्शनोन्मुख

आचार्य वसुबन्धु महायान की योगाचारशाखा में सम्मिलित हुए और उसको विकास की चरम परिणति पर पहुँचाया। वसुबन्धु के अनुज होने के कारण असंग को दर्शन के इतिहासकार राहुल सांकृत्यायन और बुदोन आदि चौथी सदी ईसवीं मानते हैं। यद्यपि योगाचार दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त लकावतारसूत्र, संधिनिर्मोचन सूत्र तथा अन्य वैपुल्यसूत्रों या महायान सूत्रों से मिलता है किन्तु इसको सुव्यवस्थित निकाय के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय असग को ही है और इनके दर्शन की सुव्यवस्थित अभिव्यक्ति इनके सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ योगाचारभूमि में हुई है। योगाचार दर्शन में इनका और इनके अनुज वसुबन्धु का वही स्थान है जो यूनानी दर्शन के इलियाई समुदाय में पार्मेनाइडीज और जेनों का है। बौद्ध दर्शन जगत में इन दोनों भ्राताओं का युग्म पठान वंधुओं के नाम से विख्यात है।

असंग ने बौद्ध दर्शन पर संस्कृत भाषा में अनेक ग्रन्थ लिखे किन्तु वे अपने मूलरूप में नष्ट हो चुके हैं। केवल उनके तिब्बती और चीनी अनुवाद ही उपलब्ध हैं।

असंग को वादशास्त्र (न्याय) का भी पर्याप्त ज्ञान था जिसका प्रमाण इनके ग्रन्थ योगाचार-भूमिशास्त्र से प्राप्त होता है। असंग के समय तक न्याय का विशेष विकास नहीं हुआ था। वे 'योगाचार भूमिशास्त्र' में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम ये तीन प्रमाण स्वीकार करते हैं, तथा प्रतिज्ञा, हेतु एवं दृष्टांत इन तीन को अनुमान का अवयव अङ्गीकार करते हैं[१४]।

भोट (तिब्बती) भाषा में असंग के २० से अधिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं :–

१. धर्मकायाभ्र या सामान्यगुण स्तोत्र २. प्रज्ञापारमिता साधन ३. आर्यमैत्रेय साधन।

४. आर्यसन्धि निमोर्चन भाष्य ५. बुद्धानुस्मृति वृत्ति ६. धर्मानुस्मृतिवृत्ति ७. संघानुस्मृति वृत्ति

८. महायानोत्तर तन्त्र शाखा व्याख्या ६. योगाचारभूमि शास्त्र १०. महायान संग्रह

११. अभिधर्मसमुच्चय १२. प्रकरण आर्यवाचा १३. वज्रच्छेदिका व्याख्या

असंग के महान ग्रन्थ योगाचार भूमिशास्त्र के महत्व का मूल्यांकन इस बात पर किया जा सकता है कि बौद्ध–दर्शन के कुछ इतिहासकारों के अनुसार बौद्ध दर्शन के सर्वोत्कृष्ट सम्प्रदाय विज्ञानवाद को इस ग्रन्थ के कारण ही योगाचार कहा जाता है। इस ग्रन्थ में न केवल योगाचार विज्ञानवाद के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है अपितु प्रमेय, विज्ञानवाद,

प्रतीत्यसमुत्पाद, हेतु–विद्या, परवाद खण्डन और द्रव्य परमाणु सम्बन्धी विचारों का भी वर्णन किया गया है। इस दृष्टि से यह बौद्ध विद्या का एक विश्वकोश सा प्रतीत होता है जिसमें तत्कालीन समस्त ज्ञान पिरोहित है। किन्तु जिस ढंग से इसमें सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है उसके आधार पर इसे एक सुसम्बद्ध दार्शनिक ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः यह बुद्धघोष के विशुद्विमग्ग की भाँति एक सदाचार का ग्रन्थ है जिसमें बौद्ध सदाचार, योग तथा धर्म तत्व का निरूपण हुआ है। इस ग्रन्थ में सूत्रों की भाषा शैली का इतना अधिक अनुकरण किया गया है कि कभी–कभी ऐसा प्रतीत होता है कि हम संस्कृत युग में न होकर पिटक युग में रह रहे हैं और पिटक युग की किसी रचना का संस्कृत में अनुवाद पढ़ रहे हैं। निम्न सत्रह भूमियों में यह विभक्त है–

(१) विज्ञान भूमि (२) मन भूमि (३) सवितर्क–सविचार भूमि (४) अवितर्क–अंविचार भूमि (५) अवितर्क–अविचारमात्रा भूमि (६) समाहिता भूमि (७) असमाहिता भूमि (८) सचित्तका भूमि (९) अचित्तका भूमि (१०) श्रुतमयी भूमि (११) चित्तमयी भूमि (१२) भावनामयी भूमि (१३) श्रावकमयी भूमि (१४) प्रत्येक बुद्ध भूमि (१५) बोधिसत्व भूमि (१६) सोपधिक भूमि (१७) निरुपधिकभूमि। भूमियों के अतिरिक्त योगाचार भूमि निम्नलिखित आठ भागों में विभक्त हैं :–

१. योगाचार भूमि
२. भावक भूमि
३. बोधिसत्वभूमि
४. निर्णय संग्रह
५. वस्तु संग्रह
६. विनय संग्रह
७. पर्याय संग्रह
८. विवरण संग्रह

कुछ विद्वान् उपर्युक्त आठ भूमियों को आठ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी मानते हैं किन्तु वस्तुतः वे एक ही ग्रन्थ के ८ परिच्छेद हैं।[१४]

राहुल सांकृत्यायन की दृष्टि से योगाचार भूमि शास्त्र पर प्लेटो के स्थिर विज्ञानवाद का प्रभाव है जिसे असंग ने बुद्ध के सर्व क्षणिकम् से मिश्रित करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार

जिस प्रकार भारत की मूर्तियों की गांधार शैली पर यूनानियों की शिल्प कला का प्रभाव है उसी प्रकार इस दर्शन पर भी यूनानी दर्शन का प्रभाव है क्योंकि गांधार शैली की भॉति इसका उदय भी गांधार (अफगानिस्तान) में हुआ। राहुल जी के शब्दों में इन उपर्युक्त भूमियों का अवलोकन करने के पश्चात् हमें यह मालूम होता है कि असंङ्ग, क्षणिक विज्ञानवादी थे। यह विज्ञानवाद असङ्ग के पहले भी 'लंङ्कावतारसूत्र' एवं 'संधिनिर्मोचन सूत्र ' जैसे महायान सूत्रों में मौजूद था। इन सूत्रों को· बुद्धवचन कहा जाता है। मगर अधिकांश महायान सूत्रों की भाँति यह बुद्ध के नाम पर बने पीछे के सूत्र हैं। लंङ्कावतार सूत्र का, बुद्ध ने दक्षिण में लंङ्का (सीलोन) द्वीप के समन्तकूट पर्वत पर उपदेश दिया था। बौद्धों का विज्ञानवाद बुद्ध के 'सब्बं अनिच्चं' (सब अनित्य है) या क्षणिकवाद का अफ्लातूँ के (स्थिर) विज्ञानवाद के साथ मिश्रण मात्र है और यह मिश्रण उसी गान्धार (अफगानिस्तान में) में किया गया, जहाँ यूनानियों के कला के मिश्रण द्वारा गंधार मूर्तिकला ने अवतार लिया। विज्ञानवाद विज्ञान को ही परमार्थतत्व मानता है और यह भी कि वह पाँच इन्द्रियों के पॉच विज्ञानों तथा छठे मन–विज्ञान के अतिरिक्त एक सातवें आलयविज्ञान को मानता है। यही आलय विज्ञान वह तरंगित समुद्र है, जिससे तरंगों की भाँति विश्व की सारी जड़चेतन वस्तुयें प्रकट एवं विलीन होती रहती हैं[१५]। राहुल सांकृत्यायन के उपर्युक्त विचारों से सहमत होना कठिन है। कभी–कभी वे मौलिकता की धुन में अर्थ का अनर्थ कर डालते हैं। उनकी समझ में यह बात नहीं आती कि वेद और उपनिषद् के अध्ययन का वातावरण चारों ओर व्याप्त है तो बौद्ध दार्शनिकों के चिन्तन और लेखन पर वेदों और उपनिषदों का प्रभाव अधिक पड़ेगा जिन्हें संस्कृत का भलीभाँति ज्ञान है और जो पूर्वजों में विरासत के रूप में मिली है अथवा ग्रीक भाषा में लिखे प्लेटो के ग्रन्थों का प्रभाव पड़ेगा जिन पर पूर्ण अधिकार रखने वाले विद्वानों की बहुत ही कम संख्या रही होगी।

५. वसुबन्धु-

वसुबन्धु अपने शास्त्र प्रणयन, पटुता, प्रखर पाण्डित्य और शास्ता बुद्ध के सिद्धान्तों का लोक में प्रचार प्रसार करने के कारण 'द्वितीय बुद्ध' और बोधिसत्व के रूप में विख्यात हैं[१६]। इनका जन्म गांधार प्रदेश के पुरुषपुर (पेशावर) नगर में एक कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। ये तीन भाई थे। असंग इनके अग्रज थे पर विरश्चिवत्स अनुज। तारानाथ के अनुसार इनकी माता का नाम प्रकाशशीला था जो एक ब्राह्मण कन्या थीं। असंग के पिता क्षत्रिय थे किन्तु वसुबन्धु के पिता ब्राह्मण

थे। शायद पति की मृत्यु के बाद प्रकाशशीला ने किसी ब्राह्मण से विवाह कर लिया था जिनसे वसुबन्धु और विरञ्चिवत्स की उत्पत्ति हुई। दर्शन जगत् में केवल असग और वसुबन्धु की ही ख्याति है और वे पठान बन्धु के नाम से विख्यात हैं[१७]। वसुबन्धु के गुरू के विषय में विवाद है। बुदोन के अनुसार इनके गुरू संघभद्र थे जो वैभाषिक दर्शन के आचार्य थे और काश्मीर मे रहते थे। उन्हीं के सान्निध्य में रहकर वसुबन्धु ने वैभाषिक दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया था। परमार्थ के अनुसार इनके गुरू बुद्धमित्र थे और ह्वेनशांग के अनुसार परमार्थ थे। हो सकता है उन्होंने इन सभी आचार्यों से विविध विषयों का अध्ययन किया हो यही कारण है कि उनका विविध शास्त्रो पर असाधारण रूप से अधिकार है।

वसुबन्धु के विषय में ऐसा कहा जाता है कि वे ज्ञानार्जन के लिए युवावस्था मे अपनी जन्मभूमि पेशावर छोड़ अयोध्या में जाकर रहने लगे जो उस युग में विद्या का केन्द्र थी। वहीं उन्होने विविध शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया और अभिधर्मकोश आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की जिसके फलस्वरूप उनकी कीर्ति दिग्दिगन्त तक फैल गयी और अयोध्या नरेश भी विक्रमादित्य ने उन्हें राजाश्रय प्रदान किया और अपने पुत्र बालादित्य और पत्नी रानी ध्रुवा को अध्ययन के लिए उनके समीप भेजा। उसके अनन्तर उनके पुत्र बालादित्य गद्दी पर बैठे और उन्हें राजकीय सम्मान प्रदान किया। ये विक्रमादित्य गुप्त सम्राट स्कन्दगुप्त थे और बालादित्य नरसिंह गुप्त, ऐसी विद्वानों की धारणा है। यहीं ८० वर्ष की आयु में उनका देहावसान हो गया। तारानाथ के अनुसार वे जीवन के अन्तिम दिनों में नेपाल की ओर गये और वहीं सौ वर्ष की आयु में उनकी मृत्यु हो गयी। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार वे जीवन के अन्तिम दिनों में पेशावर गए और वहॉ उनकी मृत्यु हो गयी। किन्तु तारानाथ और राहुल सांकृत्यायन दोनों के ही विचार समीचीन नहीं लगते क्योंकि वसुबन्धु जैसे परम विज्ञानवादी (ब्रह्म वादी) आचार्य जिसने अपना सारा जीवन अयोध्या में राजाश्रय में विताया हो वह ८० या १०० वर्ष की आयु में पेशावर क्यों लौटेंगे। इसी प्रकार अयोध्या छोडकर नेपाल के शीतल प्रदेश में भी जाने का प्रश्न नहीं पैदा होता। अतः वे अयोध्या मे ही युवावस्था से जीवनावसान पर्यन्त रहे।

वसुबन्धु के पितृत्व और मृत्यु के समान उनका जीवनकाल भी विवादास्पद है। उनके काल के सम्बन्ध में ५ मत प्रचलित है–

(१) ताकाकुसु के अनुसार वे ४२० ई० और ५०० ई० के बीच विद्यमान थे।

(२) वोजिहात वसुबन्धु का समय ३६० ई० से ४७० ई० के बीच मानते हैं एवं असग का समय ३७५–४५० ई० के मध्य मानते हैं।

(३) सिल्वाँ लेवी के अनुसार असंग का समय पॉचवी शताब्दी का पूर्वार्ध है।

(४) पेरी के अनुसार उनका जन्म लगभग ३५० ई० में रहा होगा। फ्राउवालनर ने भी उनके मत का प्रबल रूप से समर्थन किया है।

५. विन्टर नित्ज, मैकडोनल, डॉ० विद्याभूषण, डॉ० स्मिथ, विनय तोष भट्टाचार्यादि ने उनका काल चतुर्थ शताब्दी ई० निश्चित किया है। चीनी यात्री ह्वेनसांग इनका काल ५१० ई० मानते हैं और मैक्समूलर इन्हें ६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रखते हैं।

इस विवाद के शमन के लिए कुछ लोगों ने दो वसुबन्धु के सिद्धान्त का समर्थन किया है। जिनमें से एक वे हैं जो विभाषा के आचार्य है जिन्होने अभिधर्म की रचना की और हीनयानी हैं और दूसरे वे जिन्होंने विशंतिका, त्रिंशिका और त्रिस्वभावनिर्देश आदि ग्रन्थ लिखे हैं। ये महायानी हैं।

किन्तु उपर्युक्त कल्पना निराधार है क्योंकि यह वस्तुतः वसुबन्धु के ग्रन्थों के आकार और विषय वैविध्य को देखकर की गयी है। अन्तर्साक्ष्यों और बहिर्साक्ष्यों के आधार पर यही सिद्ध होता है कि वे पाँचवी शताब्दी में विद्यमान थे।

वसुबन्धु के जीवनकाल को लेकर कई मत प्रचलित हैं :–

प्रथम– परमार्थ का मत उन्हें पॉचवी शताब्दी में मानता है।

द्वितीय मत– आचार्य कुमार जीव का है जो उन्हें चतुर्थ शताब्दी में मानता है।

तृतीय मत– गोदुन छोस् फेल (तिब्बती इतिहासकार), ह्वेनसांग और मैक्समूलर का है, जो उन्हें छठवीं शताब्दी का मानता है।

इन्हीं मतों का किंचित विवेचन आवश्यक है।

वसुबन्धु के जीवनी के लेखक परमार्थ का जन्म उज्जयिनी में ४६६–५६६ ई० के बीच में हुआ था। वे ५४६ ई० में चीन गए और ५६६ ई० में केण्टन में उनका स्वर्गवास हुआ। ताकाकुसु ने चीनी भाषा से इसका अनुवाद कर आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। परमार्थ के विवरण के अनुसार वसुबन्धु भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण से १००० वर्ष बाद उत्पन्न हुए। उनके द्वारा स्वीकृत

निर्वाण की कालगणना के आधार पर वसुबन्धु का जन्म पाँचवी शताब्दी निश्चित होता है। वसुबन्धु सम्राट विक्रमादित्य और बालादित्य के समकालीन थे और दिङ्नाग के गुरू थे। अतः इस आधार पर भी वे पॉचवी शताब्दी के प्रतीत होते हैं।

आचार्य कुमारजीव ने वसुबन्धु के अनेक ग्रन्थों का अध्ययन कर उनका चीनी भाषा में अनुवाद किया। इनका समय ३४४ ई० एवं ४१३ ई० के बीच का है। उन्होंने अपने गुरू सूर्यसोम से वसुबन्धु रचित सद्धर्मपुण्डरीकोपदेश का श्रवण किया था। वसुबन्धु कृत आर्यदेव के 'शत शास्त्र' की व्याख्या का चीनी अनुवाद ४०४ ई० में तथा उनके 'बोधिचित्तोत्पादनशास्त्र' का चीनी अनुवाद ४०५ ई० में किया था। बोधिरुचि ने वसुबन्धु के वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता शास्त्र की वजुर्षिकृत व्याख्या का चीनी अनुवाद प्रस्तुत करते हुए उसे २०० वर्ष प्राचीन कहा। इन प्रमाणों के आधार पर महायान ग्रन्थों के रचयिता वसुबन्धु का काल चौथी शताब्दी निश्चित होता है। तिब्बती परम्परा के अनुसार आचार्य वसुबन्ध बुद्ध निर्वाण से ६०० वर्ष बाद हुए थे। इसके अनुसार उनका समय चतुर्थ शताब्दी निश्चित होता है। चतुर्थ शताब्दी के इन वसुबन्धु को यशोमित्र ने कोशकार से भिन्न माना है।

वसुबन्धु के जीवनकाल के विषय में एक तीसरा मत है। बीसवीं शताब्दी के तिब्बती इतिहासकार गेदुन्छोस्–फेल के अनुसार मोटे तौर पर तिब्बत के सम्राट सोङ्चन गम्पों, भारत के सम्राट, श्रीहर्ष, आचार्य दिङ्नाग, कवि कालिदास, आचार्य दण्डी औरं मोहम्मद साहब कुछ थोड़े फर्क के साथ प्रायः समकालीन थे। चीनी यात्री ह्वेनसांग और मैक्समूलर का भी यही मत प्रतीत होता है। इस मत के आधार पर वसुबन्धु का काल छठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध प्रतीत होता है।

किन्तु परमार्थ, ह्वेनसांग, तारानाथ एवं ताकाकुसु के अन्तरंग साक्ष्य के अध्ययन के आधार पर प्रतीत होता है कि वसुबन्धु एक ही थे और उनका समय ४२० ई० से ५०० ई० के बीच है। आधुनिक विद्वानों को भी यही निष्कर्ष मान्य है।[१८]

वसुबन्धु ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। उनके ग्रन्थों की दो सूचियाँ मिलती हैं। प्रथम चीनी साहित्य में उपलब्ध है और दूसरी तिब्बती साहित्य में। दोनों की संख्या और नाम में काफी मतभेद है। यहाँ तिब्बती सूची के अनुसार वसुबन्धु के ग्रन्थों का विवेचन प्रस्तुत है :–

१. महायान सूत्रालंकार भाष्य–यह मैत्रेयनाथ कृत महायानसूत्रालंकार की टीका है।

२. धर्मधर्मता विभंग वृत्ति—यह भी मैत्रेयनाथकृत धर्मधर्मता विभंग की टीका है।

३. मध्यान्त विभंग टीका—यह भी मैत्रेयनाथ के मध्यान्त विभंग की टीका है।

४ महायान संग्रह भाष्य—यह असंग के महायान संग्रह का भाष्य है।

५. विशंतिका कारिका

६. विशंतिका वृत्ति

७. त्रिंशिका कारिका

८. कर्मसिद्धि प्रकरण—इस ग्रन्थ में आलय विज्ञान के आधार पर कर्म और कर्मफल की व्याख्या की गई है।

९. व्याख्या युक्ति

१०. व्याख्या युक्तिसूत्र खण्ड शतक

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में व्याख्या, शास्त्रार्थ और रचना आदि के नियमों का विवेचन है।

११. प्रतीत्यसमुत्पाद सूत्र टीका—इसमें प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या करते हुए आलय विज्ञान की पुष्टि की गई है।

१२. पचस्कन्ध प्रकरण

१३. त्रिरत्न स्तोत्रम्—यह रचना पद्य में है। इसमें १२ पद हैं। इसके वसुबन्धु की कृति होने में सन्देह है।

१४. आर्य षण्मुखी धारणी व्याख्या

१५. सप्तगुणपरिवर्णना—यह पद्य वद्ध रचना है। इस रचना में यह प्रदर्शित किया गया है कि दीर्घायुष्य, निरोगता, रूपसौन्दर्य, सौभाग्य, कुलीनता, धन और प्रज्ञा इन सात गुणों के होने पर लाभ और न होने पर हानि दिखाई गयी है।

१६. सम्भार परिकथा—यह भी पद्यमयी रचना है। इसमें पुण्य संभार और ज्ञानसंभार की आवश्यकता, दुर्गतियों (नरक, प्रेत एवं तिर्यक) के दुःख तथा बोधिचित्तोत्पाद द्वारा द्विविध संभारों के अर्जन की अनिवार्यता दर्शायी गयी है।

१७. शीलपरिकथा—इसमें शील के गुण-दोष का विवेचन है।

१८. पंच विधकामगुणोपलम्भनिर्देश—इस ग्रन्थ में ३४ पद हैं। इसमें हाथी, मृग आदि के द्वारा काम के पाँच गुणों का विवेचन किया गया है।

१९. बुद्धानुस्मृति टीका—यह बुद्धानुस्मृति सूत्र की विस्तृत टीका है।

२०. आर्य चतुर्धर्मक व्याख्या

२१. आर्य गया शीर्ष सूत्र टीका—'गया शीर्ष' एक सूत्र है जिस पर वसुबन्धु ने टीका लिखी है और स्थविर शाक्यमति ने इस पर वृत्ति लिखी है। बुद्ध ने इस सूत्र का उपदेश आर्यमञ्जुश्री को दिया था। इसमें बोधिसत्वों की चर्या, संवृति एवं परमार्थ आदि सत्यों का विवेचन है।

२२. आर्य भद्रचर्या प्राणिधान टीका— 'भद्रचर्या प्रणिधान' एक महत्वपूर्ण सूत्र है। इसमें बुद्ध और बोधसत्वों के गुण, चरित्र और स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ पर यह अत्यन्त प्रामाणिक टीका है।

२३. एक गाथाभाष्य—यह एक गाथासूत्र की टीका है।

२४. अभिधर्मकोश कारिका

२५. अभिधर्मकोश भाष्य

२६. त्रिस्वभाव निर्देश—तारानाथ के अनुसार यह ग्रन्थ असंग का है। किन्तु आजकल तिब्बती और संस्कृत में जो भी त्रिस्भाव मिलता है उसकी भूमिका में 'कृतिरियमाचार्य वसुबन्धु पादानाम्' लिखा है और शैली भी असंग से भिन्न है अतः यह वसुबन्धु का ग्रन्थ है।

२७. सप्तगुण वर्णना कथा—यह पद्यमयी रचना है जिनमें २० पद हैं। ऊपर वर्णित सप्तगुण-परिवर्णना और ये ग्रन्थ विषय की दृष्टि से हैं किन्तु विषय निरूपण में यह भिन्न है।

२८. गाथा संग्रह शास्त्र—यह विभिन्न विषयों से संबंधित फुटकर गाथाओं का संग्रह है।

२९. परमार्थसप्तति

३०. वज्रच्छेदिका सूत्र शास्त्र

३१. सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र टीका,

३२. दशभूमिकसूत्र शास्त्र

राहुल सांकृत्यायन के अनुसार उपर्युक्त चारों ग्रन्थ भी वसबुन्धु द्वारा लिखे गए हैं। राहुल जी ने वसुबन्धु के ग्रन्थों की जो सूची प्राप्त की है, उसमें अनेक नए ग्रन्थ वसुबन्धु प्रणीत दिखाए गए हैं पर उपर्युक्त अनेक ग्रन्थ उनकी सूची में नहीं हैं।

जैसा कि ऊपर की सूची से स्पष्ट है वसुबन्धु ने अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की किन्तु उनमें दो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं :--

१. अभिधर्मकोश एवं उसकी टीका--अभिधर्मकोश भाष्य और

२. विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि (विंशतिकात्रिंशिका प्रकरण द्वय)।

अभिधर्मकोश एवं उसके भाष्य की रचना उन्होंने उस समय की जब वे वैभाषिक थे। उन्होंने काश्मीर में सर्वास्तिवादी वैभाषिक आचार्य संघभद्र से विद्याध्ययन कर इस ग्रन्थ की रचना की।[१९] वस्तुतः यह सर्वास्तिवाद दर्शन का विश्वकोश है। सर्वास्तिवाद के अभिधर्मपिटक और उसकी विभाषा टीका के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना की गयी थी। इस ग्रन्थ के फलस्वरूप वसुबन्धु की कीर्ति दिग्दिगंतर में फैल गयी। इसका पठन--पाठन आज भी बौद्ध देशों और सम्प्रदायों में बड़े सम्मान के साथ हो रहा है। बौद्ध धर्म के विरोधी आचार्यों ने भी इसके महत्व को स्वीकारा है। बाणभट्ट ने तो यहाँ तक लिखा है कि शाक्यभिक्षु दिवाकर मिश्र के आश्रम में सुग्गे भी कोश का उपदेश देते थे।[२०] वसुबन्धु के गुरू आचार्य संघभद्र ने इस ग्रन्थ का खण्डन करने के लिए 'न्यायानुसार' नामक ग्रन्थ की रचना की। अभिधर्मकोश पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं किन्तु अपने मूलरूप में यशोमित्र की स्फुटार्था व्याख्या ही उपलब्ध है। आचार्य दिङ्नांग, स्थिरमति और गुणमति ने भी मर्मप्रदीप, तत्वार्थ टीका एवं लक्षणानुसार आदि का सृजन किया।

अभिधर्मकोश और विशेष कर उसके भाष्य में वसुबन्धु का सौत्रान्तिक मत की ओर झुकाव प्रतीत होता है। अतः इसके खण्डन के लिए संघभद्र ने 'न्यायानुसार' लिखा और यह प्रदर्शित किया कि वसुबन्धु कहाँ--कहाँ वैभाषिक मत से दूर हट गये हैं। उन्होंने वसुबन्धु को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा भी किन्तु वृद्धावस्था के कारण वसुबन्धु ने उनकी चुनौती को स्वीकार नहीं किया।

विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि- वसुबन्धु अपने इस ग्रन्थ के आधार पर योगाचार विज्ञानवाद के सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठापक के रूप में प्रसिद्ध हैं। यद्यपि मैत्रेयनाथ और वसुबन्धु के अग्रज असंग योगाचार

के प्रतिष्ठापक माने जाते हैं किन्तु उनका दर्शन नागार्जुन के शून्यवाद के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं हैं। वे नागार्जुन के शून्यवाद से भयभीत से लगते हैं और स्थान-स्थान पर अपने चित्त को शून्यता भी कह देते हैं साथ ही अपने विज्ञानवाद की स्थापना में तर्क और बुद्धिवाद के स्थान पर रहस्यवाद और समाधि का सहारा लेते हैं। वसुबन्धु को यह गौरव प्राप्त है। उन्होंने तर्क और युक्तियों के आधार पर विज्ञानवाद की स्थापना की और नागार्जुन और उनकी परम्परा के दार्शनिकों को ललकार कर कहा कि विज्ञान शून्य का भी आधार है। विंशतिका पर वसुबन्धु ने स्वयं 'वृत्ति' नामक टीका लिखी। त्रिंशिका पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी जिनमें स्थिरमति की 'भाष्य' नामक टीका अपने मूलरूप में विद्यमान है। ह्वेनशांग ने त्रिंशिका पर 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिशास्त्र' नामक टीका चीनी भाषा में लिखी। फ्रेंच विद्वान् पुंसे ने इसका फ्रेंच अनुवाद प्रस्तुत किया। इस ग्रन्थ में त्रिंशिका के समस्त टीकाकारों का मत तथा धर्मपाल की टीका भी समाविष्ट है। राहुल जी ने इस टीका के कुछ अंश का संस्कृत रूपान्तर किया है जो "बिहार एवं उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी" के जरनल के १६वें एवं २०वें खण्ड में छपा है।[२१]

वसुबन्धु के चार विख्यात शिष्य थे–स्थिरमति, विमुक्तसेन, गुणप्रभ तथा दिङ्नाग। स्थिरमति ने 'अभिधर्मकोश' पर भाष्य लिखा। विमुक्तसेन प्रज्ञापारमिता में पण्डित थे। ये पहले कौरुकुल्लक सम्प्रदाय के थे तथा आचार्य बुद्धदास के भतीजे थे। उनकी 'अभिसमयालंकार' पर व्याख्या प्रसिद्ध है। आचार्य गुणप्रभ विनय के विद्वान थे तथा इनका जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इन्हें मूलसर्वास्तिवाद के विनय का ज्ञान था।

१. स्थिरमति-

बौद्ध दर्शन के इतिहास में स्थिरमति वसुबन्धु के प्रामाणिक भाष्यकार के रूप में जाने जाते हैं। इनका जन्म पॉचवी शताब्दी में दण्डाकरण्य के एक व्यापारी परिवार में हुआ था। कुछ विद्वान इनका जन्म मध्य भारत के एक ब्राह्मण परिवार में मानते हैं। वे सात वर्ष की अवस्था में ही वसुबन्धु के पास पहुंच गए थे, ऐसी मान्यता प्रचलित है। इतिहासकार तारानाथ के अनुसार तारादेवी उनकी इष्ट थीं। स्थिरमति ने वसुबन्धु की त्रिंशिका कारिका और अभिधर्मकोश पर भाष्य लिखा है। साथ ही आर्य रत्नकूट और मूल माध्यमिक कारिका पर भी भाष्य लिखे हैं। इस आधार पर तारानाथ और अन्य इतिहासकार दो स्थिरमति की कल्पना करते हें और त्रिंशिका तथा अभिधर्मकोश के

भाष्यकार स्थिरमति को रत्नकूट तथा मूलमाध्यमिक कारिका के स्थिरमति से भिन्न मानते हैं। इनकी निम्नलिखित रचनाएँ हैं :–

१. आर्यमहारत्नकूटधर्मयथार्थशतसाहस्रिका परिवर्त–काश्यप परिवर्त टीका। यह महारत्न कूट टीका है। इसका उल्लेख तारानाथ ने किया है। यह बहुत ही विस्तृत एवं स्थूलकाय ग्रन्थ है।
२. सूत्रालंङ्कार वृत्ति भाष्य–यह वसुबन्धु की सूत्रालंङ्कार वृत्ति पर भाष्य है।
३. पञ्चस्कन्धप्रकरणवैभाष्य–यह वसुबन्धु के 'पञ्चस्कन्धप्रकरण' पर भाष्य है।
४. मध्यान्तविभंग टीका–यह मैत्रेयनाथ के 'मध्यान्तविभङ्ग' पर टीका है।
५. अभिधर्मकोश भाष्य टीका–यह अभिधर्मकोश भाष्य पर तत्वार्थ नाम की टीका है
६. त्रिंशिका भाष्य।

इनके समस्त ग्रन्थ टीका या भाष्य के रूप में ही है। इनका कोई स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इनके माध्यम से आचार्य वसुबन्धु का अभिप्राय स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ है। अभिधर्म में स्थिरमति को वसुबन्धु से भी अधिक पण्डित कहा गया है। इनकी शिष्य परम्परा में पूर्णवर्धन, जिनमित्र तथा शीलेन्द्र बोधि आदि उल्लेखनीय हैं।[२२]

२. दिङ्नाग-

दिङ्नाग (४२०–५३०) प्रारम्भ में वात्सीपुत्रीय सम्प्रदाय के आचार्य नागदत्त के शिष्य थे किन्तु कालान्तर में वसुबन्धु के सम्पर्क में आने पर उनसे अत्यधिक प्रभावित होकर उनके शिष्य बन गये। उनका विज्ञानवाद के दर्शन और तर्कशास्त्र (जिसमें ज्ञान मीमांसा भी सम्मिलित) पर समानरूप से अधिकार था। बौद्ध न्याय की प्रमाण व्यवस्था के तो वे जन्मदाता ही थे और साथ ही गौतमोत्तर न्यायशास्त्र के भी। भारतीय दर्शन के अन्य सम्प्रदायों, न्याय, मीमांसा और जैन आदि में प्रमाण मीमांसा सम्बन्धी गहन चिन्तन दिङ्नाग के बाद ही प्रारम्भ हुआ। दिङ्नाग पूर्व न्यायशास्त्र की प्रमाण मीमांसा में प्रमेय मीमांसा पर ही जोर अधिक था किन्तु उन्होंने अपने युगान्तकारी ग्रन्थ 'प्रमाणसमुच्चय' द्वारा इस धारा को बदल दिया। प्रमाण समुच्चय के अतिरिक्त दिङ्नाग के सभी ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखे गए हैं किन्तु दुर्भाग्यवश उनका कोई भी ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध नहीं है। केवल उसके चीनी अनुवाद उपलब्ध है जो ५५७ से ५६६ ई० के बीच किए गये थे। भारतीय तर्कशास्त्र के महान इतिहासकार सतीश चन्द विद्याभूषण के अनुसार तर्कशास्त्र के इतिहास को तीन

कालों में बाँटा जा सकता है। प्राचीन काल–इसके जनक महर्षि अक्षपाद गौतम थे। द्वितीय काल–इसके जनक दिङ्नाग और जैन आचार्य सिद्धसेन दिवाकर थे। अन्तिम काल–इसके जनक मिथिला निवासी गगेश उपाध्याय थे। इनकी युगान्तकारी रचना तत्व–चिन्तामणि इस काल की सर्वोत्कृष्ट रचना है।[23]

तिब्बती विद्वानों–इन्हें जम्बूद्वीप का अलंकार कहा हैं।[24] इनका जन्म कांची के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके जन्म को लेकर दार्शनिकों में मतभेद है। राहुल सांकृत्यायन ने इन्हें ४२५ ई० तथा ४८०–५४० ई० के बीच रखने का प्रयास किया है। दिङ्नाग ने न्यायभाष्य प्रशस्तपाद के सिद्धान्तों का खण्डन किया है और उनके सिद्धान्तों का खण्डन उद्योतकर ने किया है तथा उनकी समस्त रचनाओं के चीनी अनुवाद ५५७–५६६ ई० के बीच हो गए थे। इसलिए शेरवात्स्की आदि विद्वान् उनका काल पाँचवी शती का उत्तारार्द्ध मानते हैं। ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में प्रमाणव्यवस्था और अपोह द्वारा शब्द में विवक्षा का ज्ञान मानना दिङ्नाग की मौलिक देन है।

दिङ्नाग तर्कविद्या को न केवल आगम से मुक्त किया अपितु पारमार्थिक तत्वचिन्तन से भी उसे पृथक करने का प्रयास किया। उनकी दृष्टि से तर्कशास्त्र के नियम व्यवहारोपयोगी हैं तथा विभिन्न शास्त्रीय सम्प्रदायों के लिए समान हैं।

दिङ्नाग ने 'प्रमाणसमुच्चय' में सब प्रमाणों का दो में ही अन्तर्भाव प्रतिपादित किया है। दिङ्नाग बौद्ध दर्शन के किस सम्प्रदाय में आस्था रखते थे विवादास्पद है। उनकी रचनाओं में ही परस्पर विरोधी विचार दिखायी पड़ते हैं। उनके आलम्बनपरीक्षा के अवगाहन से प्रतीत होता है कि वे विज्ञानवादी थे किन्तु प्रमाणसमुच्च्य उन्हें सौत्रान्तिक दार्शनिक की कोटि में ले जाता है। उनके पश्चात् यह सिद्धान्त बौद्धों में प्रायः स्वीकृत हो गया कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान ही दो प्रमाण हैं और क्रमशः स्वलक्षण एवं सामान्य लक्षण उनके दो विषय है। वसुबन्धु ने प्रत्यक्ष का लक्षण 'ततोऽर्थादुत्पन्नं विज्ञानम्' (उस अर्थ से उत्पन्न विज्ञान) किया था। किन्तु इस लक्षण में वाह्य वस्तु की सत्ता झलकती है जो विज्ञानवाद के सर्व विज्ञान के विरुद्ध है अतः दिङ्नाग ने इसकी परिभाषा निम्नलिखित रूप में की है। उनका अपना प्रत्यक्ष–लक्षण इस प्रकार हैं–

"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्।
अभ्रान्तमपरोक्षं च प्रत्यक्षैणेव सिध्यन्ति।।"

(प्रमाणसमुच्चय)

अर्थात् प्रत्यक्ष निर्विकल्पक अथवा कल्पनारहित ज्ञान है। कल्पना नाम, जाति आदि के संयोजन को कहते हैं। यह अभ्रान्त एवं अपरोक्ष ज्ञान है।

हेतु के द्वारा अर्थ की उपलब्धि अनुमान है, जिसके तीन अवयव हैं–पक्षवाक्य, हेतुवाक्य तथा दृष्टान्तवाक्य। न्यायशास्त्र में परार्थानुमान के पाँच अवयव माने जाते हैं–प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन। दिङ्नाग ने अन्तिम दो अवयवों को अनावश्यक माना तथा उदाहरण अथवा दृष्टान्त वाक्य को व्याप्तिवाक्य में परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार दिङ्नाग ने ही अनुमान में व्याप्ति का सर्वोपरि महत्व स्पष्ट किया। पक्ष को दिङ्नाग ने प्रसिद्ध धर्मी कहा है। धर्म–विशिष्ट धर्मी साध्य है। हेतु के तीन रूप हैं–पक्षधर्मता, सपक्षवृत्ति, विपक्षव्यावृत्ति। दृष्टान्त में अन्वय अथवा व्यतिरेक से हेतु और साध्य का सम्बन्ध प्रतिपादित होता है। आगे चलकर दिङ्नाग ने वसुबन्धु के नित्य विज्ञान को बौद्ध दर्शन के 'सर्वक्षणिकम्' सिद्धान्त के अनुरूप बताते हुए स्वतन्त्र विज्ञानवाद की स्थापना की। वे व्यावहारिक जगत् में सौत्रान्तिक दर्शन का प्रतिपादन किए किन्तु तात्विकरूप में वसुबन्धु के विज्ञानवाद को ही स्वीकार किया।

३. धर्मकीर्ति-

धर्मकीर्ति (६२०–६७० ई०)–धर्मकीर्ति का जन्म चोल (उत्तर तमिल) प्रान्त के तिरुमलै नामक ग्राम में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। तिब्बती विद्वानों के अनुसार कोरूनन्द इनके पिता थे और प्रसिद्ध मीमॉसक दार्शनिक कुमारिल भट्ट इनके मामा थे। वे धर्मपाल के शिष्य बन गए जो अपने युग में एक महान् वैज्ञानिक दार्शनिक के साथ नालन्दा भिक्षु संघ के स्थविर (प्रधान) भी थे।

शेरवास्की के अनुसार धर्मकीर्ति भारतीय काण्ट थे। उनकी प्रतिभा का लोहा उनके पुराने प्रतिद्वन्द्वी भी मानते थे। उद्योतकर (५५० ई०) के 'न्यायवार्तिक' को धर्मकीर्ति ने अपने तर्कशर से इतना छिन्न–भिन्न कर दिया था कि, वाचस्पति ने उस पर टीका[२५] करके (धर्मकीर्ति के) तर्कपङ्क में मग्न उद्योतकर की अत्यन्त बूढ़ी गायों के उद्धार करने" का पुण्य प्राप्त करना चाहा। जयन्त भट्ट धर्मकीर्ति के ग्रन्थों के कड़े आलोचक होते हुए भी उनके "सुनिपुणबुद्धि" होने तथा उनके प्रयत्न को "जगदविभव धीर" माना[२६]। महाकवि एवं दार्शनिक श्रीहर्ष (११९२ ई०) ने भी धर्मकीर्ति के तर्कपथ को दुराबाध[२७] कहकर उनकी प्रतिभा का समर्थन किया।

धर्मकीर्ति की न्यायशास्त्र में अत्यधिक रूचि थी और उसे उन्होंने दिङ्नाग की शिष्य परम्परा के आचार्य ईश्वरसेन से पढ़ा। विद्या समाप्त करने के पश्चात् उन्होंने अपना जीवन ग्रन्थ लिखने, शास्त्रार्थ करने और पढ़ने में बिताया। जिनमें सात मूल ग्रन्थ एवं दो उन्हीं ग्रन्थों पर टीकाएँ हैं। ये ग्रन्थ निम्नलिखित हैं–(१) प्रमाणवार्तिक (१४५४ १/२ श्लोक, पद्य में रचित) (२) प्रमाणविनिश्चय (१३४० श्लोक, गद्य–पद्य मिश्रित) (३) न्यायबिन्दु (१७७ श्लोक, गद्य में) (४) हेतुबिन्दु (४४४ श्लोक, गद्य में रचित) (५) संबन्धपरीक्षा (२६ श्लोक, पद्य) (६) वाद–न्याय (७६८ श्लोक, गद्य–पद्य मिश्रित) (७) सन्तानान्तर–सिद्धि (७२ श्लोक, पद्य में)।

टीकाएँ हैं–(८) प्रमाण वार्त्तिक वृत्ति (३५०० श्लोक, गद्य में), यह प्रमाण वार्तिक १ परिच्छेद पर है।

(६) सम्बन्ध परीक्षा पर वृत्ति (१४७ श्लोक, गद्य में)। 'धर्मकीर्ति' ने जो भी ग्रन्थ लिखे हैं उनका सम्बन्ध बौद्ध प्रमाणमीमाँसा से है। उन्होंने नौ ग्रन्थ लिखे हैं। उसमें क्रमशः प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान परिच्छेद लिखे गए हैं, तथा प्रमाणसमुच्चय के अवशिष्ट परिच्छेदों दृष्टान्त, अपोह एवं जाति के विषय में पृथक् परिच्छेद न लिखकर धर्मकीर्ति ने यथा प्रसंग इनकी व्याख्या को चार परिच्छेदों में अन्तर्भाव कर दिया है।

धर्मकीर्तिप्रणीत प्रमाणवार्तिक उद्योतकर के न्यायवार्तिक एवं कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्तिक पर सीधा प्रहार करने के कारण यह परवर्ती उपर्युक्त ग्रन्थों में प्रमाण वार्तिक सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। मात्र यही अकेला ग्रन्थ इनकी कीर्ति को एक महान् दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठत करने के लिए पर्याप्त है। बौद्धेतर दार्शनिकों के लिए सदैव आलोच्य एवं निरास्य बना रहा।

न्यायबिन्दु के लेखक धर्मकीर्ति विज्ञानवादी दार्शनिक माने जाते हैं, किन्तु न्यायबिन्दु का अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह विशुद्ध रूप में विज्ञानवाद की रचना है। इस पर सौत्रान्तिक मत का अधिक प्रभाव है क्योंकि इसमें स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण का प्रतिपादन स्पष्ट तथा बाह्यार्थ के रूप में किया गया है।[२८]

धर्मकीर्ति के प्रमुख टीकाकारों में धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर गुप्त एवं अर्चट का स्थान सर्वोपरि है।

धर्मकीर्ति के प्रमाण ग्रन्थों के दार्शनिक पक्ष को सर्वप्रथम व्यवस्थित व तार्किक शैली में धर्मोत्तर ने प्रस्तुत किया। धर्मोत्तर को मूलतः काश्मीरी ब्राह्मण बतलाया गया है। धर्मकीर्ति के न्याय बिन्दु पर धर्मोत्तर की न्यायबिन्दु टीका का सर्वोत्तम स्थान है।

धर्मकीर्ति के अन्य टीकाकारों में अर्चट का भी महत्वपूर्ण स्थान है। अर्चट का दूसरा नाम धर्माकर दत्त है, जो उन्हें भिक्षु के रूप में प्रस्तुत करता है। हेतु बिन्दु पर अर्चट की हेतुबिन्दु–टीका बौद्ध प्रमाण–विचार के लिए वरदान सिद्ध हुयी है।

बौद्ध दर्शन का सर्वाधिक विकास महायान शाखा के योगाचार सम्प्रदाय में हुआ। एक मात्र विज्ञान को ही सत् मानने के कारण इस सम्प्रदाय को 'विज्ञानवाद' की भी संज्ञा दी गयी है। वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि समस्त उच्चकोटि के दार्शनिक इसी सम्प्रदाय में हुए। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुचेंगे कि बौद्ध न्याय विशुद्ध रूप में विज्ञानवाद की देन नहीं है। अतः शेरवात्स्की दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि को विशुद्ध रूप में विज्ञानवादी नहीं मानते। इन दार्शनिकों पर सौत्रान्तिक दर्शन का भी स्पष्ट प्रभाव दीख पडता है। अत वे उन्हें सौत्रान्तिक विज्ञानवादी कहते हैं और उनके दर्शन को स्वतन्त्र विज्ञानवाद।

४. विनीत देव-

विनीत देव के जीवन के विषय में प्रामाणिक रूप में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इतिहासकार तारानाथ को भी उनके विषय में सही जानकारी नहीं है। उनके विषय में केवल इतना ही ज्ञात है कि वे ७०० ई० में चन्द्रवंशी अन्तिम सम्राट ललित चन्द्र के समय में नालन्दा में विद्यमान थे। वे धर्मकीर्ति के भाष्यकार के रूप में विख्यात हैं। वे धर्मकीर्ति के सप्तप्रमाण शास्त्रों जिनमें न्याय बिन्दु भी सम्मिलित हैं, टीकाएँ लिखीं। विनीत देव की निम्नलिखित कृतियाँ हैं :–

१. विंशिका प्रकरण टीका
२. त्रिंशिका प्रकरण टीका
३. विनय विभंग पद व्याख्या
४. विनयस्तोत्र पद व्याख्या
५. त्रिशतक कारिका व्याख्या
६. समयभेदोपरचनचक्रनिकायभेदोपदेशसंग्रह

७. सन्तानन्तर सिद्ध टीका

८. न्याय बिन्दु टीका

६. हेतु बिन्दु टीका

१०. सम्बन्ध परीक्षा टीका

११. वाद न्याय परीक्षा टीका

१२ आलय परीक्षा टीका।

आचार्य विनीत देव की उपर्युक्त रचनाओं से योगाचार दर्शन एवं प्रामाण्यशास्त्र का अभिप्राय अधिक स्पष्ट हुआ। इनके सारे ग्रन्थ प्रायः टीका के रूप में उपलब्ध हैं। इनका कोई स्वतन्त्र या मौलिक ग्रन्थ था या नहीं था, ज्ञात नहीं है।[२६]

संदर्भ

१. आर्या सुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतस्य भिक्षोराचार्यस्य भदन्तअश्वघोषस्य महाकावेर्महौवादिनः कृतिरियम। बुद्ध चरित्र, सौन्दरानन्द एवं शारिपुत्रप्रकरण का ग्रन्थान्त वाक्य।

२. अहो धताश्चर्यमिद विमुक्तये करोति रागी यदयं कयामिति सौन्दर्यानन्द १८–५८।

३. रामशंकर त्रिपाठी, 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि', पृ० १०८

४ जरनल ऑफ द बिहार एण्ड उडीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना, वोल० २३।

५ इपिस्टेमोलोजीकैली इम्पटीनेस इज प्रज्ञा ऐन, अटैच्ड इनसाइट दैट नो ट्रूथ इज एबसुटली टू, नागार्जुनाज ट्वेल गेट ट्रेटाइस, पेज, १४।

६. ऐक्टा ओरिण्टेलिया १६३१ पृष्ठ ८३।

७ प्री–दिड्नाग टेक्स्टस, इन्ट्रोडक्शन, पेज १६ (४) विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि पेज १००।

८. रामशकर त्रिपाठी, कृत 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' पर टीका, पृ० १२०

६. दी हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक पेज, २६५।

१०. दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ५०८।

११. विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि, पृ० १००।

१२. विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि, ६४।

१३. उस समय पठान जाति कायम थी और वे सभी हिन्दू थे किन्तु आज सभी पठान मुसलमान हैं। इस शताब्दी के भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में दो पठान बन्धुओं का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है वे हैं– डॉ० खान और गफ्फार खाँ (सीमान्त गाँधी)। संयोग से वे भी पेशावर के ही हैं। स्वभाव के कारण ये दोनों बन्धु हिन्दू ही हैं किन्तु धर्म से मुसलमान हैं।

१४. विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि–डॉ० रमा शंकर त्रिपाठी, पृ० ६६।

१५ काश्मीर वैभाषिक नीतिसिद्धः प्रायोममाय कथितोऽभिधर्मः।
यद् दुर्गृहीत तदिहास्मदागः सद्धर्मनीतौ मुनयः प्रमाणम्। कोश ८.४० पृष्ठ ४५६।

१६. त्रिशरणपरै. परमोपासकैः थुकैरपि शाक्यशासनकुशलैः कोश समुपदिशद्भिः धर्म चरित्र (अष्टम् उच्छ्‌वास)।

१७. विज्ञप्तिमात्रता सिद्धिशास्त्र प्रकरण द्वयम्—पं० रामशंकर त्रिपाठी, पृ० १०३।

१८. आचार्य रमा शकर त्रिपाठी एवं युबरन—विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि पृ० १०२।

१६ एक्टा ओरण्टेलिया, १६३१, पृ० ८३।

२०. तिब्बती विद्वानो ने नागार्जुन, आर्यदेव, असग, वसुबन्धु, दिङ्‌नाग और धर्मकीर्ति इन छः भारतीय दार्शनिको को जम्बूद्वीप का अलकार माना है।

२१. डी० एन० शास्त्री क्रिटीक ऑफ इण्डियन फिलासफी, पेज १.ए१।

२२. न्यायवार्तिक—तात्पर्यटीका, १/१/१।

२३. इतिसुनिपुणबुद्धिर्लक्षणं वक्तुकामः पदयुगलमपींडं निर्ममेनानवद्यम्।
भवतु भतिमहिम्नश्चेष्टितं दृष्टमेतज्जगदभिभवधीरं धीमतो धर्मकीर्तेः।। (न्यायमञ्जरी, पृ० १००)

२४. "दुराबाध इव चाय धर्म्मकीर्तेः पन्था इत्यवहितेन भाव्यमिहेति।"—श्रीहर्ष कृत खण्डनखण्डखाद्य १ ।

२५. तुच्चि डाक्ट्रिन्स आव मैत्रेय (नाथ) एण्ड असंग, पृ० ७—८, विण्टरनिप्ज, जि० २, पृ० ३५२—५३।

२६. यथा—(१) यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत् स्वलक्षणम्।—न्यायबिन्दु, १. १३ ।

२७. अन्यत् सामान्यलक्षणम्।—न्यायबिन्दु, १.१६।

२८. डॉ० रमाशकर त्रिपाठी विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि, पृ० १०८।

२६ विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि, डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, पृ० १०४

अध्याय ३

वसुबन्धु का हीनयान दर्शन

(सर्वास्तिवाद, वैभाषिक, सौत्रान्तिक दर्शन)

वसुवन्धु का समस्त दार्शनिक साहित्य दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

जीवन के प्रारम्भ काल में वे सौत्रान्तिक दर्शनोन्मुख वैभाषिक दार्शनिक थे। उन्होंने संघभद्र के वैभाषिक दर्शन का अध्ययन कर काश्मीर वैभाषिक सिद्धान्तों के आधार पर अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अभिधर्मकोश' लिखा था। इस ग्रन्थ में वसुबन्धु के समस्त हीनयानी दर्शन के सिद्धान्तों का सर्वांगीण विवेचन प्राप्त होता है किन्तु जीवन के उत्तरकाल में अपने अग्रज आर्य असंग से प्रभावित होकर महायान दर्शन की योगचार विज्ञानवाद शाखा में दीक्षित हो गए। उनके विषय में ऐसा कहा जाता है कि महायान की निन्दा के कारण उन्हें इतनी ग्लानि हुई कि वे असंग के पास जाकर अपनी जिह्वा काट देने की बात कही। उन्होंने कहा कि जिस जिह्वा से मैंने महायान की निन्दा की है उसे काट डालना ही उचित है। असंग ने उन्हें उद्‌बोधित कर कहा कि इस जिह्वा से अब महायान दर्शन की प्रतिष्ठा कीजिए। इस उद्‌बोधन के फलस्वरूप उन्होंने महायान दर्शन से सम्बन्धित सभी ग्रन्थ लिखे जिनमें 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' (विंशतिका कारिका, त्रिशिंका कारिका तथा त्रिस्वभाव निर्देश) अत्यन्त प्रसिद्ध है।

इस अध्याय में हम वसुबन्धु के दार्शनिक जीवन के प्रथम भाग के हीनयानी सिद्धांतों का निरूपण करेंगे। उनके इस सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति उनके सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ 'अभिधर्मकोश' में हुई है। अतः अभिकर्मकोश में निरूपित सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

वसुबन्धु के अभिधर्म–कोश के नवों कोश स्थानों मे प्रतिपादित सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है।

अभिधर्मकोश में कुल ५६४.५ कारिकाएं या श्लोक हैं जिन्हें ६ अध्यायो में विभक्त किया गया है और इन अध्यायों को 'कोशस्थान' की संज्ञा दी गयी है। प्रत्येक कोश स्थान में एक विशिष्ट विषय का प्रतिपादन किया गया है। ये नव कोश स्थान निम्नलिखित हैं[1]–

१. प्रथम कोशस्थान का नाम धातु निर्देश है। इस अध्याय में व्यक्ति (सन्तान) के निर्माण कारक घटकों (धातु आदि) के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

२. द्वितीय कोशस्थान का नाम इन्द्रिय निर्देश है। इस अध्याय में व्यक्ति के इन्द्रियों के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

३. तृतीय कोशस्थान का नाम लोक निर्देश है। इस अध्याय में ब्रह्माण्ड (अनेक लोकों) के स्वरूप का वर्णन किया गया है

४. चतुर्थ कोशस्थान का नाम कर्म निर्देश है। इस अध्याय में विविध कर्मों एवं कर्म फलों का विवेचन किया गया है।

५. पंचम कोशस्थान का नाम अनुशय निर्देश है। इस अध्याय में व्यक्ति में निहित दुर्बलताओं का विवेचन किया गया है।

६. षष्ठम् कोशस्थान का नाम आर्यपुद्गल निर्देश है। इसमें बौद्ध धर्म में प्रविष्ट आर्यजन के स्वभाव का विवेचन है जो साधना की चारों अवस्थाओं में सुव्यवस्थित है।

७. सप्तम् कोशस्थान का नाम ज्ञाननिर्देश है। इस अध्याय में ज्ञान (विद्या) के स्वरूप का विवेचन है।

८. अष्ठम् कोशस्थान का नाम समाधि निर्देश है। इस अध्याय में समाधि और आध्यात्मिक अनुभूति के स्वरूप का वर्णन है।

९. नवम् कोशस्थान का नाम पुद्गल निर्देश है। इस कोशस्थान में वात्सीपुत्रीय सम्प्रदाय की दृष्टि से व्यक्ति (सन्तान) के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

उपर्युक्त नवों स्थानों का किंचित् विशद विवेचन आवश्यक है जो निम्नलिखित है–

प्रथम कोशस्थान

(१) प्रथम कोशस्थान (धातु निर्देश) में कुल ४८ कारिकाएं हैं।[२] यह भगवान् बुद्ध की वन्दना से प्रारम्भ होता है जो इस प्रकार है।

> यः सर्वथा सर्वहतान्धकारः
> संसार पंकाज्जगदुज्जहार।
> तस्मै नमस्कृत्य यथार्थ शास्त्रे
> शास्त्रं प्रवक्ष्याम्यभिधर्मकोशम्।।१।।

जिन्होंने सर्व अन्धकार का सर्वथा विनाश किया है, जिन्होंने संसार पंक से जगत् का उद्धार किया है, उन यथार्थ शास्ता को मैं अभिधर्मकोश नामक शास्त्र के प्रवचन के पूर्व नमस्कार करता हूँ।'

भगवान बुद्ध को प्रणाम करने के अनन्तर वसुबन्धु अभिधर्म की व्याख्या दूसरे श्लोक में करते हैं। उन्होंने इसका कई अर्थों में प्रयोग किया है। उनके अनुसार अपने अनुचरों (सहज धर्म–अनास्रव पंचस्कन्धक) से युक्त अमला प्रज्ञा ही अधिधर्म है।[३] अमला प्रज्ञा अनास्रव प्रज्ञा है अर्थात् वह प्रज्ञा जो आस्रव (मल) रहित है। यह प्रज्ञा धर्मों का प्रविचय (धर्माणां प्रविचय) है। जिस प्रकार उद्यान में फूल बिखरे होते हैं और उन्हें चुनकर टोकरी में रखा जाता है उसी प्रकार इस जगत् में धर्म (सद्गुण, दुर्गुण और सत्य तत्व) विकीर्ण हैं, वे सद् और असद्, मलयुक्त और मलरहित दोनों ही है, उन्हें ज्ञानी जन चुनकर ग्रहण करते हैं। शुभ को ग्रहण करते हैं और अशुभ का परित्याग करते हैं। किन्तु शुभ और अशुभ, सास्रव और अनास्रव, समल और निर्मल का ज्ञान प्राप्त करने के लिए निर्मला प्रज्ञा की प्राप्ति आवश्यक है क्योंकि बिना इसकी प्राप्ति के धर्मों का यथार्थ चयन नही हो सकता और इसके अभाव में व्यक्ति जीवन का परमसाध्य निर्वाण नहीं प्राप्त कर सकता।[४]

(२) किन्तु अभिधर्म शब्द से केवल अनास्रव प्रज्ञा ही नहीं समझना चाहिए जो वस्तुओं (धर्मो) के स्वभाव का प्रविचय (चयन) करती है अपितु चित्त–सन्तान के उस क्षण के सब अनास्रव स्कन्धों को भी समझना चाहिए जिस क्षण में यह प्रज्ञा उत्पन्न होती हैं।[५] पुनश्च यह पारमार्थिक अभिधर्म है।[६]

(३) अमला प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए जिस प्रज्ञा और जिस शास्त्र की आवश्यकता है वह भी अभिधर्म है।

(४) व्यवहार में अभिधर्म शब्द से उस प्रज्ञा का भी बोध होता है जिससे पारमार्थिक अभिधर्म का लाभ होता है।

(५) सास्रव प्रज्ञा जो सहज (उपपत्तिप्रति लम्भिका) है या जो प्रज्ञा (श्रुतिमयी, चिन्तामयी, भावनामयी प्रज्ञा) है वह भी अपने अनुचर के साथ सांकेतिक (सांव्यावहारिक) अभिधर्म कहलाती है।[७]

(६) शास्त्र (अभिधर्मशास्त्र, अभिधर्मपिटक) भी परम्परा से अभिधर्म कहलाता है क्योंकि यह भी अनास्रव प्रज्ञा का प्रापक है। पर यह पारमार्थिक अभिधर्म में सहायक है।

(७) धर्म उसे कहते हैं जो स्वलक्षण धारण करता है। अभिधर्म को 'अभि–धर्म' इसलिए कहते हैं क्योंकि यह उस धर्म के अभिमुख है जो परमज्ञान का अर्थ है।

(८) इसे अभिधर्म इसलिए भी कहते हैं क्योंकि यह अब धर्मो में उग्र (श्रेष्ठ) निर्वाण के अभिमुख हैं।

(९) इसे अभिधर्म इसलिए भी कहते हैं क्योंकि यह धर्मों के स्वलक्षण और सामान्य लक्षण के अभिमुख हैं।[८]

अभिधर्म का अर्थ स्पष्ट करने के बाद वसुबन्धु यह निरूपण करते हैं कि प्रसत् ग्रन्थ को अभिधर्मकोश की संज्ञा दी गयी है? उन्होंने इसके कई कारण बताए हैं।

प्रथम– अभिधर्म का दस ग्रन्थ में अर्थतः अनुप्रवेश है

द्वितीय– 'अभिधर्म' इसका आश्रय है इसलिए इसे अभिधर्मकोश कहा जाता है।

तृतीय– जिस शास्त्र को अभिधर्म पिटक कहते हैं वह इस शास्त्र में (यथा प्रधान) अर्थात् मुख्य रूप से अन्तर्भूत है इसलिए इसे अभिधर्मकोश कहते हैं अर्थात् अभिधर्म का कोशस्थानीय है।

चतुर्थ– यह अभिधर्म (अभिधर्मपिटक) इस शास्त्र का आश्रयभूत है इसलिए हम कह सकते हैं कि यह शास्त्र (अभिधर्मकोश) अभिधर्म से निराकृष्ट (निकलता) है जैसे खड्ग या तलवार कोश (म्यान) से निकलती है इसलिए इस शास्त्र को अभिधर्मकोश कहते हैं अर्थात् यह वह शास्त्र है जिसका कोश (आश्रय) अभिधर्म है।[९]

प्रश्न यह उठता है कि इस ग्रन्थ के प्रणयन का उद्देश्य क्या है? क्योंकि बिना किसी प्रयोजन के मृत व्यक्ति भी कोई कार्य नहीं करता।[10]

वसुबन्धु ने इस ग्रन्थ के प्रणयन का प्रयोजन बताते हुए कहा कि 'धर्म–प्रविचय के बिना क्लोशों की शान्ति का कोई उपाय नहीं है और क्लेशों के कारण ही लोग इस संसार रूपी समुद्र (भवार्णव) में गोते लगा रहे हैं अर्थात् भ्रमित हो रहे हैं इसलिए इस धर्म प्रविचय हेतु शास्ता बुद्व ने अभिधर्म का उपदेश दिया।'[11] इसके अनंतर इस अध्याय में समस्त साम्रव, अनाम्रव, संस्कृत और असंस्कृत धर्मो का विवेचन किया गया है। यद्यपि इस अध्याय का नाम धातु निर्देश है किन्तु इसमें धर्मों का वर्गीकरण न केवल धातुओं की दृष्टि से अपितु आयतन और पंचस्कन्ध की दृष्टि से भी किया गया है। इसका विवेचन आगे किया जाएगा।

द्वितीय कोशस्थान

द्वितीय कोशस्थान का नाम 'इन्द्रिय निर्देश' है। इसमें कुल ७३ कारिकाएं हैं। इनमें १.२१ कारिकाओं मे इन्द्रिय और उसके विषयों का विवेचन किया गया है, बाईसवीं कारिका में परमाणु, तेईस से चौतीस कारिकाओं में 'चैत' पैतीस से अड़तालीस कारिकाओं में चित्तविप्रयुक्त धर्म और उन्चास से तिहत्तरवें कारिकाओं में हेतुफल का विवेचन किया गया है।[12] अभिधर्मकोश के सिद्धान्तों के सामान्य विवेचन के अध्ययन में द्वितीय कोश स्थान में निरूपित सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

तृतीय कोशस्थान

तृतीय कोशस्थान का नाम 'लोक निर्देश' है। इसमें कुल १०२ कारिकाएं (श्लोक) है। इस अध्याय में सम्पूर्ण विश्व, (जो त्रिधातुक है) उसमें रहने वाले सभी प्रकार के जीवन, नात्मा और प्रतीत्यसमुत्पाद तथा उनके प्रत्येक अंग का विस्तृत विवेचन किया गया है।

कामधातु लोक में नरक, प्रेत, तिर्यक्, मनुष्य और ६ देव निकाय (चातुमहाराजिक, त्रायस्त्रिंश, भाम, तुषित, 'निर्माणरति' और परनिर्मित वशवर्तिन्) और भाजनलोक हैं।[13]

कामधातु में नरक और द्वीपों के भेद से बीस निम्नलिखित स्थान हैं :

नरक ८ (१. संजीव २. कालसूत्र ३. संघात ४. रौरव ५. महारौरव ६. तपन ७. प्रतापन और ८. अवीचि)।

द्वीप ४ (जम्बुद्वीप, पूर्वविदेह, अवरगोदानीय और उत्तर कुरु)

देवनिकाय—६

कामधातु २०, इनके अतिरिक्त प्रेत और तिर्यक् और भाजनलोक जिसका अधर भाग वायुमण्डक है। यह काम धातु है। रूपधातु लोक में १७ स्थान है। ये स्थान कामधातु के उर्ध्व है।[१४]

किन्तु काश्मीर वैभाषिक (सर्वास्तिवादी) रूप धातु में केवल १६ स्थान मानते हैं[१५] क्योंकि इनके अनुसार प्रथम ध्यान में केवल २ स्थान हैं किन्तु सौत्रान्तिक विभाषाशास्त्र के रचयिता श्री लाभ संघभद्र का उल्लेख करते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि स्थविर १८ स्थान मानते हैं यह स्थिर मति या सारमति का मत है।[१६]

प्रश्न उठता है कि धातु क्या है?

इसके दो अर्थ किए गये हैं——

प्रथम अर्थ गोत्र है।[१७] जिस प्रकार कई पर्वत जहाँ लोहा, तांबा, चांदी और सोने आदि धातुओं के बहु गोत्र (जाति) पाए जाते हैं बहु धातुक कहलाता है उसी प्रकार एक आश्रय या सन्तान (व्यक्ति) में १८ प्रकार के गोत्र पाये जाते हैं जो १८ धातु कहलाते हैं।

अतएव गोत्र में आकार का बोध होता है।

प्रश्न उठता है कि चक्षुधातु किसका आकार है? अन्य धातु किसके आकार हैं? अभिधर्म-कोशकार के अनुसार धातु 'स्वजाति' के आकार हैं (स्वस्या जातेः), पूर्वोत्पन्न चक्षु चक्षु के पश्चिम कणों का सभाग हेतु है इसलिए पर चक्षु का आकार धातु है। संस्कृत द्रव्य ही नहीं अपितु असंस्कृत द्रव्य जो नित्य है वे भी चित्त चैत्त के आकार हैं।

एक दूसरे मत के अनुसार 'धातु' का अर्थ जाति है। १८ धातुओं से १८ पृथक् धर्मों का स्वभाव विशेष समझना चाहिए।[१८]

एक तीसरे मत के अनुसार धातु वह है जो स्वलक्षण (अर्थात् कामादि) धारण करता है।

अब धातु की व्याख्या के अनन्तर हम 'कामधातु' की व्याख्या करेंगे।

मध्यमपद का लोप करने से 'कामधातु' का अर्थ 'कामसंप्रयुक्त धातु' है। जैसे वज्रसंप्रयुक्त बालक के लिए 'वज्र बालक' अथवा 'मारिच संप्रयुक्त पानक' के लिए मारिच पानक हैं।[१६]

यही बात रूप और 'अरूप्य' पर भी लागू होती है। रूपधातु का अर्थ 'रुपसंप्रयुक्त धातु'।

'अरुप' रुपविगत विशेषण है। इससे भाववाच्य 'आरुप्य रुपकर अभाव बनता है। अरुप्य रूप का अभाव है। आरुप्य धातु का अर्थ वह लोक जो आरुप्य से संप्रयुक्त है।

यहाँ 'काम' का भी एक विशिष्ट अर्थ में प्रयोग किया गया है। यह दैनिक जीवन के काम के अर्थ से भिन्न है। यहाँ काम का अर्थ 'कामसंकल्प राग' अर्थात् काम वह जो कामना करता है 'काम्यते अनेन इति कामः'।[२०] शारिपुत्र कहते हैं इस लोक के चित्र आदि रुपादि काम नहीं है। काम पुरुष का संकल्प राग लोक धातु के रूप महत्व नहीं रखते। भिक्षु उनके प्रति सर्वकामछन्द का दमन करता है।[२१]

तृतीय कोश स्थान (लोक निर्देश) में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद का संक्षिप्त विवेचन–

प्रतीत्यसमुत्पाद

तृतीय कोशस्थान में बीसवीं कारिका से प्रारम्भ कर ४४वीं कारिका पर्यन्त प्रतीत्यसमुत्पाद का वैभाषिक दृष्टिकोण में विशद विवेचन किया गया है।

प्रतीत्यसमुत्पाद का शाब्दिक अर्थ हैं– प्रति का अर्थ है प्राप्ति। 'इ' धातु गत्यर्थक है किन्तु उपसर्ग धातु के अर्थ को विपरिणत करता है इसलिए 'प्रति–इ' का अर्थ 'प्राप्ति' है, प्रतीत्य का अर्थ 'प्राप्त कर' है, 'पर' धातु सत्तार्थक है, सम्–उत् उपसर्ग पूर्वक इसका अर्थ प्रादुर्भाव है। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ प्राप्त होकर प्रादुर्भाव है।[२२]

इस प्रतीत्यसमुत्पाद में बारह अंग होते हैं– अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरामरण। इसलिए इसे द्वादशांग या द्वादश निदान भी कहते हैं। यह भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों को आवृत करती है इसलिए इसे त्रिकाण्डक भी कहते हैं।[२३] इसमें अविद्या और संस्कार अतीत में, पूर्व भव में जाति, और जरामरण अपरभव में शेष आठ अंग प्रत्युत्पन्न भव (भविष्य) में हैं।[२४]

इस द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पाद का त्रिवर्ग में विभाजन किया गया है तीन अंग क्लेश हैं, दो कर्म हैं, सात वस्तु और फल हैं। अविद्या, तृष्णा और उपादान क्लेश स्वभाव हैं, संस्कार और भव कर्मस्वभाव है, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, जाति और जरामरण वस्त्र हैं। इनको वस्त्र इसलिए कहते हैं क्योंकि ये क्लेश और कर्म के आश्रय (अधिष्ठान) हैं, जो अंग वस्त्र हैं वे फल हैं। पॉच जो वस्त्र नहीं हैं हेतु भूत हैं क्योंकि वे कर्मक्लेश स्वभाव है।[२५]

प्रतीत्यसमुत्पाद क्लेश, कर्म और वस्त्र की व्याख्या करते हुए वसुबन्धु कहते हैं कि क्लेश बीजवत्, नागवत्, मूलवत् वृक्षवत्–तृणवत् हैं–

जिस तड़ाग (तलाब) में नाग होते हैं वह शुष्क नहीं होता। इसी प्रकार भवसागर जहाँ पर क्लेशभूत नाग होता हैं वह नहीं शुष्क होता। जिस वृक्ष का मूल नहीं काटा जाता उसमें अंकुर निकलते रहते हैं यद्यपि उसके पत्तों को पुनः पुनः तोड़ते रहते हैं। इसी प्रकार जब तक इस क्लेशभूत मूल का उद्धार नहीं होता तब तक गतियों की वृद्धि होती रहती है।

वृक्ष भिन्न काल में पुष्प और फल देता है। इसी प्रकार एक ही काल में यह क्लेश भूत वृक्ष क्लेश, कर्म और वस्त्र नहीं प्रदान करता। यदि बीज का तुष निकाल लिया गया हो तो समग्र बीज भी नहीं उगता। इसी प्रकार पुनर्भव की उत्पत्ति के लिए कर्म तूषभूत क्लेश में संप्रयोग होना अविरोधी है।[२६]

कर्म तुषि तंडुलवत्, ओषधिवत् तथा पुष्पवत् हैं।

कर्म तुष समन्वागत तडुंल के समान है। यह ओषधि के समान है जो फलविषयक होने पर नष्ट होता है। इसी प्रकार जब कर्म एक बार विपच्यमान होता है तब इसमें और विपाक नहीं होता। यह पुष्पवत है। पुष्प फलोत्पत्ति का आसन्न कारण है। इसी प्रकार यह विपाकोत्पत्ति का आसन्न कारण है।

वस्तुसिद्ध अन्न और पान के तुल्य है। सिद्ध अन्न और पान के रूप में पुनरूत्पन्न नहीं होते। उनका एक मात्र उपयोग अन्नपान में है। इसी प्रकार 'वस्तु' है जो विपाक है। विपाक से विपाकान्तर नहीं होता क्योंकि इस विकल्प में मोक्ष असंभव हो जाएगा।[२७]

प्रतीत्यसमुत्पाद का किंचित् विवेचन करने के अनन्तर उसके द्वादशांक की पृथक् व्याख्या आवश्यक है।[२८]

१. **अविद्या-** पूर्वजन्म की क्लेश दशा है। अविद्या का अर्थ केवल अविद्या या क्लेशसमुदाय (सर्वक्लेश) नहीं है अपितु पूर्वजन्म की सन्तति (स्वपंचस्कन्धों के सहित) है जो क्लेश दशा में होती है।

   वस्तुतः सब क्लेश अविद्याा के सहचारी होते हैं और अविद्यावश उनका समुदाचार होता है। जैसे राजागमन (राजा का आगमन) से न केवल राजा अपितु उनके अनुचर (अनुयायिओं) का भी बोध होता है। इसी प्रकार अविद्या से न केवल अविद्या अपितु अविद्या से युक्त पूर्व जन्म की सन्तति का भी बोध होता है।

२. **संस्कार-** पूर्वजन्म की कर्मावस्था। पूर्व जन्म की सन्तति (पंचस्कन्ध) पुण्य, अपुण्य आदि कर्म करती है। यह पूण्यादि कर्मावस्था ही संस्कार है।

३. **विज्ञान-** प्रतिसन्धि स्कन्ध है। दूसरे शब्दों में प्रतिसन्धिक्षण या उपपत्तिभव क्षण में उत्पत्ति के पूर्व माता की कुक्षि में 'पंचस्कन्ध का सूक्ष्मतमरूप'।

४. नाम**रूप-** उपपत्तिभव क्षण से लेकर षडायतन की उत्पत्ति के पूर्व तक की अवस्था नामरूप है।

५. **षडायतन-** त्रिक सन्निपात या स्पर्श के पूर्व। षडायतन पाँच स्कन्ध हैं। इन्द्रियों के प्रादुर्भाव काल से इन्द्रिय, विषय और विज्ञान के सन्निपात काल तक।

६. **स्पर्श-** सुखदुःखादि वेदना के कारण– ज्ञान की शक्ति के उत्पन्न होने से पूर्व स्पर्श है। जब तक बालक सुख दुःखादि के कारण को परिछिन्न करने में समर्थ नहीं होता कि यह सुख का कारण है तब तक की अवस्था स्पर्श कहलाती है।[२९]

७. **वेदना-** वेदना के लिए वित्ति शब्द का भी प्रयोग किया गया है। जब तक मैथुन राग–की उत्पत्ति नहीं होती तब तक की अवस्था वेदना है। दूसरे शब्दों में मैथुन–राग उत्पन्न होने की पूर्व अवस्था को वेदना कहते हैं।

८. **तृष्णा**- भोग और मैथुन की कामना करने वाले पुद्‌गल की अवस्था को तृष्णा कहते हैं। इस अवस्था में रुपादि कामगुण और मैथुन राग का समुदाचार (उत्पत्ति) होती है। इसका अन्त तब होता है जब पुद्‌गल इस राग के प्रभाव से भोगों की पर्येष्टि प्रारम्भ करता है।

६. **उपादान**- यह उस पुद्‌गल की अवस्था है जो भोगों की पर्येष्टि में दौड़ता घूमता है अथवा उस अवस्था को भी उपादान कहते हैं जब चतुर्विध क्लेश का समुदाचार (उत्पत्ति) होती है।[30]

१०. **भव**- भव का विविध अर्थ में प्रयोग हुआ है। पुद्‌गल कर्म करता है जिसका फल अतागत (भव) है। भव का अर्थ कर्म भी होता है क्योंकि उसके (कर्म के) कारण ही भव होता है (भवत्यनेन)। जिस अवस्था में पुद्‌गल कर्म करता है वह भी भव कहलाती है।

११. **जाति**- मरण (मृत्यु) के अनन्तर प्रतिसन्धिकाल के पाँच स्कन्ध जाति हैं। प्रत्युत्पन्न भव (पुनः उत्पन्न पुद्‌गल) की समीक्षायें, जिसे विज्ञान कहा जाता है, उसे ही अनागत (भावी) भव की समीक्षायें 'जाति' कहा जाता है।

१२. **जरामरण**- "जाति से वेदना" जरामरण कहलाती है। प्रत्युत्पन्न भव (उत्पन्न पुद्‌गल) के चार अंग– नामरूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना को भी जरामरण कहते हैं।[31]

अब तक प्रतीत्यसमुत्पाद का वैभाषिक दृष्टि से विवेचन किया गया है। इसका समग्र बौद्धदर्शन की दृष्टि से विवेचन 'वसुबन्धु' के सिद्धान्तों के विवेचन के अध्याय में मिल जाएगा।

चतुर्थ कोशस्थान

चतुर्थ कोशस्थान की संज्ञा कर्म निर्देश है। लोक निर्देश का विशद वर्णन के अनन्तर कोशकार यह प्रश्न करते हैं कि लोक निर्देश में वर्णित सर्वलोक और भाजनलोक की विचित्रता के लिए कौन उत्तरदायी है? और उत्तर देते हैं कि हमारे कर्म। उनके अनुसार हम जो भी दुःख या सुख भोग रहे हैं, भौतिकता अथवा आध्यात्मिकता की अनुभूति कर रहे हैं वह ईश्वर, विष्णु या शिव की कृपा, वरदान अथवा शाप के कारण नहीं अपितु हमारे शक और अक्षम कर्मो के कारण हैं। वसुबन्धु ने इस अध्याय में कर्म के स्वरूप के प्रकार उनकी उत्पत्ति, प्रहाण और सहाजोदाय का विशद् विवेचन किया है।

८. **तृष्णा-** भोग और मैथुन की कामना करने वाले पुद्गल की अवस्था को तृष्णा कहते हैं। इस अवस्था में रुपादि कामगुण और मैथुन राग का समुदाचार (उत्पत्ति) होती है। इसका अन्त तब होता है जब पुद्गल इस राग के प्रभाव से भोगों की पर्येष्टि प्रारम्भ करता है।

९. **उपादान-** यह उस पुद्गल की अवस्था है जो भोगों की पर्येष्टि में दौडता घूमता है अथवा उस अवस्था को भी उपादान कहते हैं जब चतुर्विध क्लेश का समुदाचार (उत्पत्ति) होती है।[३०]

१०. **भव-** भव का विविध अर्थ में प्रयोग हुआ है। पुद्गल कर्म करता है जिसका फल अतागत (भव) है। भव का अर्थ कर्म भी होता है क्योंकि उसके (कर्म के) कारण ही भव होता है (भवत्यनेन)। जिस अवस्था में पुद्गल कर्म करता है वह भी भव कहलाती है।

११. **जाति-** मरण (मृत्यु) के अनन्तर प्रतिसन्धिकाल के पाँच स्कन्ध जाति हैं। प्रत्युत्पन्न भव (पुनः उत्पन्न पुद्गल) की समीक्षायें, जिसे विज्ञान कहा जाता है, उसे ही अनागत (भावी) भव की समीक्षायें 'जाति' कहा जाता है।

१२. **जरामरण-** "जाति से वेदना" जरामरण कहलाती है। प्रत्युत्पन्न भव (उत्पन्न पुद्गल) के चार अंग– नामरूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना को भी जरामरण कहते हैं।[३१]

अब तक प्रतीत्यसमुत्पाद का वैभाषिक दृष्टि से विवेचन किया गया है। इसका समग्र बौद्धदर्शन की दृष्टि से विवेचन 'वसुबन्धु' के सिद्धान्तों के विवेचन के अध्याय में मिल जाएगा।

चतुर्थ कोशस्थान

चतुर्थ कोशस्थान की संज्ञा कर्म निर्देश है। लोक निर्देश का विशद वर्णन के अनन्तर कोशकार यह प्रश्न करते हैं कि लोक निर्देश में वर्णित सर्वलोक और भाजनलोक की विचित्रता के लिए कौन उत्तरदायी है? और उत्तर देते हैं कि हमारे कर्म। उनके अनुसार हम जो भी दुःख या सुख भोग रहे हैं, भौतिकता अथवा आध्यात्मिकता की अनुभूति कर रहे हैं वह ईश्वर, विष्णु या शिव की कृपा, वरदान अथवा शाप के कारण नहीं अपितु हमारे शक और अक्षम कर्मो के कारण हैं। वसुबन्धु ने इस अध्याय में कर्म के स्वरूप के प्रकार उनकी उत्पत्ति, प्रहाण और सहाजोदाय का विशद् विवेचन किया है।

कर्म का वर्गीकरण- इसका वर्गीकरण चेतना और (चेतयित्वा कर्म) में किया गया है और इस चेतयित्वा कर्म को ही 'चेतना कृत' की संज्ञा दी गयी है।[32] चेतना मानस कर्म को कहा गया है और 'चेतनाकृतकर्म' के अन्तर्गत 'कायिक और वाचिक' कर्म आते हैं। इस प्रकार कर्म तीन प्रकार के हैं– मानस कर्म, कायकर्म और वाक्कर्म।

इन कर्मो को विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति दो भागों में बांटा गया है। कायकर्म और वाक्कर्म विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति दोनों है इसलिए ये चार प्रकार के हैं– (१) काय विज्ञप्ति (२) वाग्विज्ञप्ति (३) काय अविज्ञप्ति और (४) वाग् विज्ञप्ति। उपर्युक्त वर्गीकरण को समझने के लिए विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति का विवेचन आवश्यक है–

विज्ञप्ति- वह है जो काय द्वारा या शरीर द्वारा 'चित्त' की अभिव्यक्ति को ज्ञापित करती है (विज्ञापयति)। पहली अवस्था में यह कायिक है, दूसरी अवस्था में वाचिक। कायविज्ञप्ति काय द्वारा विज्ञापन है, जिसे हम शरीर चेष्टा, निष्पाद, कार्य विस्फन्दन या कायस्फुरण कहते हैं। वाग्विज्ञप्ति वाग् द्वारा विज्ञापन (शब्द) है।[33]

अविज्ञप्ति- वह कर्म है जो दूसरे को कुछ विज्ञपित नहीं करता। यह अविज्ञप्ति रूप है किन्तु यह रूपायतन में संगृहीत नही है। यह धर्मायतन में संगृहीत है और केवल मनोविज्ञान में जानी जाती है। उदाहरण के लिए जो प्राणी दूसरे का बध करता है या जो भिक्षुव्रत का समादान (पालन) करता है वह एक चेतना के अन्त में कायिक या वाचिक विज्ञप्ति–शरीर चेष्टा करता है अथवा शब्द का उच्चारण करता है और साथ ही साथ एक कर्म भी करता है जो रूपी और महाभूतज होते हुए भी अदृश्य है जिसका उसमें अनुबन्ध रहता है जो वृद्धि को प्राप्त होता है जिसके फलस्वरूप वह प्राणी बधिक या भिक्षु बनता है। इस अदृश्य, कर्म की उत्पत्ति दृश्य या श्रोतव्य कर्मो से होती है जो विज्ञापन करते हैं। इसे अविज्ञप्ति कहते हैं। जो शरीर चेष्टा से उत्पन्न होता है उसे कायिक और जो शब्द से उत्पन्न होता है उसे वाचिक कहते हैं।[34]

पंचम् कोशस्थान

''अनुशय''

बौद्धदर्शन में लोक वैचित्र्य विविध लोकों में या व्यक्तियों में जो विविधता देखी जाती है वह कर्मो की परिणय (कर्मज) है। ये कर्म अनुशयवश उपचित (एकत्र) होते हैं। ये अनुशय भव का मूल

हैं। दूसरे शब्दों में प्राणियों, मानवों का पुनर्भव या कर्मभव अनुशयों के कारण होता है। अनुशय के स्वरूप की व्याख्या निम्नलिखित कारिका में की गयी हैं : अनुशय का अर्थ अणु, अनुशयन, अनुसंग और अनुबन्ध है। रूपहीन अपरिज्ञात अनुशय अलम्बनतः और सम्प्रयोगत. अनुशयन करता है, पुष्टि लाभ करता है। वह इसी धातु में प्रतिष्ठालाभ करता है जिसमें सत्व उत्पन्न है।[३५]

अणवोऽनुगताश्चैते द्विधा चाप्यनुशेरते।
अनुबध्नन्ति यस्माच्च तस्मादनुशयाः स्म्रताः।।

सर्वास्तिवादी दार्शनिकों के अनुसार अनुशय और क्लेश पर्यायवाची हैं किन्तु वात्सीपुत्रीय दार्शनिक इसे क्लेश की प्राप्ति मानते हैं अर्थात् क्लेश से अनुशय उत्पन्न होते हैं। किन्तु सौत्रान्तिक दार्शनिक इसे क्लेश का बीज मानते हैं। दूसरे शब्दों में अनुशय से क्लेश उत्पन्न होता है। पर प्रसप्त क्लेश है।[३६]

अनुशय छः प्रकार के हैं-

राग, प्रतिघ, मान, अविद्या, दृष्टि और विमति

रागभेद सात प्रकार के होते हैं-

काम रागानुशय, प्रतिघानुशय, भवरागानुशय, मानानुशय, अविद्यानुशय, दृष्ट्यानुशय और विचिकित्सानुशय (विमति)।[३७]

दृष्टि पाँच हैं-

सत्काय दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, अर्न्तग्राह दृष्टि, दृष्टिपरामर्श और शीव्यव्रत परामर्श।

दृष्टि के पाँच भाग करने से ६ अनुशयों के १० अनुशय होते हैं। इस दश अनुशयों के कामधातु ३६, रूपधातु ३१, आरूप्यधातु ३१, इस प्रकार इनकी संख्या ६८ है। इन अनुशयों में २६ सर्वभाग हैं ६५ असर्वभाग हैं तथा ६ पद या वह हैं।[३८]

सत्कायदृष्टि और अर्न्तग्राह दृष्टि के अतिरिक्त ८ मार्ग दर्शन हैं और ४ भावना हेय हैं जो इस प्रकार हैं—राग, प्रतिघ, अविद्या, मान।[३९]

अनुशय सत्वों को संसार में आसीन करते हैं (आसयन्ति)। ये भवाग्र से अवीचि पर्यन्त गमन करते हैं (आस्रवन्ति, गच्छन्ति)। ये छः आयतन रूपी गुण से क्षरित होते हैं अतः इन्हें आसव भी कहा जाता है। अनुशय हरण करते हैं (हरिन्त) अतः उन्हें ओध कहते हैं। अनुशय अश्लिष्ट करते हैं (श्लेसयन्ति) अतः उन्हें योग कहते हैं। अनुशय उपग्रहण करते हैं (उपादरति, उपगृह्णन्ति) अतः उन्हें उपादान कहते हैं अर्थात् अनुशयों से चित्तसन्तति विषयों में क्षरित होती है (आस्रवन्ति) अतः अनुशय आस्रव है। जिस प्रकार अत्यधिक प्रयत्न करने के बाद ही धारा के साथ बहने वाली नौका को नदी धारा के विपरीत ले जाने में सफलता मिलती है, उसी प्रकार अत्यधिक परिश्रम और अभ्यास के फलस्वरूप ही कुशलधर्मों द्वारा चित्तसन्त (मन) को विषयों से हटाया जा सकता है।

चार आर्य सत्यों में प्रथम २ दुःख समुदय से सास्रव हैं। यह अशुभ (impurities) से युक्त तथा अशुभ को बढ़ाने के आधार भी है। इसके विपरीत मार्ग सत्य (निरोध एवं निरोध मार्ग) है और दुःख निरोध का मार्ग प्रशस्त करता है। दुख, दुःखसमुदय अर्थात् सास्रव स्कन्ध तथा मार्गसत्य में क्या सम्बन्ध है? जब तक कि सास्रव का यथावत ज्ञान न हो जाए तब तक मार्ग सत्य का ज्ञान नहीं होगा। दूसरे शब्दों में जब तक राग का ठीक–ठीक ज्ञान न हो जाए तब तक उसका ठीक ठीक निदान नहीं हो सकता।[४०]

क्लेश या दुःख ही दृष्टि है और जिस उपाय से इस क्लेश का अन्त हो जाता है उसे ही मार्ग कहते हैं। मार्ग के प्रकार का विवेचन करने के पूर्व मार्ग का बौद्ध दर्शन की परिधि में अर्थ जानना आवश्यक है। मार्ग निर्वाण का पन्थ है क्योंकि यह निर्वाण को ले जाता है। इसमें निर्वाण की प्राप्ति होती है अथवा इससे निर्वाण का अन्वेषण (मार्गयत्ति) हो जाता है। मार्ग की दो अवस्थाएं है–

(१) दर्शन मार्ग (२) भावनामार्ग। दर्शन मार्ग का निरन्तर चिन्तन ही भावना है। दर्शनमार्ग सास्रव मार्ग या लौकिक मार्ग है जबकि भावना मार्ग अनास्रव है। दर्शन मार्ग में सभी दुःखों का अन्त हो जाता है। ये दुःख तीनों ही लोकों (कामधातु, रूप धातु और अरूपधातु) में पाये जाते हैं।

रूपधातु में प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चारों ध्यान पाए जाते हैं।

आरूप्य में चार विपर्यय पाए जाते हैं जो इस प्रकार हैं–

आकाशानन्तायतन, विज्ञानानन्तायतन, अकिंचनानन्तायतन, नैवसंज्ञानासंज्ञानन्तायतन या भवाग्र।

कामधातु से भवाग्र तक ६ भूमियाँ हैं जिन्हें दर्शन मार्ग से समाप्त किया जा सकता है। लौकिक या सास्रव मार्ग से आठ भूमियों को पार किया जा सकता है। ६ प्रकार के क्लेश या दु.ख हैं। वे सभी दृष्टियाँ हैं और दर्शनमार्ग द्वारा प्रहाण योग्य है।

भावनाहेय सुखों का अन्त क्रमशः नहीं होता। प्रत्येक भावनाहेय सुख का अन्त एक के बाद एक होता है।

भावनामार्ग-सास्रव और अनास्रव दो प्रकार का है। सास्रव भावनामार्ग लौकिक है। भावना और ध्यान पर्यायवाची हैं।

दर्शन मार्ग और भावना मार्ग किसी आर्य के साधनाकाल में विभिन्न भूमियों में उसकी क्षमता के अनुसार उत्पन्न होते हैं। उसकी क्षमता मृदु, मध्य या अधिमात्र हो सकती है।

साधक साधना की अवस्था में पहुँचने के पूर्व श्रुतमयी और चिन्तामयी प्रज्ञा से युक्त होना चाहिए।

श्रुतमयी प्रज्ञा की अवस्था में आर्य को वस्तुओं के वर्ग और नाम दोनों का बोध होता है।[४१]

चिन्तामयी प्रज्ञा में वस्तुओं के नाम और अर्थ दोनों का बोध होता है।[४२] कुछ हद तक इनकी तुलना अद्वैत वेदान्त के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से की जा सकती है।

भावना मार्ग का आर्य तभी अधिकारी हैं जब वह श्रुतमयी और चिन्तामयी प्रज्ञा से युक्त हो। इन दोनों का बौद्ध दर्शन की तकनीकी भाषा में 'व्यपकर्ण'[४३] कहा गया है। इस अवस्था में व्यक्ति को साधारण लोगों के सम्पक्र से दूर रहना चाहिए, एक प्रकार का निवृत्ति मार्ग का जीवनयापन करना चाहिए और वितक्र से ऊपर उठना चाहिए। उसे असन्तुष्टि और अतितृष्णा (महेच्छता) का परित्याग कर सन्तुष्टि और अल्पेच्छता का जीवन बिताना चाहिए जो स्वभावतः कुशलमूल हैं। इन कुशलमूलों की प्राप्ति तभी हो सकती है जब साधक अपने स्वभाव के अनुरूप अनापान स्मृति या अशुभ भावना का अभ्यास करे।

साधक के दो वर्ग हैं–

१. राग बहुल २. वितर्क बहुल।

रागबहुल वह व्यक्ति या साधक है जिसकी तृष्णा अनन्त (विशाल) हैं और वितक्र बहुल अपने ही अज्ञानपूर्ण विचारों में विचरण करता है। राग बहुल व्यक्ति को अपनी साधना अशुभ भावना से प्रारम्भ करनी चाहिए अर्थात् उसे शमशान में जाकर मुर्दे का चिन्तन करना चाहिए कि यह शरीर जिसके प्रति और जिसके लिए असंख्य वस्तुओं की लालसा रहती है उसका कैसा दुःखद अन्त है और उसका वास्तविक रुप क्या है। वह कुछ नहीं सिवा इसके कि उसमें हड्डी, खून और दुर्गन्ध हैं। इस प्रक्रिया को "बन्धन श्रृंखला" कहते हैं। उसके बाद उसे अपने शरीर से आरम्भ कर समुद्र की अनन्तता तक जाना चाहिए और फिर समुद्र की विशालता से लौट कर अपने शरीर की ओर आना चाहिए।[४४]

इसके विपरीत वितर्क बहुल व्यक्ति को अनापान स्मृति या प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। इन दोनों ही प्रकार के साधकों को इस अवस्था में 'आदिकर्मिक' कहा जाता है। इसका अभ्यास ध्यान, समान्तक, ध्यानान्तर और कामधातु द्वारा सर्वत्र किया जा सकता है। रूप धातु में यह अभ्यास सहज है किन्तु कर्मधातु में इसका अभ्यास अवश्यमेव प्रयत्नपूर्वक साध्य है। निरन्तर अभ्यास से व्यक्ति समाधि की अवस्था पर पहुँच जाता है और शान्त हो जाता है। इस अवस्था के बाद ही वह 'स्मृत्युपस्थान' को विकसित कर सकता है।

छठा कोशस्थान

रूप, वेदना, और अन्य इत्यादि शेष धर्मों के विश्लेषण को ही स्मृत्युपस्थान के[illegible] है। यह प्रज्ञा का पर्यायवाची है। इन धर्मों के यथार्थ स्वभाव का बोध होने पर व्यक्ति या साधक [illegible] चित्त शान्त हो जाता है। ये स्मृत्युपस्थान चार प्रकार के हैं–

१. स्वभाव स्मृत्युपस्थान– वस्तुओं के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान (कि वे क्षणिक और दुःखद है)।

२. संसर्ग स्मृत्युपस्थान– उनमें पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान।

३. आलम्बन स्मृत्युपस्थान– अनुभव की वस्तुओं के आधार, अवलम्बन या आश्रय का ज्ञान।

४. धर्म स्मृत्युपस्थान– धर्मों के स्वरूप का ग्रहण या चिन्तन।

प्रथम संस्थान (स्वभाव स्मृत्युपस्थान) जो प्रज्ञा का पर्यायवाची है की अनुकूल अवस्थाओं का विवेचन करता है। वस्तुतः यही सर्वोत्कृष्ट स्मृत्युपस्थान है और शेष तो मात्र वेरलताओं के आलम्बन से सम्बन्धित है। प्रज्ञा अपनी समस्त श्रुतमयी, चिन्तामयी और भावनामयी अवस्थाओं को समाहित करती है।

उपर्युक्त स्मृत्युपस्थानो के माध्यम से हम देह, वेदना, चित्त और धर्मो का बार–बार स्मरण कर उनके बाह्य रूप के स्थान पर उनके वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयत्न करते हैं।

शरीर के विषय में हमारी सामान्य धारणा यह है कि यह अत्यन्त पवित्र, शुद्ध और सुखद है। चित्त के विषय में हमारी यह धारणा है कि यह नित्य और शाश्वत है किन्तु काय स्मृत्युपस्थान के अभ्यास से हम इस निकर्ष पर पहुँचते हैं कि यह अत्यन्त अशुद्ध है। वेदना स्मृत्युपस्थान से यह बोध होता है कि वेदनाएं दुःखद और क्लेशकारी है। इसी प्रकार चित्त स्मृत्युपस्थान से चित्त की नित्यता के स्थान पर इसकी क्षणभंगुरता और चंचलता सिद्ध होती है और इनका शनैः–शनैः बोध हो जाने पर हम धर्म स्मृत्युपस्थान पर पहुँचते हैं और हमें यह बोध होता है कि आत्मा के विषय में अब तक पाली गयी अवस्था मिथ्या थी। आत्मा नाम की कोई कूटस्थनित्य सत्ता नहीं। धर्म स्वभावतः क्षणिक है और इनका सूक्ष्म से सूक्ष्म विभाजन संभव है। यही धर्मस्मृत्युपस्थान अन्ततोगत्वा चार आर्य सत्य–दुख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोधमार्ग का रूप धारण करता है।

सर्वदृष्टि समीक्षा

१. **दुःखदृष्टि-** दुःख की चार अवस्थाएँ हैं–दुःखत्व (क्लेश अनुशय) अनित्यत्व, शून्यत्व और अनात्मत्व (सर्व क्षणिकं क्षणिकं, दुःखं दुःखं, स्वलक्षणं, शून्यं शून्यमिति)।

प्रत्येक धर्म स्वलक्षण है क्योंकि यह क्षणिक है इसलिए आत्मा नाम का कोई स्थायी द्रव्य नहीं है किन्तु वैभाषिक मार्ग सत्य को सास्रव या दुख नहीं मानते।

२. **समुदय दृष्टि-** इसमें चार अवस्थाएं हैं– (क) समुदयत्व (संरचना) (ख) प्रभवत्व (आधिपत्य) (ग) हेतुत्व (कारणता) (घ) प्रत्यत्व (विभिन्न अवस्थाएं)।

पारिभाषिक शब्दावली में समुदयत्व प्रतीत्यसमुत्पाद का द्योतक है।

प्रभवत्व– किसी वस्तु की उत्पत्ति में कोई विशिष्ट कारण का द्योतक है।

हेतुत्व– साधारण कारण।

प्रत्ययत्व– किसी वस्तु के उत्पादन में पूर्ववर्ती और परवर्ती, अनुकूल और प्रतिकूल अवस्थाएं (समनन्तर प्रत्यय, हेतु प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय और आलम्बन प्रत्यय उपर्युक्त प्रत्यय) ब्रह्माण्ड की प्रत्येक भौतिक और मानसिक वस्तु की संरचना का विश्लेषण करते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुॅचते हैं कि संसार का न तो कोई आदि कारण (प्रथम स्रष्टा) है और न नित्य कारण है।

३. **निरोधदृष्टि-** यह चार प्रकार की है– (क) निरोधत्व (ख) शान्तत्व (ग) प्रणीतत्व (घ) निःसरणत्व।

निरोध का अर्थ सास्रव धर्मो का अन्त (रूक जाना)।

शान्तत्व का अर्थ है शान्त हो जाना।

प्रणीतत्व का अर्थ है प्रशंसनीय या आराध्य।

निःसरणत्व का अर्थ है क्लेश से मुक्त हो जाना।

४. **मार्ग दृष्टि-** यह भी चार प्रकार का है। (१) मार्ग मार्गत्व से युक्त है (२) न्यायत्व से युक्त है (३) प्रतिपत्तीत्व से युक्त है (४) नैर्वाणिकत्व से युक्त है।

मार्गत्व– आष्टांगमार्ग का द्योतक है। इसके निम्नलिखित आठ अंग हैं

(क) सम्यक् दृष्टि (ख) सम्यक् संकल्प (ग) सम्यक् वाक् (घ) सम्यक् कर्मान्त (ड) सम्यक् व्यायाम (च) सम्यक् आजीव (छ) सम्यक् स्मृति (ज) सम्यक् समाधि।

न्यायत्व– पराजय से मुक्ति[४५]

प्रतिपत्तीत्व– वासना से रहित होने की अवस्था।

नैर्वाणिकत्व– निर्वाण की ओर उन्मुख होने की अवस्था।

धर्मस्मृति प्रस्थानम् जो एक प्रकार की प्रज्ञा है, में चारों आर्य सत्य अपनी सोलहों विविधताओं के साथ एकत्र हैं। इसे बौद्ध दर्शन की भाषा में उष्मगत कहते हैं। यह कुशल से युक्त है और कुशलत्व इसका आश्रय है। सत्याभि समय अथवा सत्य मार्ग में प्रविष्ट होने का यह प्रथम सोपान है। उष्मगत मृदु, भव्य और अधिमात्र स्वभाव का है।

उष्मगत की अधिमात्र अवस्था में प्रज्ञा सुव्यवस्थित और दृढ़ होती है। यह दृढ़ प्रज्ञा ही निरोध है।

निरोध में पुनः मृदु, भव्य और अधिमात्र अवस्था है। निरोध की अधिमात्र अवस्था क्षान्ति कहलाती है। क्षान्ति भी एक प्रकार की प्रज्ञा है, जो साधक में सत्यभिसमय की ओर गमन करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। क्षान्ति भी मृदा, भव्य और अधिमात्र तीन प्रकार की है।

क्षान्ति की अधिमात्र अवस्था अधिमात्र क्षान्ति में एक ऐसी प्रज्ञा का उदय होता है जो स्वभावतः दृढ है। क्षान्ति की अवस्था में प्रवेश करने के लिए उपर्युक्त सोलह विविधताओं और चार आर्य सत्यों की संख्या शनैः शनैः कम होना चाहिए। तीनों लोकों में इस साधना की प्रक्रिया में अन्तर है। प्रथम 'आरूप्य' का परित्याग करना चाहिए। इसके बाद रूपादि प्रकट होता है और अन्ततोगत्वा कामाचार में निहित साधनाओं को छोड़ना चाहिए।[४६]

निर्वेध भागीय– उष्मगत निरोध, क्षान्ति और अणुधर्म इन चारों को बौद्ध शास्त्रों में निर्वेध भागीय कहा गया है। वेध का भाग और वध्य दोनों अर्थों में प्रयोग होता है। अतः इस शब्द से लक्ष्य 'अभिसमय' और उसके विविध विभाजनों का बोध होता है। इस प्रज्ञा का लक्ष्य दुखे धर्म ज्ञान क्षान्ति और विविध अवस्थाएं हैं, साथ ही इस अवस्था में उपर्युक्त प्रज्ञा पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो जाती है। इसे निर्वेध भागीय कहा जाता है और उष्मगत, निरोध छान्ति और अणुधर्म से 'निर्वेध भागीय' की प्राप्ति होती है। अतः ये सभी निर्वेध भागीय कही जातीं है।[४७]

निर्वेध भागीय में दर्शन मार्ग भी समाहित है और दर्शन मार्ग के विषय का आलम्बन में दुःख भी सम्मिलित है। आरूप्य लोक में दुःख निरोध हो जाता है, अतः यहाँ निर्वेध भागीय के लिए भी स्थान नही है।

वसुमित्र के अनुसार निर्वेध भागीय का केवल कामधातु में स्थान है किन्तु वसुवन्धु के अनुसार यह रूप धातु और कामधातु दोनों में पाया जाता है। निर्वेध भागीय की प्राप्ति पुरुष और स्त्री, भिक्षु और भिक्षुणी दोनों ही कर सकते हैं।

निर्वेध भागीय का वर्गीकरण दो भागों में हो सकता है–

(१) सचल– प्रथम वर्ग में उष्मगत और निरोध सम्मिलित है चूँकि ये सचल है या स्थिर है अतः इसका साक्षात्कार करने वाला साधक पृथक्जन, मार्गच्युत और पतित हो सकता है अतः यहॉ 'परिहाणि' पतन की पूरी संभावना है।

(२) अचल– इस वर्ग में क्षान्ति और अणुधर्म सम्मिलित हैं चूँकि ये दोनों अवस्थाएं अचल हैं अतः इनको प्राप्त कर साधक का पतन नहीं हो सकता। अतः यहाँ 'विहाणि' अथवा पृथक्जनत्व की समाप्ति सम्भव है।[४८]

ये अवस्थाएं उसी जन्म में अथवा पुर्नजन्म में प्राप्त की जा सकती हैं।

मोक्षभागीय– यह निर्वेध भागीय के पूर्व की अवस्था है। श्रुतमयी और चिन्तामयी प्रज्ञा तथा मोक्ष की ओर अग्रसर करने वाले शुभ कार्य मोक्षभागीय की कोटि में आते हैं। मोक्षभागीय व्यक्ति को मुक्ति पुनर्जन्म की तीन अवस्थाओं में मिलती है।

प्रथम– वह प्रथम जन्म में मोक्षभागीय की अनुभूति करता है किन्तु दूसरे जन्म में वह निर्वेध भागीय की अनुभूति करता है। इसके बाद तीसरे जन्म में वह आर्य मार्ग या दर्शन मार्ग का साक्षात्कार करता है।

अणुधर्म की अनुभूति करने वाले व्यक्ति या साधक को योगाचारी भी कहते हैं। योगाचारी दो प्रकार के हैं–

१. दृष्टिचरित २. तृष्णाचरित।

दृष्टिचरित दो प्रकार के हैं– क. आत्मदृष्टिचरित और ख. आत्मीयदृष्टिचरित।

ये दोनों ही अणुधर्म के अन्तर्गत आते हैं। आत्मदृष्टिचरित व्यक्ति दुःख सत्य के आलम्बन (विषय) को कायावचर में अनात्मत्व में परिवर्तित करता है किन्तु आत्मीयदृष्टिचरित व्यक्ति उस आलम्बन को मात्र शून्यता में परिवर्तित कर सकता है।

तृष्णाचरित व्यक्ति भी दो प्रकार के हैं– क. अस्मिमानोपहत ख. कौसीद्याधिक

अस्मिमानोपहत योगाचारी, कामावचर दुःख सत्य के विषय (आलम्बन) को अनित्यत्व में पद का मानना है। इसके विपरीत कौसीद्याधिक योगाचारी उन आलम्बनों को मात्र दुःख में बदल सकता

है। इस प्रकार अणुधर्म सदैव दर्शन मार्ग का साक्षात्कार करता है। यह अनास्रव है तथा सत्याभिसमय के रूप में जाना जाता है।

सातवाँ कोशस्थान

ज्ञान दो प्रकार का है–

सास्रव या लौकिक ज्ञान २. अनास्रव या लोकोत्तर ज्ञान।

सास्रव ज्ञान को सम्वृति या लोकसम्वृति ज्ञान कहते हैं क्योंकि यह प्रायः घट, पट, कुर्सी, मेज, भवन आदि सम्वृति सद्वस्तु के आलम्बन को ग्रहण करता है।

अनास्रव ज्ञान दो प्रकार का है–

१. धर्मज्ञान २. अन्वयज्ञान।

धर्मज्ञान वह ज्ञान है जिसके विषय कामधातु के दुःखादि है अर्थात् धर्म ज्ञान का गोचर कामधातु का दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोधमार्ग या दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपत् है। अन्वय ज्ञान का गोचर ऊर्ध्वभूमियों का दुःखादि है।

ज्ञान निर्देश या दर्शन मार्ग दो भागों में विभक्त है– १. क्षान्ति दर्शन मार्ग (आनन्तर्य मार्ग) २. दर्शन (पूर्ण) मार्ग (विमुक्तिमार्ग)।

क्षान्तिदर्शन मार्ग और दर्शनमार्ग दोनों ही प्रज्ञा हैं किन्तु क्षान्ति सविचिकित्स हैं। इस अवस्था में विचिकित्सा या संदेह बना रहता है जबकि दर्शन मार्ग निर्विचिकित्स है। इस अवस्था में विचिकित्सा या संदेह के लिए तनिक भी स्थान नहीं है।

क्षान्ति भी दो प्रकार की है– धर्मक्षान्ति तथा अन्वयक्षान्ति।

दर्शनमार्ग भी दो प्रकार का है– धर्मज्ञान तथा अन्यवज्ञान।

कामधातु के दुःख सत्य के विषयों (आलम्बनों) से जिन सविचिकित्स प्रज्ञाओं का उदय होता है उन्हें धर्मज्ञान क्षान्ति कहते हैं और जिनसे अविचिकित्स प्रज्ञाओं का उदय होता है उसे धर्मज्ञान कहते हैं।

रूप्यधातु और अरूप्यधातु में दुःखसत्य के विषयों (आलम्बनों) से जो सविचिकित्स प्रज्ञा का उदय होता है उसे अन्वय ज्ञान क्षान्ति कहते हैं। इस प्रकार निर्वेध भागीय स्तर पर दर्शन मार्ग में १५ प्रज्ञाएं होती है (दुःखधर्मज्ञानक्षान्ति से लेकर मार्गअन्वयज्ञानक्षान्ति तक)

क्षान्ति दर्शन मार्ग भी आनन्तर्य मार्ग में मार्गेय अन्वय मार्ग ज्ञान तथा तीनों धातु लोकों की समस्त क्षान्ति सम्मिलित है। आनन्तर्य में एक प्रकार की क्षमता विद्वमान् है जो क्लेशों का विनाश करती है।

दर्शनमार्ग या विमुक्तमार्ग में समस्त त्रिधातु लोकों के समग्रज्ञान (धर्मज्ञान और अन्वयज्ञान) सम्मिलित है।[४६]

आनन्तर्य मार्ग अकुशलों (अनुशयों) को जो पंचस्कन्ध में विद्यमान है, दूर करता है और विमुक्ति मार्ग बाहर से आने वाले सकुशलों (अनुशयों) को रोकता है। इसकी तुलना जैन दर्शन के संवर और निर्जरा से की जा सकती है।

कामधातु, रूपधातु और आरूप्यधातु इन तीन लोकों में क्षान्ति और ज्ञान को इस क्रम में रखा जा सकता है–

क. कामधातु में चार आर्य सत्य हैं (दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध, दुःखनिरोध मार्ग)। इन चारों में से प्रत्येक अवस्था में एक क्षान्ति और एक ज्ञान हैं। इस प्रकार कुल आठ ज्ञान हैं–

१. दुःखधर्मज्ञान क्षान्ति।

२. दुःखधर्मज्ञान।

३. दुःखसमुदयधर्मज्ञान क्षान्ति।

४. दुःखसमुदयधर्मज्ञान।

५. दुःखनिरोधधर्मज्ञान क्षान्ति।

६. दुःखनिरोधधर्मज्ञान।

७. दुःखनिरोधमार्गधर्मज्ञान क्षान्ति।

८. दुःखनिरोधमार्गज्ञान।

ख. रूपधातु तीन आरूप्यधातु दोनो में एक ही प्रकार की क्षान्ति और ज्ञान है जो इस प्रकार है–

१. दुःख अन्वयज्ञान क्षान्ति।

२. दुःख अन्वयज्ञान।

३. दुःख समुदयअन्वयज्ञान क्षान्ति।

४. दुःख समुदयअन्वयज्ञान।

५. दुःखनिरोधअन्वयज्ञान क्षान्ति।

६. दुःखनिरोधअन्वय ज्ञान।

७. दुःखनिरोधमार्गअन्वयज्ञान क्षाति एवं

८. दुःखनिरोधमार्गअन्वयज्ञान।

ये उपर्युक्त सोलह अवस्थाएं सत्याभिसमय या सत्य की अनुभूति के १६ क्षण हैं। धर्मज्ञान या प्रयोग मार्ग में साधक को इन सभी अवस्थाओं की अनुभूति होती है। ये ज्ञान पूर्ववर्ती क्षान्तियों के निष्यन्दफल हैं। ये क्षान्तियाँ परवर्ती ज्ञान की समानहेतु और समनन्तर प्रत्यय दोनों हैं। क्षान्तियों की अवस्था में विचिकित्सा (संदेह) बना रहता है किन्तु ज्ञान की अवस्था में उनका निवारण हो जाता है। इन सोलह क्षणों को अनास्रव मार्ग सत्य भी कहते हैं। इनमें प्रत्येक अवस्था क्रमशः एक दूसरे के बाद आती हैं अतः इनमें से किसी का भी अतिक्रमण नहीं हो सकता। मुमुक्षु को इन सभी की अनुभूति आवश्यक है। इस सत्य या सत्याभिसमय में तीन भाग हैं– दर्शनाभिसमय, आलाम्बनाभिसमय एवं कार्याभिसमय।

दर्शनाभिसमय में कामधातु, रूपधातु और आरूप्यधातु की सोलह अवस्थाएं सम्मिलित हैं जिनका ऊपर विवेचन हो चुका है। आलम्बनाभिसमय में सोलह अभिसमय, समस्त चित्त और चार आर्य सत्यों की प्रत्येक अवस्था में सःसम्बद्ध चित्त सम्मिलित है।

कार्याभिसमय में समस्त सोलह अवस्थाएं और चार आर्यसत्यों में से प्रत्येक से सम्बद्ध चित्त चैत्त और उनके सहयोगी और प्रत्येक से सम्बद्ध किया सम्मिलित है। उदाहरण के लिए दुःखसत्य

की क्रिया दर्शन या अनुभूति है। दुःखनिरोध की क्रिया प्रहाण, परित्याग या साक्षात्कार के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना है। दुःखनिरोध मार्ग की क्रिया भावना या समाधि है।

इस प्रकार दर्शनाभिसमय से आलम्बनाभिसमय में कार्यभिसमय की ओर अधिक क्रमशः अग्रसर होता है।

भावनामार्ग

अग्रधर्म के उपर्युक्त १५ क्षणों दुःख धर्म क्षान्ति से प्रारम्भ होकर मार्ग अन्वय ज्ञान क्षान्ति तक विश्रृंखलित हैं। ये निरन्तर एक दूसरे से सम्बद्ध नहीं है। अन्तिम सोलहवें क्षण अथवा अन्वय ज्ञान भी आनन्तर्य मार्ग से अभावना मार्ग का प्रारम्भ होता है। यह अन्वय ज्ञान कामधातु रूपधातु और आरूप्य धातु के अभिसमय के १६ दम्भों या अवस्थाओं में विकसित होता है।

द्वितीय भावना रूपारूप्यावचर (रूप धातु और आरूप्यधातु) अन्वय ज्ञान क्षान्ति की अवस्था में समाप्त हो जाएगी और अन्वय ज्ञान से प्रारम्भ होगी और वज्रोपम समाधि तक चलती रहेगी। इस प्रकार भावना मार्ग का क्षेत्र आनन्तर्य मार्ग और वज्रोपमसमाधि के बीच में है अर्थात् आनन्तर्य मार्ग से प्रारम्भ होता है और वज्रोपमसमाधि तक चलता है। इन अवस्थाओं में योगी का ध्यान अविच्छिन्न रूप से चलता है उसमें किसी प्रकार का व्यवधान (व्युत्थान) नहीं होता। इसके ऊपर की अवस्था का अशैक्षकी लोकोत्तर मार्ग कहते हैं।

इस अवस्था में आर्य पुद्गल को 'क्षयज्ञान' और 'अनुत्पाद ज्ञान' नामक दो ज्ञानों का बोध होता है।

इस अवस्था में आर्य पुद्गल को यह बोध होता है "कि दुख इत्यादि का मुझे पूर्ण रूपेण बोध हो गया है और 'जाति' का बन्धन ढीला पड़ रहा है।" अनुत्पाद का लोप ज्ञान से यह बोध होता है कि अब मुझे कुछ भी जानना शेष नहीं रहा और मेरे द्वारा समस्त अनुशयों का लोप हो गया है।[४०] दूसरे शब्दों में इन दोनों प्रकार के ज्ञान का बोध अर्हत् को शमथ और विदर्शन भावना के काव्य में होता है।

आर्य पुद्गल अनुधर्म की उपर्युक्त १५ क्षणों के साथ बढ़ता जाता है और मृदु या तीक्ष्ण इन्द्रियों के अनुसार उसकी आध्यात्मिक स्थिति का मूल्यांकन होता है वह श्रद्धानुसारी या धर्मानुसारी के रूप में जाना जाएगा।

श्रद्धानुसारी वह अर्हत् है जिसकी इन्द्रिय मृदु है और धर्मानुसारी तब है जब उसकी इन्द्रिय तीक्ष्ण होगी।

श्रोतापन्न– उपर्युक्त दोनों प्रकार के पुद्गल श्रोतापन्न कहलाएंगे यदि वे इस अवस्था तक "भावना" द्वारा अकुशल या अनुशयों को समाप्त नहीं कर दिया किन्तु इस अवस्था पर पहुँचने पर उसका पुर्नजन्म किसी अधोयोनि में नहीं होगा। श्रद्धानुसारी "श्रोतापत्तिफल प्रतिपन्तक" कहलाएगा और दूसरे लोग उसे श्रोतापत्तिफल प्राप्त कहेंगे।[51] अपने अध्यात्मिक विकास के सोपान में वह बढ जाएगा और "सकृदागामी फल प्रतिपन्तक" और "सकृदागामीफल प्राप्त" कहलाएंगा। इसके अनन्तर वह 'अनागामीफल प्रतिपन्तक' और "अनागामीफल प्राप्त" कहलाएगा। अनागामी अवस्था में आर्य पुद्गल पाँच प्रकार के होते हैं–

१. अन्तरापति निर्वायी पुद्गल– अन्तराभव अवस्था में निर्वाण प्राप्त करता है और उसका पुनर्जन्म नहीं होता।
२. उपपद्यपरिनिर्वायी पुद्गल– यह पुद्गल कामधातु में मृत्यु को प्राप्त होता है और उसका कामधातु में ही पुर्नजन्म होता है और पुर्नजन्म लेने पर उसे निर्वाण प्राप्त होता है।
३. साभिसंस्कार परि निर्वायी– कामधातु में अनागम्य प्राप्त करने के बाद पुद्गल का पुर्नजन्म नहीं होता। मृत्यु के बाद वह निर्वाण प्राप्त करेगा।
४. अनभिसंस्कार परिनिर्वायी– कामधातु में अनागम्य प्राप्त करने पर पुद्गल का कामधातु में पुर्नजन्म नहीं होगा और वह बिना प्रयास के निर्वाण प्राप्त करेगा।
५. उर्ध्व स्रोत– वह पुद्गल जो रूप और आरूप्य धातु में अनागम्य प्राप्त करता है और कामधातु में उसका पुर्नजन्म नहीं होता। वह उच्चतर उर्ध्वस्रोत दो वर्गों में विभक्त हैं–

अकनिष्ठग और भवाग्रज

अकनिष्ठग– वे पुद्गल जो अकनिष्ठ लोक में निर्वाण प्राप्त करते हैं अकनिष्ठग कहलाते है।

भवाग्रज– वे पुद्‌गल जो आरूप्य या भवाग्र की अन्तिम अवस्था में निर्वाण प्राप्त करते हैं भवाग्रज कहलाते हैं।

अष्ठम् कोशस्थान

समाधियाँ

अष्ठम् कोश स्थान में ध्यान, आरूप्य, समापति (समाहित सचित्त या अचित्त) और समाधि (मुख्य समाधि तथा शून्यता समाधि) का विवेचन किया गया है। अब हम संक्षेप में उसका वर्णन कर रहे हैं–

ध्यान चार प्रकार के है और प्रत्येक दो प्रकार और उपर्युक्त ध्यानों में प्रथम, द्वितीय और तृतीय ध्यान त्रिभूमिक है और चतुर्थ ध्यान अष्टभूमिक हैं।[52]

जिस प्रक्रिया के कारण योगी समाहित तथा उपनिधान करने में समर्थ होता है उसे ध्यान कहते हैं।[53] जिस मार्ग से ज्ञान सुखवत् निकलता है उसे ही ध्यान कहते हैं इसलिए प्रकर्षयुक्त समापत्ति ही ध्यान कहलाती है।[54]

प्रथम ध्यान सवितक्र, सविचार, विवेकज और प्रातिसुख है। दूसरे शब्दों में विचार, प्रीति, सुखवत् ऐकाग्र (एकाग्रता) ही प्रथम ध्यान है। दूसरे शब्दों में प्रीति सुखवत् विचार से युक्त प्रीति तथा सुख से युक्त अवस्था प्रथम ध्यान कहलाती है।[55] तृतीय ध्यान की अवस्था सवितर्क और सविचार से रहित (विचार वर्जित) प्रीतिसुखवत् अवस्था है।

तृतीय ध्यान की अवस्था में वितक्र, विचार और प्रीतिरहित होती है किन्तु एक प्रकार के विशेष सुख (ध्यान) से युक्त होती है। इस अवस्था में उपेक्षाभाव का उत्कर्ष होता है इसलिए इस अवस्था को 'निष्प्रीतिकम्' कहते हैं। इस अवस्था में सम्पूर्ण शरीर में एक विशेष प्रकार की शान्ति की अनुभूति होती है।[56] इस ध्यान की तुलना अद्वैतवेदान्त की सुप्राप्ति और योगदर्शन की निरूह अवस्था से की जाती है।[57]

चतुर्थ ध्यान में विचार, वितक्र प्रीति सुख में से किसी की भी अनुभूति नहीं होती है। यह पूर्ण उपेक्षा भाव की अवस्था है। दूसरे शब्दों में यह मानसिक सौमनस्य एवं दौर्मनस्य से रहित

उपेक्षा स्मृति परिशुदद्धम् अवस्था है। दूसरे शब्दों में पर पूर्ण विराम की अवस्था है। यह भी "असंज्ञिसमापत्ति" की अवस्था है।

आकासाचायतन एक ध्यान विशेष है जिसका आयतन (आलम्बन) आकाश की अनन्तता है।[५८]

आरुप्य– आरूप्य धातु लोक की समापत्तियों और उपपत्तियों को आरुप्य कहते हैं।।

आरुप्य चार प्रकार की हैं और प्रत्येक के दो भेद हैं– उपपत्ति और समापत्ति। उपपत्तियों के लिए प्रज्ञप्त शब्द का भी प्रयोग किया गया है।[५९] आरुप्य समापत्ति और समापत्ति दोनों समनानार्थक हैं। शुभ चित्तों की एकाग्रता (एकाग्र्य) को भी समापत्ति कहते हैं।

संघभद्र के अनुसार––"आरुप्य वह है जहाँ रूप का अर्थ भी अभाव है।[६०] जैसा ऊपर बताया गया है– आरुप्य चार हैं।

प्रयोग के अनुसार प्रथम तीन– आकाशान्त्य, विज्ञानानन्त्य और आकिंचन्य कहलाते हैं। ये उपर्युक्त नामों से इसलिए पुकारे जाते हैं क्योंकि प्रयोग काल में योगी चिन्तन करता है कि 'चित्त' अनन्त आकाश, अनन्त (षड्विध) विज्ञान किंचित् मात्र नहीं है।

नैवासंज्ञानासंज्ञायतन– चतुर्थ आरूप्य अपनी मन्दता के कारण नैवासंज्ञानासंज्ञायतन कहलाता है। वहॉ संज्ञा स्पष्ट या पटु नहीं है किन्तु ऐसा भी नहीं है कि वहाँ संज्ञा का सर्वथा अभाव हो।[६१]

चार ध्यान और चार आरुप्य ये आठ मौक्षसमापत्ति हैं, उसे कोशकार वसुबन्धु और ह्वेनशांग मानते हैं किन्तु पर भाष्य के अनुसार वस्त्र सत्धर्म (या द्रव्य की दृष्टि से चारध्यान समापत्ति और चार आरुप्य समापत्ति– कुल आठ मौलसमापत्ति हैं।)[६२]

उपर्युक्त चार धर्मों के अंगों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार हैं–

प्रथम ध्यान– प्रथम ध्यान जब वह युद्धक या अनास्रव होता है तो उसमें पाँच अंग– वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और चित्तैकाग्रता (समाधि) होते हैं।[६३] ध्यान और समाधि में विशेष अन्तर नहीं है क्योंकि 'सम्यग् विषय में चित्त की स्थिति' को समाधि कहते हैं।

द्वितीय ध्यान– द्वितीय में चार अंग होते हैं– प्रीतिसुख, चित्तैकाग्रता और आध्यात्म संप्रसाद।

तृतीय ध्यान– तृतीय ध्यान में पाँच अंग हैं–

(क) उपेक्षा– यह वेदनोपेक्षा भी है किन्तु संस्कारोपेक्षा है। यह प्रीति है और अनाभोग लक्षण है अर्थात् जो किसी भी विष की ओर प्रवृत्त नहीं होती। उदाहरण के लिए इस अवस्था में हम चक्षु के द्वारा किसी वस्तु को देखकर न तो उसकी ओर लालायित होते हैं और न उसके प्रति दुर्भावना युक्त होते हैं अपितु उपेक्षाभाव युक्त होते हैं यही बात कान, नासिका और अन्य ज्ञानेन्द्रियों के विषयों पर भी लागू होती है।[६४]

(ख) स्मृति– अर्थात् इस उपेक्षा के निमित्त (उद्देश्य हेतु) की दृष्टि से अलग न होने देना (उपेक्षा निमित्ता संप्रयोग)।

(ग) संप्रज्ञान– अर्थात् स्मृति सम्बन्धीज्ञान।

(घ) सुख–

(ङ) समाधि–

चतुर्थ ध्यान– इसमें चार अंग हैं–

(क) उपेक्षा परिशुद्धि

(ख) स्मृतिपरिशुद्धि

(ग) अदुःखासुखा वेदना या उपेक्षा वेदना

(घ) समाधि

प्रथम ध्यानोपत्ति में तीन वेदनाएं होती हैं– तीन विज्ञानों में चक्षु, श्रोत, काय (संप्रयुक्त सुखावेदना, मनोविज्ञानभूमिक सौमनस्य वेदना, उपेक्षा वेदना, चार विज्ञानों से चक्षु, श्रोत्र, काय, मनस संप्रयुक्त)।

द्वितीय ध्यानोपपत्ति में दो वेदनाएं होती हैं। सौमनस्य, उपेक्षा, दोनों मनोभूमिक हैं। इनसे सुख नहीं होता क्योंकि पाँच विज्ञान कायों का वहाँ अभाव है।

तृतीय ध्यानोपपत्ति में दो वेदनाएं होती हैं। सौमनस्य और उपेक्षा दोनों मनोभूमिक हैं।

चतुर्थ ध्यानोपपत्ति में केवल एक वेदना होती है, उपेक्षा वेदना।[६५]

समाधि और समापत्ति में निम्नलिखित भेद हैं–

समाधि का अर्थ क्षणिक ध्यान है। समापत्ति प्रावधिक ध्यान है। समाधि सचिन्तक है। इसमें चित्त सदा होता है। यह चित्त समाहित या व्यग्र होता है।

समापत्ति– चित्ता सहमत या अचित्तक होती है। उदाहरण के लिए असंक्षिसमापत्ति या संज्ञावेदिननिरोधसमापत्ति।

समाधि तीन प्रकार की होती है।

१. सवितक्र और सविचार समाधि

२. अवितक्र और सविचार समाधि

३. अवितक्र और अविचार समाधि।[६६]

प्रथम समाधि– प्रत्येक समाधि जो ध्यानान्तर के नीचे होती है सवितक्र सविचार समाधि कहलाती है।

द्वितीय समाधि– ध्यानान्तर अवितक्र सविचार समाधि है।

तृतीय समाधि– ध्यानान्तर ऊपर प्रत्येक समाधि अवितक्र अविचार है। द्वितीय ध्यान के सामन्तक में चतुर्थ आरुप्य तक अवितक्र अविचार समाधि है। अन्य दृष्टियों से भी समाधि का त्रिविध विभाजन किया गया है।

आनिमित्ति समाधि, शून्यता समाधि और अप्रणिहित समाधि।

(१) आनिमित्त समाधि– यह वह समाधि है जिसमें योगी निरोध का चिन्तन करता है। निर्वाण या निरोध दस निमित्तों में (क) पंच बाह्यायतन इन्द्रिय विज्ञानों के विषय रूपशब्दादि, (ख) पुरुषेन्द्रिय, स्त्रीन्द्रिय तथा (ग) तीन संस्कृत लक्षण– (जाति, स्थिति, जरामरण) से विमुक्त होने के कारण आनिमित्त कहलाती है।[६७]

(२) शून्यता समाधि– शून्य और अनात्म आकार से युक्त होने के कारण इसे शून्यता समाधि कहते हैं।

(३) अप्रणिहित समाधि– वह समाधि है जो दस आकारों (अनित्य दुःखाकार– दुख सत्य के प्रथम दो आकार और समुदय के चार आकार– जो उद्वेग उत्पन्न करते हैं और मार्ग के चार आकार) के अतिक्रम के अभिमुख है, अप्रणिहित समाधि कहलाती है।[६८]

उपर्युक्त तीन समाधियॉ पुनः दो प्रकार की हैं–

(क) लौकिक या शुद्धक

(ख) लोकोत्तर या अमल या अनास्रव

प्रथम या लौकिक समाधि ग्यारह भूमियों में होती है।

द्वितीय या लोकोत्तर समाधि उन भूमियों में होती है जहाँ मार्ग है।

उपर्युक्त तीनों आनिमित्त, शून्यता और अप्रणिहित के लोकोत्तर, अमल या अनास्रव समाधि में जब वे अनास्रव होती हैं तो विमुख मुख (मोक्ष का द्वार) कहलाती है क्योंकि वे निर्वाण के द्वार हैं। ये तीन प्रयोग इस प्रकार हैं। शून्यता विमोक्ष भाव, आनिमित्ति विमोक्ष और अप्रणिहित विमोक्षा सुख।

उपर्युक्त तीनों समाधियों के अनन्तर उन्हीं के अनुरूप तीन और समाधियाँ और आनिमित्त समाधि है क्योंकि इनका आलम्बन क्रमशः शून्यता समाधि, अप्रणहित समाधि और अनिमित्त समाधि है।[६९]

समाधि भावना

समाधि भावना जिसका आसेवन भावना बहुलीकरण करने से दृष्टि धर्म में सुख विहार की प्राप्ति होती है उसे समाधि भावना कहते हैं।[७०] यह चार प्रकार की होती है–

प्रथम समाधि भावना– प्रथम शुभ ध्यान (प्रथम शुद्धक या अनास्रव ध्यान) वह समाधि भावना है जिसका फल सुख विहार क्लेश विमुक्ति की प्रीतिसुख का संवेदन (अनुभूति) या निर्वाण का उपयोग है।

द्वितीय समाधि भावना– वह अनास्रव या शुभ ध्यान है जिसका फल ज्ञानदर्शन (मनोविज्ञानप्रयुक्त) सविकल्प प्रज्ञा का लाभ (का प्राप्ति) है।[७१] यह महाद्विव्य चक्षुरभिज्ञा है।[७२]

तृतीय समाधि भावना— इसका फल प्रज्ञा है। यह प्रज्ञा का विशेषरूप से आकृष्ट करती है। यह वह समाधि भावना (अनास्रव या शुद्धक ध्यान) है जो त्रैधातुक और अनास्रव गुणों को उत्पन्न करती है।[73]

चतुर्थ ध्यान— इस ध्यान में एक विशेष भावना उत्पन्न होती है जिसे वज्रोपम भावना कहते हैं अर्थात् इस अनास्रव या शुद्धक समाधि में एक ऐसी भावना (वज्रोपम भावना) का जन्म होता है जो सभी आश्रयों (सर्वाश्रयों) का क्षय करती हैं

अप्रमाण

अभिधर्म कोश में ध्यानों के अनन्तर अप्रमाण का विवेचन है। ध्यानों के बाद अप्रमाणों का विवेचन इसलिए है कि ध्यान प्रमाणों का अभिनिहरि या उत्पाद करते हैं, क्योंकि ध्यान और प्रमाण अन्योन्य को आकृष्ट करते हैं। इन प्रमाणों (गुणों में) अप्रमाण "विशिष्टता गुण हैं।"[74] शीलभद्र के अनुसार ये दूसरों की अर्थ चर्चा नहीं करते। ये चित्त को स्ववशित्व प्रदान करते हैं जो प्रतिहार्य और मैत्री समापन्न का सम्मुख़ी भाव कराते हैं। इन गुणों में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा चार की गणना होती है।[75] कोशकार वसुबन्धु ने इन गुणों को "अप्रमाण" की संज्ञा देने और सत्व इनके आलम्बन हैं क्योंकि ये अप्रमाण पुण्य (निष्यन्द फल) और अप्रमाणफल (विपाक फल) उत्पन्न करते हैं तथा व्यापादादि (व्यापाद, विहिंसा, अरति और कामराग) आदि के विरोधी गुण हैं। इन अप्रमाणों का स्वभाव अद्वेष, मैत्री, करुणा, सुमनस्कता, मुदिता, अलोक और उपेक्षा।[76]

विमोक्ष

ये समापत्ति के आवरणों (चित्त की अकर्मण्यता) से योगी को विमुक्त करते हैं।[77] विमोक्ष आठ प्रकार के हैं—

प्रथम विमोक्ष

इस अवस्था में "रूपी रूपाणि पश्यन्ति" इस वाक्य के कई अर्थ है जिसने रूप संज्ञा को अन्तर्हित किया है। हरिवर्मन के अनुसार वह आध्यात्मरूप की काय को अशुभवत् ग्रहण करता है।

वह बाह्य रूप को देखता रहता है। उस विमोक्ष में योगी रूप को विमल करता है। यहाँ योगी आध्यात्मरूप सञ्ज्ञी है क्योंकि उसने आध्यात्मरूप को विमल किया है।

द्वितीय विमोक्ष

यहाँ योगी अध्यात्म रूपों की संज्ञा न रखकर वह बाह्य रूपों को देखता है। ह्वेनसांग के अनुसार विमोक्ष दर्शन है क्योंकि दर्शन विमोक्ष को विपुल करता है।[७८]

तृतीय विमोक्ष

इसकी भावना केवल चतुर्थ ध्यान में होती है। स्वभावतः वह अलोक कुशल मूल है। यह कुशलभावना नहीं है। वास्तव में इसका आलम्बन शुभ है। इसका आकार भी शुभ है। ये आधारभूमि के विमुख हैं इसलिए भी इन्हें विमोक्ष कहते हैं।[७९]

विभाषा के अनुसार विमोक्ष का अर्थ निरसन–विवर्जन है। इसमें से प्रथम दो रूप लोभ चित्त का विसर्जन करते हैं। तृतीय विमोक्ष अशुभ संज्ञा का विवर्जन करता है। आरूप्य के चार विमोक्षों में से प्रत्येक अपने पूर्ववर्ती अधरभूमि के चित्त का निरसन कराता है। भदन्त के अनुसार विमोक्ष इसलिए कहते हैं क्योंकि वे अधिमोक्ष बल से प्राप्त होते हैं। पार्थ के अनुसार विमोक्ष इसलिए कहलाते हैं क्योंकि वे विवर्जन के स्थान हैं।

विमोक्ष

चार शुभ अथवा शुद्धक या अनास्रव आरूप्य हैं। आरूप्य सामन्तक समापत्ति के विमुक्त मार्ग (जिसकी संज्ञा ४ है) भी विमोक्ष कहलाते है।[८०]

निरोध समापत्ति या संज्ञावेदित निरोध समापत्ति यह आठवाँ विमोक्ष है। यह संज्ञा या वेदना से विमुख है अथवा वह सर्व संस्कृत से विमुख है। ह्वेनसांग के अनुसार यह उन सबसे विमुख है जो आलम्ब (आलम्बन युक्त) है दूसरे शब्दों में चित्त चैत्यों से अर्थात् यह चित्त चैत्तों से विमुख है।

अभिभ्वायतन

अभिभ्वायतन का कई अर्थों में प्रयोग हुआ है। जब योगी ६ आयतन (रूप, शब्दादि) का, बिना अकुशल वितक्र को उत्पन्न किए, करता है, तब ये आयतन अभिभूत होते हैं।[८१] मध्यम के

अनुसार इसका अर्थ अयनयन- -अवस्थान है, परमार्थ ने इसका अर्थ अधिपत्य प्रवेश और ह्वेनसांग ने इसका अर्थ अभि–अवस्थान किया है। इसका अर्थ अधिपति भावना, विनोदन, अयनयन और विभावन किया है। इनकी संख्या ८ है।

प्रथम दो अभिभ्यावयतन प्रथम विमोक्ष के समान तृतीय और चतुर्थ अभिभ्वायतन द्वितीय विमोक्ष के समान और अन्तिम चार तृतीय विमोक्ष के समान हैं।[८२]

ध्यान, आरूप्य, समापत्ति और समाधि का विवेचन करने के अनन्तर वसुबन्धु अभिधर्म को अपने अष्टाध्यायी अभिधर्मकोश की परिसमाप्ति की घोषणा यह कह कर करते हैं कि मैंने अपने इस अभिधर्मकोश का प्रणयन काश्मीर वैभाषिक सिद्धान्त के अनुसार किया है इसमें जो भी त्रटियाँ हुई हैं उसके लिए मैं जिम्मदार हूँ क्योंकि– अभिधर्म का विषय अत्यन्त गम्भीर है उसका सम्यक वर्णन तो मात्र शास्ता बुद्ध की कर सकते हैं।

काश्मीर वैभाषित नीतिसिद्धः प्रायो ममायं कथितोऽभिधर्मः
यह दुर्गृहीतं तदइहास्मरागः सद्धर्मनीतौ मुनयः प्रमाणम्।।[८३]

ग्रन्थ की समाप्ति पर घोषणा के साथ वे मुमुक्षु जनों को प्रमाद रहित निर्वाण की प्राप्ति के लिए अग्रसर होने के लिए सावधान भी करते हैं क्योंकि लोक के चक्षु–शास्ता की आंखे मुंद गयी हैं, साक्षिजन प्रायः विनष्ट हो चुके हैं जिन्होंने तत्वदर्शन नहीं किया है और जो निरंकुश, कुतार्किक और स्वेच्छाचारी है उन्होंने बुद्ध शासन को जर्जर कर दिया है, भवान् बुद्ध जो स्वयंभू है परमशान्ति को प्राप्त कर चुके हैं उनके शासन के धाता भी विगत (परिनिर्वृत्त) हो चुके हैं, संसार अनाथ हो चुका है। वे दोष जो गुणों के घातक हैं संप्रति यथेच्छ संचरण कर रहे हैं अतः यह देखते हुए कि मुनि प्रणीत धर्म मरणासन्न हो चुका है और दुर्गुणों का साम्राज्य स्थापित हो चुका है, मुमुक्षु जनों को आलस्य नहीं करना चाहिए। अभिभ्वायतन और विमोक्ष में भेद है।

प्रथम विमोक्ष, विमोक्ष मात्र है जबकि अभिभ्वायतन आलम्बनों (विषयों) का अभिभवन है। इस अभिभवन से यथेष्ट (पर्याप्त) अधिमोक्ष होता है और आलम्बन से समुत्थित क्लेशों (विषयों से उत्पन्न होने वाले) क्लेशों की उत्पत्ति नहीं होती।[८४]

कृत्स्नायतन

कृत्स्नायतन का विविध रूपों में अर्थ किया गया है। ये निरनतर अपने आलम्बन (विषय) को कृत्स्न (पूर्ण) रूप से व्याप्त करते हैं।[८४] परमार्थ ने इनका कभी 'सकल' (पूर्ण) के अर्थ में प्रयोग किया है और कभी 'अनन्त' के अर्थ में। विभाषा के अनुसार ये दो कारणों से 'कृत्स्नायतन' कहलाते हैं– किन्तु उनमें कोई अन्तर नहीं होता, क्योंकि वे विस्तृत हैं, एक ओर अधिमुक्त मनविकार केवल बीजादि को बिना किसी दूसरे लक्षण से मिश्रित आलम्बन बनाता है, दूसरी ओर सर्वबीजादि को आलम्बन बना विकार का विषय अनन्तलक्षण होता है। भदन्त के अनुसार उन्हें कृत्स्नायतन इसलिए कहते हैं क्योंकि उनका आलम्बन विपुल–विस्तृत है क्योंकि कोई अन्तर–विवर नहीं है। परमार्थ पृथ्वी का उदाहरण देकर समझाते हैं। वे कृत्स्न हैं क्योंकि विवर रहित पृथ्वी को 'कृत्स्न रूप से' व्याप्त करते हैं। इनकी संख्या १० है– पृथ्वी, जल, तेज, वायु, नील, पीत, लोहित, अवदान वा कृत्स्नायतन, आकाश और विज्ञान। इनमें से अन्तिम दो (आकाश और विज्ञान) को "आनन्त्यायतन" कहते हैं।[८५]

भगवत् का सद्धर्म क्या है? और कब तक रहेगा?

प्रश्न उठता है कि पंचस्कन्ध, धातु, आयतन और रूप विविध प्रकार के धर्मों का जो विवेचन समाप्त हुआ है उसका उद्देश्य क्या है?

परमार्थ के अनुसार ह्वेनसांग धर्मों के इन विविध प्रकारों का उद्देश्य सद्धर्म का विस्तार और उसकी चिरस्थिति मानते हैं बौद्ध धर्म (शास्ता का सद्धर्म) द्विविध है।[८६]

आगम और अधिगम

आगम– सूत्रपिटक, विनयपिटक और अभिधर्मग पिटक।

अधिगम– (अर्हत) इसके कई अर्थ हैं– यह बोधिपाक्षिक धर्म है। तीन यानों के आर्य इनकी भावना करते हैं। यह श्रामण्य फल है जिसका लाभ तीन यानों द्वारा होता हैं

इसे बोधिपाक्षिक इसलिए कहते हैं क्योंकि इसकी (अधिगम) व्याख्या बोधिपाक्षिक धर्म और ब्रह्मचर्य फल करते हैं। कही–कहीं इसका 'अर्थ प्रतिवेधज्ञान' और 'सप्ताभिसमय' भी है।[८८] बोधिसत्वभूमि के अनुसार ज्ञान प्रतिसरण भावनामय ज्ञान अधिमय ज्ञान हैं

संघभद्र कहते हैं कि 'अधिगम' तीन यानों का अनास्रव मार्ग है किन्तु वसुबन्धु के अनुसार यद्यपि अधिगम बोधपाक्षिक है किन्तु सभी बोधिपाक्षिक अनिवार्यतः अनास्रव नहीं है। जब तक अधिगम सद्धर्म का इस लोक में अवस्थान होता है तब तक उससे बृद्धि को प्राप्त हो और सुधृत हो आगम सद्धर्म का भी अवस्थान हो जाता है।

इस सद्धर्म का प्रचार दो प्रकार के लोको पर निर्भर—(१) वक्ता और (२) प्रतिपत्ता। धारक संसार में चिरस्थिति के लिए आगम धर्म प्रधानतः (धातर—उसके अध्ययन कर्ता) और वक्ता पर निर्भर करता है।

अधिगम की चिरस्थिति केवल प्रतिपत्ताओं पर निर्भर है किन्तु प्रतिपत्ता अधिगम के ही धारक नहीं हैं अपितु आगम धर्म भी प्रतिपत्ताओं पर आश्रित है। जब तक मनुष्य अविपरीत भाव से धर्म की प्रतिपत्ति करते हैं तब तक अधिगम का अवस्थान होता है। जब तक अधिगम का अवस्थान होता है तब तक आगम की अवस्थिति होती है।[८९] किन्तु कहीं—कहीं सद्धर्म त्रिविध माना गया है।

परिपत्तिसद्धम्म— त्रिपिटक में दिया गया बुद्ध वचन

पटिपत्तिसद्धम्म— १३ धातुगण, १४ खन्दकवत्त, ८२ महावत्त, सील, समाधि और विपस्सना (विपश्यना) अधिगम सहम, अभिनग्ग, फल और निर्वाण।[९०]

निमीलिते शास्तरि लोक चक्षुणि
क्षयं गते साक्षिजने च भूयसा।
अदृष्ट तत्वैनिर्दवग्रहैः कृतं
कुताक्रिकैः शासनामेतदाकुलम्।। कोश ८.४१।।
गतेऽथ शान्तिं परमां स्वयंभुवि
स्वयं भुवः शासन धूर्धरेसु च।
जगत्यानाथे गणधातिभिर्मतैः
निरङ्कुशैः स्वैरामहाद्य चर्यते।। वही ८.४२।।
इति कण्ठगतं प्राणं विदित्वा शासनं मुनेः।
बलकालं मलानां च न प्रमाधं मुमुक्षाभिः।। वही ८.५३।।

नवम्-कोशस्थान

(पुद्गल प्रतिरोध प्रकरण, पुद्गल प्रतिषेधन अथवा आत्मवारप्रतिषेध)

अभिधर्मकोश के अष्टम कोशस्थान के अन्तिम श्लोकों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह वसुबन्धु के अभिधर्मकोश का अन्तिम कोशस्थान है साथ ही यहाँ यह उल्लिखित भी है कि अभिधर्मकोश इस कोशस्थान से समाप्त हुआ। "अभिधर्मकोशभाष्ये समापत्ति निर्देशों नाम अष्टमं कोशस्थानम्। समाप्तोऽयम् अभिधर्मकोशः।"– विनिश्चय। अभिधर्म कोशः। किन्तु वसुबन्धु के अभिधर्म कोश के जो संस्करण इस समय उपलब्ध हैं वे चाहे आचार्य नरेन्द्रदेव द्वारा सम्पादित संस्करण हों अथवा पी० प्रधान का अभिधर्मकोश भाष्यम् हो, दोनों ही में नवमकोशस्थान मिलता है।[६१]

नवमकोशस्थान अभिधर्म कोश का अंग है या नहीं, इस प्रश्न को लेकर विवाद है।

कुछ टीकाकारों का यह कथन है कि अभिधर्मकोश जिसमें वैभाषिक नीति के अनुसार अभिधर्म के सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है वह आठवें कोशस्थान की कारिका ४० (८.४०) में समाप्त हो जाता है। तथाकथित नवें कोशस्थान में ऐसी कोई कारिका नहीं जहाँ वसुबन्धु ने अभिधर्म का विवेचन किया हो। परमार्थ ने उपर्युक्त श्लोकों को अभिधर्मकोश के आठवे कोशस्थान के अन्त में दिया है तथा भद्र ने भी नवें कोशस्थान का विचार नहीं किया।[६२]

इसके विपरीत ह्वेनसाग ने उपर्युक्त श्लोंको को नवें कोशस्थान के प्रारम्भ में दिया है और ग्रन्थ का अन्त नवें कोशस्थान में दिखाए श्लोक से बताया हैं।

नवें कोशस्थान के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि वसुबन्धु यहाँ वैभाषिक नय के अनुसार अभिधर्म के निरूपण में तनिक भी प्रवृत्त नहीं हैं। उनका लक्ष्य पुद्गल प्रतिरोध अथवा अनात्मवाद का प्रतिवादन करना है और यहाँ वे उन सिद्धान्तों और दृष्टांतों का उल्लेख करते हैं जो वैभाषिकों और सौत्रान्तिक दोनों को ज्ञात हैं किन्तु वे प्रायः सौत्रान्तिक मत की ही पुष्टि करते हैं।

उपर्युक्त कोशस्थान मे पुद्गलवादी बौद्धों के 'पुद्गलअभि' अथवा पुद्गलवाद (आत्मवाद) का खण्डन किया गया है। ये पुद्गलवादी वात्सीपुत्रीय या आर्य सम्मितीय है। इसे वसुमित्र, भव्य और

विनीतदेव ने भी स्वीकार किया है। यशोमित्र स्पष्ट करते हैं कि 'हम यह नही कह सकते कि वात्सीपुत्रीय मुक्ति नहीं पा सकते क्योंकि वे बौद्ध हैं'[६३] किन्तु शान्तिदेव, चन्द्रकीर्ति और ह्वेनसांग आदि ने इस भय से कहीं बौद्ध देशना में भी 'आत्मवाद' सिद्धान्त में आस्था रखने वाले न मिल जाएं, उन्हे अबौद्ध और तीर्थक कहना प्रारम्भ किया है।[६४]

चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि कुछ ऐसे बौद्ध हैं जो पुद्गलवादी हैं किन्तु एक प्रकार से वे बौद्ध नही हैं क्योंकि तीर्थकों की तरह वे बौद्ध शिक्षा का यथावत् अर्थ नहीं जानते।[६५] शान्तिदेव भी यही बात कहते है। उनके अनुसार अन्तश्चार तीर्थक पुद्गलवादी पुद्गल नामक आत्मा को मानते है और कहते हैं कि यह आत्मा न स्कन्धों से 'अभिन्न है और न भिन्न'। वे बौद्ध शब्दावली का इसलिए प्रयोग करते हैं कि अन्यथा यह प्रगट हो जाएगा कि वे तीर्थकों के सिद्धान्तों में अभिनिवेश (प्रवेश), रखते हैं। किन्तु 'बौद्ध आत्मवादी है' इस सिद्धान्त की पुष्टि बुद्धवचन लड्कावतारसूत्र और मैत्रेयनाथ के महायान सूत्रालड्कार अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों से भी होती है। धर्मराज क्या है? क्या आत्मवाद के लिए नया नाम मात्र नहीं है? क्या यह उपनिषदों के ब्रह्मवाद से भिन्न है?

इस पूरे कोशस्थान मे 'आत्मा है या नहीं है' का विस्तृत विवेचन है किन्तु यहॉ हम दोनों पक्षों का अति संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

पुद्गलवादी आत्मा की सिद्धि समवचन से करते हैं।[६६]

'चक्षु से रूपों को देखकर वह निमित्त का ग्रहण नहीं करता.......क्योंकि आंख देती है इसलिए पुद्गल आंख से देखता है।[६७]

वैभाषिक का कथन है कि स्कन्ध व्यतिरिक्त किसी आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि किसी प्रमाण से नहीं हो सकती न प्रत्यक्ष प्रमाण्यों और न अनुमान प्रमाण में।[६८] यदि अन्य भावों (वस्तुओं) के समान आत्मा का पृथक् सद्भाव (अस्तित्व) है तो इसकी प्राप्ति या तो प्रत्यक्ष प्रमाण से होनी चाहिए जैसे कमल, सिंह नाम आदि की होती है अथवा अनुमान से होनी चाहिए जैसे सूक्ष्मरूपी इन्द्रियों की होती है।

वैभाषिक कहता है कि वास्तव में पंचेन्द्रिय का ज्ञान अनुमान से होता है। लोक में यह देखा जाता है कि सामान्य कारणों के होते हुए भी फल की उत्पत्ति नहीं होती यदि विशेष कारण का

अभाव होता है। उदाहरण के लिए धान्य या किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति के लिए केवल क्षेत्र, उदक, पुरूषार्थ ही आवश्यक नहीं है, बीज भी आवश्यक है। इसी प्रकार सामान्य कारणों का बाह्य विषय के सम्मुखी भाव, मनस्कार आदि का विद्यमान होना आवश्यक है। अन्ध और वधिर देखते सुनते नही है, किन्तु जो अन्धे व बहरे नहीं हैं, वे देखते सुनते हैं, पहले में चक्षुर्विज्ञान और श्रोत विज्ञान के कारण अन्तर का अभाव है दूसरे में भाव है। यह इन्द्रिय हैं, रूपी इन्द्रिय हैं जो अदृश्य अतीन्द्रिय उपाराणय हैं और जो केवल अनुमान से जाने जाते हैं।[९९] स्कन्ध व्यतिरिक्त आत्मा के लिए न प्रत्यक्ष प्रमाण है और न अनुमान।

पुनश्च यदि पुद्गल भाव है तो इसे स्कन्धों ने अन्य होनी चाहिए, क्योंकि इसका स्वभाव एक दूसरे से भिन्न हैं, अथवा यह हेतु प्रत्यय जनित होगा और इसलिए तीर्थक दृष्टि का प्रसंग उपस्थित होगा। असंस्कृत पुद्गल का कोई प्रयोजन भी नहीं होगा। क्योंकि यदि पुद्गल असंस्कृत शाश्वत अविकारादि है तो वह आकाश तुल्य है, और न होने के बराबर है। केवल उसी का सद्भाव है जो अर्थक्रिया की योग्यता रखता है, जो क्षणिक है (यत्सत् तत् क्षणिकम)। सौत्रान्तिकवाद के अनुसार वैभाषिक मत के असंस्कृत (आकाश) और दो निरोध का अस्तित्व नहीं है। यशोमित्र धर्मकीर्ति को उद्धृत करते हैं–

वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्म न्यस्ति तयोः फलम्।
चर्मोपमश्चेत् सोऽनित्यः खतुल्यश्चेद असत्फलः।।[१००]

इसलिए पुद्गल को द्रव्य विशेष मानना व्यर्थ है। किन्तु यदि आपका यह कथन हो कि पुद्गल का अस्तित्व केवल प्रज्ञप्ति सत् है तो आर्य अपने मत का परित्याग करते हैं और हमारे विचार में आप अपनी भूल को सुधारते हैं।

वात्सीपुत्रीय– मैं कहता हूँ कि पुद्गल का अस्तित्व है, मैं नहीं कहता हूँ कि वह द्रव्य है, मैं नहीं कहता कि वह स्कन्धों का प्रज्ञप्तिसत् है। मेरे अनुसार पुद्गल–प्रज्ञप्ति का व्यवहार प्रभूत्पन्न आध्यात्मिक उपादाय स्कन्धों के लिए (स्कन्धात् उपादाय) है।[१०१] किन्तु वैभाषिक हमें 'अन्ध वचन' कह कर वात्सीपुत्रीय मत की आलोचना करता है।

वात्सीपुत्रीय के अनुसार पुद्गल की प्राप्ति षड्विज्ञानो से होती है। जब चक्षुर्विज्ञान रूपकाय को जानता है तो तदनन्तर ही वह पुद्गल की उपलब्धि करता है और इसलिए हम कह सकते हैं कि पुद्गल चक्षुर्विज्ञान से जाना जाता है। किन्तु पुद्गल का रूप से क्या संबंध है– अनन्यत्व है या अन्यत्व यह अवक्तव्य है। अन्य विज्ञानो के लिए भी सही यही है। जब मनोविज्ञान धर्मो (चित्त चैत्तों) को जानता है तो वह तदनन्तर ही पुद्गल की उपलब्धि करता है, इसलिए यह भी विज्ञान से जाना जाता है। किन्तु चित्त चैत्तों से हमारा क्या सम्बन्ध है पर अवक्तव्य है।[102] वैभाषिक एक बुद्ध वचन को उद्धृत कर पुद्गल का खण्डन करता है–भगवान बुद्ध एक ब्राह्मण से कहते हैं–

यदि मैं कहता हूँ कि सर्व अस्ति तो इसका अर्थ द्वादश निदान में है। इसलिए यदि पुद्गल बारह आयतनो में संगृहीत नही है तो इसका अस्तित्व नहीं हैं।

वास्तव में आत्मा अस्म स्वभाव नहीं है किन्तु विपर्ययवश (अज्ञान–भ्रमवश) लोग समझते हैं कि आत्मा का अस्तित्व है, यहॉ सत्व है न कि आत्मा, किन्तु केवल सहेतुक धर्म हैं– स्कन्ध, आयतन, धातु यह बारह भवांग है– इनमें अन्वेषण करने से किसी पुद्गल की उपलब्धि नहीं होती–

नासीद सत्व आत्मा वा धर्मा एक सहेतुकाः।
द्वादशसु भवांगेषु स्कन्धायतन धातु सु
पुद्गलो नोपलभ्यते।।[103]

वात्सीपुत्रीय इस बुद्ध वचन को काटते हुए कहते हैं कि भगवान् भारहार सूत्र में कहते हैं कि हे भिक्षुओं ! मैं तुमको उपदेश दूँगा, भार, भारदान, भार विक्षेपण, भारहार की देशना दूँगा जो इस प्रकार है।[104] पुनश्च वात्सीपुत्रीय कहते हैं कि पुद्गल द्रव्यसत् है क्योंकि सूत्र वचन है कि उपपादक सत्वों का परिषेध करना मिथ्या दृष्टि है। विभाषा से भी इसकी पुष्टि होती है जो यह कहती है कि 'इस लोक का अस्तित्व नहीं है', पर लोक का अस्तित्व नहीं है, उपपादक सत्व नहीं है (यह कहना), मिथ्या दृष्टि है।[105] वात्सीपुत्रीय एक अन्य सूत्र को उद्धत करते हैं जो यह कहता है कि 'एकपुद्गल' इस लोक में उत्पन्न होता है (उत्पद्यते)............इसलिए यह पंचस्कन्ध नहीं है किन्तु एक वस्तु सत् है। परमार्थ के वचन से भी इसकी पुष्टि होती है– एक पुद्गल लोक में उत्पन्न होता है, उत्पन्न होकर वह बहुजन का हित, लाभ, सुख साधित करता है।[106]

किन्तु वैभाषिक एक दूसरे बुद्ध वचन को उद्धृत कर कहते हैं कि 'कर्म है', विपाक है किन्तु धर्मों के प्रतीत्यसमुत्पाद से अन्यत्र किसी कारक का अस्तित्व नहीं सिद्ध होता जो इन स्कन्धों का निषेध करता है और अन्य स्कन्धों का उपसंग्रहण करता है।[१०७] भगवान् फाल्गुन सूत्र में पुनः कहते है कि –मैं नहीं कहता कि उपदाता हैं।'[१०८]

वात्सीपुत्रीय अब वैभाषिक से प्रश्न करता है कि 'यदि पुद्गल का अस्तित्व नहीं है तो संसार में संसरण कौन करता है? यह तो माना नहीं जा सकता कि संसार स्वयं संसरण करता है क्योंकि भगवद् वचन है कि 'अविद्या से उन्मार्ग में प्रवृत्त तृष्णा से प्रतिसंयुक्त सत्व, निरय, तिर्यक, प्रेत, विजय, देव, मनुष्य गतियोग में संसरण करते हैं इस प्रकार वे दीर्घकाल तक दुःखराशि का अनुभव करते हैं।

पुनश्च यदि मात्र स्कन्धों का अस्तित्व है, कोई स्कन्ध धारक नहीं है तो यह बुद्ध के उस वचन से विरुद्ध होगा जिसमे उन्होंने कहा था कि ''अतीत काल में सुनेत्र नाम का शास्ता मैं ही था।''[१०९]

वैभाषिक इसकी व्याख्या करते हुए कहता है कि 'जब भगवान् यह कहते है कि शास्ता सुनेत्र मैं ही था' तो वे यह सूचित करते हैं कि उनकी प्रत्युत्पन्न आत्मा के स्कन्ध उसी सन्तान के हैं जिस सन्तान के सुनेत्र थे। जैसे लोक में यह कहते हैं कि यह वही अग्नि है जिसे पहले देखा था, वह जलाती हुई यहाँ आ गयी है।[११०]

स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, उपभोग, अध्ययन आदि के आधार पर वात्सीपुत्रीय वैभाषिक से पूछता है कि यदि आप के अनुसार आत्मा वस्तुसत् नहीं है, वह आकाश के तुल्य प्रज्ञप्ति मात्र (मिथ्या) है तो कौन स्मरण करता है, कौन वस्तुओं का प्रत्यभिज्ञान करता है, कौन ग्रन्थों के पाठ को धारण करता है, कौन सूत्रो की आवृत्ति करता है, कौन किसी से राग और किसी से द्वेष करता है। कौन कुछ से राग और अन्य से विद्वेष करता है?[१११]

वैभाषिक उत्तर देते हुए कहता है कि एक 'चित्त विशेष' स्मृति होती है जो स्मृति विषय (तद–) में आभोग करती है जिसमें उस विषय के सम्बन्ध में (सम्बन्धित) या तत्सदृश संज्ञा होती है (–मान) या प्रणिधान विशेष आदि होते हैं। इस चित्तविशेष से स्मृति होती है। यदि इस चिन्त का

स्मृति उत्पादन का प्रभाव व्याभिलक्षित आश्रय विशेष से, शोक से, चित्त व्याक्षेप से कर्म विद्यादि के क्षुब्ध करने वाले प्रभाव से उपहत न हो।[११२]

वात्सीपुत्रीय पूछता है कि 'आत्मा' के अभाव में कौन स्मरण करता है?

वसुबन्धु– स्मरण से आपका क्या अर्थ है?

वात्सीपुत्रीय– स्मृति से विषय का ग्रहण।

वसुबन्धु– क्या ग्रहण स्मृति से भिन्न है?

वात्सीपुत्रीय– स्मृति ग्रहण–कर्म का कर्ता हैं।

वसुबन्धु– यह कर्ता स्मृति का हेतु अर्थात् एक चित्तविशेष।

वात्सीपुत्रीय– एक चित्त विशेष स्मृति में हेतु हैं तो यह कैसे कहा जा सकता है कि चैत्त स्मरण करता है।

वसुबन्धु– चैत्त सन्तान की आख्या है। इस सन्तान में दर्शन चित्त से स्मृति चित्त उत्पन्न होता है इसलिए कहा जाता है कि चैत्त स्मरण करता है।

स्मृति की भाँति प्रत्यभिज्ञान (पहचान) को भी समझाना चाहिए।

पुनश्च– वात्सीपुत्रीय पूछता है कि इसकी व्याख्या कैसे होगी?

कौन जानता है (विज्ञानाति) कि किसका विज्ञान है (का विज्ञानम्)? ऐसे ही अन्य प्रश्न कि 'कौन वेदना का अनुभव करता है, किसकी वेदना है, कौन संज्ञा का उत्पाद करता है, किसी संज्ञा है, किसकी स्मृति और प्रत्यभिज्ञान है?

कुछ आचार्यों के अनुसार (सांख्य और वैयाकरण) आत्मा का अस्तित्व है क्योंकि भाव को भविता की अपेक्षा है। जैसे देवदत्त का गमन देवदत्त की अपेक्षा करता है। गमन भाव है देवदत्त भविता है। इसी प्रकार विज्ञान एक प्रकार का भाव है। वह एक आश्रय की, एक विज्ञाता की, (कारक, भविता) की अपेक्षा रखता है।

वसुबन्धु कहते हैं कि देवदत्त को आप एक वस्तुसत् पुद्गल न मानकर संस्कार समूह सन्तान समझें। यह भावक्षण हैं जो निरन्तर नवीन होते रहते हैं और साकंल्येन सभाग होते हैं। नृपजन इस सन्तान को एक वस्तुसत् मान बैठते हैं। वास्तव में देवदत्त का गमन शरीर सन्तान का देशान्तरों में उत्पाद मात्र है। इस उत्पाद (गमन) का हेतु सन्तान का पूर्व क्षण है।

जैसे ज्वाला या शब्द के गमन को कहते हैं कि ज्वाला जाती है, शब्द जाता है उसी प्रकार देवदत्त के गमन को कहते हैं कि देवदत्त जाता है।[११३] इसी प्रकार लोक में कहते हैं कि देवदत्त जानता है कि (विज्ञानाति) क्योंकि यह समुदाय जिसे देवदत्त कहते है विज्ञान का हेतु है और लोक व्यवहार का अनुसरण कर स्वयं आर्य (बुद्ध) इस आख्या का प्रयोग करते हैं जो तत्वतः उचित नहीं है। उदाहरण के लिए सूत्र का वचन है कि विज्ञान विषय को जानता है। विषय के सम्बन्ध मे विज्ञान क्या करता है? कुछ भी नहीं। केवल विषय के सदृश उत्पन्न होता है जिस प्रकार फल यद्यपि कुछ नहीं करता[११४] तथापि यह कहा जाता है कि यह बीज के अनुरूप होता है। बीज को पुनरूत्पन्न करता है क्योंकि बीज के साहस से इसका आत्मलाभ होता है।[११५] उसी प्रकार चाहे विषय के सम्बन्ध मे विज्ञान एक भी क्रिया सम्पन्न न करें तथापि यह कहा जाता है कि विज्ञान विषय को जानता है क्योंकि विषय सादृश्य से इसका आत्मभाव होता है। वात्सीपुत्रीय दार्शनिकों के आत्मवाद का खण्डन करने के अनन्तर वसुबन्धु आत्मवाद का खण्डन करते हैं।

वैशेषिक

इन दार्शनिकों का कथन है कि आत्मा के बिना हमारा काम नहीं चल सकता। स्मृति, संस्कार आदि गुण पदार्थ हैं। इन गुण पदार्थों का आश्रय कोई न कोई द्रव्य होना चाहिए और पृथ्वी आदि नौ द्रव्यों में यह आत्मा ही हो सकता है क्योंकि यह अग्राह्य है कि स्मृति या अन्य चैतसिक गुणों का आश्रय चेतना आत्मा के अतिरिक्त कोई दूसरा द्रव्य हो।

वसुबन्धु इस प्रश्न का उत्तर यह कह कर देते हैं कि हमारे मत के अनुसार यत्किचिंत विद्यमान है वह सब द्रव्य है। वैशेषिक पुनः प्रश्न करता है कि 'आत्मा के अभाव में' जो कर्म करता है वह क्या है? फलाफल का उपभोग करने वाला क्या है? अर्थात् उपभोक्ता कौन है? पुनश्च यदि कोई आत्मा नहीं है तो असत्याख्य (अनुपस्थित व्यक्ति में) कुशल और अकुशल कर्मों का विपाक क्यों नहीं होता? पुनश्च आत्मा के अभाव में विनष्ट अतीत कर्म अनागतफल का उत्पाद कैसे कर सकता है?

वसुबन्धु के अनुसार अनागत फल विनष्ट कर्म से नहीं उत्पन्न होता। वह तो कर्म सनतान के परिणाम क्षण में उत्पन्न होता है।[११६] उदाहरण के लिए 'फल बीज से उत्पन्न होता है' किन्तु इस

युक्ति का अर्थ नहीं कि फल निरुद्ध बीज से उत्पन्न होता है या फल बीज के अन्तर (अर्थात् विनश्यमान बीज से) उत्पन्न होता है वास्तव में, बीजसन्तान (परम्परा)) के परिणाम प्रतिप्रकृष्ट क्षण से फल की उत्पत्ति होती है। बीज उत्तरोत्तर, अंकुर, काण्ड, पत्र, का उत्पादन करता है और अन्त में पुष्प का, जिससे फल का प्रादुर्भाव होता है। यदि कोई यह कहता है कि बीत से फल की उत्पत्ति होती है तो इसका कारण यह है कि बीज मध्यवर्तियों (अंकुर, काण्ड, पत्रादि) की परम्परा से पुष्प के फलोत्पादन का सामर्थ्य आहित करता है।[११७]" यदि फलोत्पादन सामर्थ्य का जो पुष्प में पाया जाता है पूर्व हेतु न होता तो पुष्प का बीज सदृश फल न उत्पन्न करता। इसी प्रकार यद्यपि फल कर्म जनित है किन्तु यह विनष्ट कर्म से नहीं उत्पन्न होता। यह कर्म के अनन्तर भी नहीं उत्पन्न होता। यह कर्मसमुत्थित सन्तान के अतीत प्रकृष्ट क्षण से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार जब मरण चित्त स–उपादान होता है तब उससे नवीन भव के उत्पादन का सामर्थ्य होता है। इस चित्त के पूववर्ती सब प्रकार के अनेक कर्म होते हैं, तथापि यह गुरूकर्म से आप्तसामर्थ्य है जो अन्तिम चित्त का अभिसंस्कार करता है (विशिष्ट करना है)।

संतान से हमारा अभिप्राय रूपी और अरूपी स्कन्धों से हैं जो अविच्छिन्न रूप से एक सन्तान में उत्तरोत्तर प्रवर्तमान होते हैं और जिस सन्तान के पूर्व हेतु कर्म है। इस सन्तान के निरन्तर क्षण भिन्न हैं, इसलिए सन्तान का परिणाम अन्यथात्व होता है। इस परिणाम का अन्त्य (अन्तिम) क्षण एक विशेष या प्रकृष्ट क्षण रखता है। यह सामर्थ्य फल का तत्काल उत्पादन करता है। इस कारण यह क्षण अन्य क्षणों से विशिष्ट है। इसलिए इसे विशेष अर्थात् परिणाम का 'प्रकर्षपर्यन्त प्राप्तक्षण'' कहते है।[११८]"

वैभाषिक, वैशेषिक आदि दार्शनिको के तर्कशरों से आहत वसुबन्धु अन्त में कुछ पराजय सी स्वीकार करते हुए कहते हैं मैने अपनी बुद्धि के अनुसार कर्म विपाक का संक्षेप और स्थूल रूप से व्याख्यान किया है किन्तु कर्म, कर्म भावना, भावना का वृत्तिलाभ, उससे उत्पन्न फल इस प्रक्रिया को बुद्ध के अतिरिक्त दूसरा सर्वथा नहीं जानता। केवल बुद्ध ही जानते हैं कि स्वभावरंजित सन्तान विशेष इसी प्रकार परिवर्तित होती जाती है कि इस परिणाम में वैसे पहुँच कर केवल यही फल देता है।

'कर्म च तद्भावनां च तस्याश्च वृत्तिलाभं ततः फलम्।
बुद्धाद् अन्यो नियमेन सर्वथा न प्रजानाति।।[११६]"

अन्त में बौद्ध धर्म की बडाई करते हुए तथा बुद्धेत्तर आत्मवादी की भर्त्स्ना करते हुए वसुबन्धु निम्नलिखित कारिकाओं से अपने अभिधर्म कोश की समाप्ति करते हैं–

१. इत्येषां प्रवचन धर्मतां निशम्य सुविहित हेतुमार्ग शुद्धाम्।
अन्धानां विविधिकुदृष्टि चेष्टितानां मतम् अपविध्यायान्त्यनन्धाः।।
२. इमां (हि) निर्वाण पुटैकवर्तनीं तथागतादित्यवचों शुभास्वतीम्।
निरात्मताम् आर्य सहस्रवाहितां (स) मन्दचक्षुर्विवृतां न (पश्यति)।।
इति दिग्मात्रम् एवेदम् उपदिष्टं सुमेधसाम्।
व्रणदेशे विषस्यैव स्वसामर्थ्यविसर्पिणः।।

बुद्धों के प्रवचन की धर्मता सुखहित हेतुमार्ग से निरवध है, ये देखकर प्रज्ञा चक्षु वाले, कुचक्षुवाले और कुचेष्टावाले अन्धकों के मत का परित्याग कर इस मार्ग की ओर उन्मुख (निर्वाणान्मुख) होते हैं।

वास्तव में मन्दचक्षु इस निरात्मा के सिद्धान्त को नहीं देखता। निर्वाणपुर को ले जाने वाला यह एक ही मार्ग है। तथागत रूप सूर्य के वचनरूपी किरणों से भासर है, सहस्रों आर्य इसका अनुसरण करते हैं और यह अन्तराय से रहित हैं।

इस ग्रन्थ में गतिमान के लिए दिग्मात्र ही उपदिष्ट किया गया है। विष व्रणदेश को प्राप्त कर अपने ही सामर्थ्य से सब अंग प्रत्यंग में फैल जाता है।[१२०]

संक्षेप में इस कोशस्थान का लक्ष्य बुद्ध की मध्यमा प्रतिपत् और अनात्मवाद जो एक विशेष प्रकार का आत्मवाद है, का प्रतिपादन करता है।

वात्सीपुत्रीय के यह प्रश्न करने पर कि यदि पुद्गल नहीं है तो भगवत् क्यों नहीं कहते कि जीव सर्वशः नहीं है? वसुबन्धु द्वारा उत्तर मिलता है कि भगवत् की देशना प्रश्नकर्त्ता की क्षमता को देखकर होती है। वे प्रश्नकर्त्ता के आशय को जानकर प्रश्न का उत्तर देते हैं। यह सत्वकदाचित् इस विचार से कि 'जीव स्कन्ध सन्तान हैं, जीव के सम्बन्ध में प्रश्न करता है, यदि भागवत् यह उत्तर देते हैं कि जीव सर्वशः नहीं है तो प्रश्नकर्त्ता मिथ्या दृष्टि में पड़ता है। इसके अतिरिक्त प्रश्न कर्त्ता प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त को समझने में असमर्थ है– वह अवद्देशना के अयोग्य भगवत् इसलिए उसे नहीं कहते कि जीव प्रज्ञप्ति सत् है। इसका एक बहुत अच्छा विवेचन

संयुक्तनिकाय (३४.१५) में मिलता है जहाँ वत्सगोत्र के कई बार प्रश्न करने पर कि गौतम ! क्या आत्मा है? बुद्ध ने नहीं उत्तर दिया। इस पर उसने आनन्द से कहा कि 'भगवत् मेरे प्रश्न का उत्तर देना नही चाहते। आनन्द के बुद्ध से यह बात कहने पर वे आनन्द से कहते हैं कि 'यदि मैं यह उत्तर देखा होता कि आत्मा है तो मैं उसकी मिथ्या दृष्टि को और बढ़ाता और यदि मैं यह उत्तर दिया होता कि आत्मा नहीं है तो क्या उसके पूर्व के सम्मोह और विचिकित्सा और न बढ गए होते। विक्षिप्त होकर वे कहते हैं जो आत्मा पहले थी अब वह व्युच्छिन्न हो गयी है। आत्मवाद शाश्वतवाद है। यह सोचना कि यह आत्मा नष्ट हो गया है उच्छेदवाद है। तथागत इन दो अन्तों का परिहार कर मध्यमा प्रतिपत् से धर्म की देशना करते हैं। इसके होने पर वह होता है . . . . अविद्या के होने पर संस्कार होते हैं . . . . इत्यादि।[१२१] इसलिए वत्स की चित्त अवस्था को देखकर बुद्ध के यह पूछे जाने पर कि आत्मा है या नहीं है, विधेयात्मक या निषेधात्मक कोई उत्तर नहीं दिया किन्तु परिआत्मा होती तो वे क्यों न कहते कि आत्मा का अस्तित्व है।[१२२] इसी प्रकार जब निर्ग्रन्थ श्रावक ने हाथ में जीवित पक्षी को लेकर भगवान् से पूछा कि 'यह पक्षी जीवित है या मृत' तो भगवान् ने उत्तर नहीं दिया।[१२३] वस्तुतः बुद्ध की दृष्टि में आत्मा सम्बन्धी ये प्रश्न अव्याकृत प्रश्न हैं। ऐसा ही उत्तर उन्होंने 'लोक' के शाश्वतता तथा 'तथागत का निर्वाण के पश्चात् अस्तित्व है या नहीं है' के सम्बन्ध में दिया था कि वह शाश्वत है या नहीं।

वस्तुतः बुद्ध की देशना वसुबन्धु के अनुसार प्रश्नकर्त्ता की क्षमता को ध्यान में रखकर की जाती है। "दृष्टि से जो क्षत होता है उसको विचार कर और दूसरी ओर कुशल कर्म कर विप्रणाश देखकर बुद्ध धर्म की देशना उसी प्रकार करते हैं जैसे व्याघ्री अपेन बच्चे को दाँत से पकड़कर ले जाते समय करती है। वह न तो अतिनिष्ठुरता के साथ पकड़ती है ओर न अति शिथिलता से क्योंकि पहली अवस्था में बच्चा दाँत से घायल हो जाएगा और दूसरी अवस्था में जमीन पर गिर कर घायल हो जायगा।[१२४]

संदर्भ

१. अभिधर्मकोशभाष्यम् (वसुबन्धु प्रणीत), सम्पादक प्रो० अनन्त लाल ठाकुर, के० पी० जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पटना, १६७५, पृ० १६–२०.

२. अभिधर्मकोश, अनुवादक आचार्य नरेन्द्र देव, प्रथम खण्ड, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद।

३. प्रज्ञाऽमला सानुचराऽभिधर्मस्तत्प्राप्तये यापि च यच्च शास्त्रम्। तस्मार्थतोऽस्मिन् समनुप्रवेशात् स वाययोऽस्येत्यभिधर्मकोशः।।—अभिधर्म कोश, ६.२३

४. अभिधर्मकोश, अनुवादक, आचार्य नरेन्द्र देव, पृ० ४

५ वही, पृ०–५

६. परमार्थ एव पारमार्थिक। परमार्थे वा भव पारमार्थिक.। परमार्थेन वा दीव्यति चरतीति पारमार्थिक.। अभि० कोश, पृ० ६१

७ वही, पृष्ट–७२

८. वही, पृष्ट–६

६ तस्यार्थत्तोऽस्मिन् समनुप्रवेशात् (सो एव) आश्रयो (अस्त्येत्य), अभि० कोश, व्याख्या १०.३

१०. नमन्दोऽपि प्रवर्तते।

११. धर्माणा प्रविचयमन्तरेण ास्ति

क्लेशाना यत् उपशान्तयेऽ्युपाय।

क्लेशैश्च भ्रमति भावार्णवेऽक लोक

स्तद्धेतोरत उदित. किलैपशास्मि।। अभि० कोश, कोशस्थान २, पृ० ८३

१२. वही, ३.६

१३. नरकप्रततिर्यचो मानुषा षड्दिवोकस.।

कामधातुः स नरकदीपभेदेन विशति।। अभि० कोश ३.१, पृ० २५७

१४. ऊर्ध्व सप्तदशस्थानो रूपधातु. पृथक्–पृथक्।

ध्यान त्रिभूमिक तत्र चतुर्थ त्वष्टभूमिकम्।। वही, पृ० २५८

१५. वही, पृ० २५६

१६ वही, पृ० २६०

१७. वही, पृ० १२०

१८. वही पृ० १२०, पृ० ३३

१६. अभि० कोश ३३, पृ० २६२

२०. अभि० कोश, पृ० २६२

२१. आचार्य नरेन्द्र देव अभि० कोश भाग १, पृ० ३१८

२२. स प्रतीत्ससमुत्पादो द्वादशांगस्त्रिकाण्डकः।

पूर्वापरान्तयोर्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरिणः।। कोश ३.२०, पृ० ३०५

२३. वही, पृ० ३०५

२४. वही पृ० ३०६

२५. क्लेशस्त्रीणि द्वयं कर्म सप्तवस्तुफलं तथा।

फलहेत्वभिसंक्षेपो द्वयोर्भध्यानुमानत।। कोश, ३.२६।।

२६. उक्तं च वक्ष्यते चान्यदत्र तु क्लेश इष्यते।

बीजवन्नागवन्मूल वृक्षवत्तुषवत्तथा।। वही ३.३६।।

२७. तुषितण्डुलवत्कर्म तथैवौषधिपुष्पवत्।

सिद्धान्नपानवद्वस्तु तस्मिन् भव चतुष्टये।। वही, ३.३७।।

उपपत्तिभव क्लिष्ट. सर्वक्लैशै. स्वभूमिकै ।

त्रिधान्ये तत्र आरूप्येस्वहार स्थितिक जगत्।। वही, ३.३८।।

२८. पूर्वक्लेशदशाऽविधा सस्कारा. पूर्वकर्मण.।

सन्धिस्कन्धास्तु विज्ञान नामरूपमतः परम्।। कोश ३.२१।

२६. प्राक्सडायतनोत्पादात् तत्पूर्व चिक्संगमात्।

स्पर्श प्राक् सुखदु:खादिकारण ज्ञान शकितः।। वही ३.२२

३०. वित्तिः प्राड्.मैथुनात् तृष्णा भोगमैथुनरागिणः।

उपादानं तु भोगानां प्राप्तये परिधावत.।। वही ३.२३

३१. स भविष्यद् भवफल कुरुते कर्म तद्भव।

प्रतिसन्धिः पुनर्जातिर्जरामरणमाविद.।। वही ३.२४

३२. कमर्ज लोकवैचित्र्य चेतना तत्कृत च तत्।

चेतना मानस कर्म तज्जे वाक्कायकर्मणी।। अभिधर्मकोश ४.१

३३. कोशस्थान ४, ५०५ लेट १६ बी०

३४. कोश भाग २ कोशस्थान ४, पृष्ठ ५

३५. कोश, ५/३६, पृष्ठ २४०

३६. वही, ५/१, पृष्ठ २३३

३७ वही, ५/१, पृ० २३४

३८. वही, ५/१, पृ० २४०

३६. चत्वारों भावनाहेयास्त एव प्रतिघा पुनः।

रूपधातौ तथारुप्य इत्यष्टानवतिर्मता।। अभिधर्म ५/५।

४०. अभिधर्म कोश भाग २, पृ० २६७, भाग ३ पृ० ३००।

४१. कुशल, उपकुशल धर्मो का विवेचन 'अभिधर्मकोश के सिद्धान्तों का समान्य विवेचन' के अध्याय में किया जायगा।

४२. यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं रोगो रोगहेतु, आरोग्यं भेषज्यनित्येवभिदपि शास्त्रं इति—बोधिचर्यावतार, योगसूत्र २१५, प्रो० पी० प्रधान द्वारा सम्पादित 'कोश' पृ० १६७।

४३. कोश, भाग ३४, पृ० १८८।

४४. अगुत्तरनिकाय ४७७।

४५. कोशस्थान ८, पृ० १६।

४६. अभि० कोश, पी० प्रधान द्वारा सम्पादित पृ० ४०।

४७. निरन्तर कृत्स्नस्फरणाद् इति ।निरन्तरं कृत्स्नानां पृथिव्यादिनां स्फरणाद् व्यापनात् कृत्स्नायतनानीत्युच्यन्ते। वही, पृ० १६५।

४८. सद्धर्मो द्विविध. शास्तुरागमाधिगमा मुक्तः/कोश ८, पृ० १६६।

४६. अभिसमयालङ्कार में अभिधर्म के बारह अंग बतलाये गये हैं। अभि० कोश ६.६।

५०. समन्तपासादिका १.२२५, वही पृ० १६६।

५१. आचार्य वसुबन्धु कृत अभि० कोश, अनुवादक, आचार्य नरेन्द्र देव, हिन्दूस्तानी एकेडमी, उ० प्र०, इलाहाबाद।

५२. ध्यान त्रिभूमिकं तत्र चतुर्थं त्वष्टिभूमिकम्। अभि० कोश—३.२।

५३ ध्यैं धातु का प्रयोग उपनिधान के अर्थ मे हुआ है–'समाहितचित्तोयेयाभूत प्रजानाति'। दीर्घनिकाय ३.२४।

५४. आचार्य वसुबन्धु कृत अभिधर्मकोश, अनुवादक आचार्य नरेन्द्रदेव हिन्दुस्तानी एकेडमी उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद।

५५ अभिधर्मकोश भाष्यम् ऑव वसुबन्धु, प्रोफेसर पी० प्रधान द्वारा सम्पादित, के० पी० जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, १६७५।

५६. नहि वात्सीपुत्रीयाणा मुक्तिर् नेष्यते बौद्धत्वात्, नरेन्द्रेव, 'कोश' भाग ४, पृ० २०६।

५७. वही पृ० २०६।

५८ मध्यमकावतार ६/६।

५६. बोधिचर्यावतार ६/६०।

६०. दे० डॉ० सी० एल० त्रिपाठी विश्वभारतीय पत्रिका।

६१. 'चक्षुषा रुपाणि द्रष्टा न निमित्तग्राही . . अस्मात्
चक्षु पश्यति तस्मात् पुद्गलश्चक्षुणा पश्यति'
''कोश'' नवमकोश स्थान पृ० २०६।

६२ अनुमान मे आगम भी सम्मिलित है। नरेन्द्रदेव ''कोश'' कोशस्थान ६, पृ० २६०।

६३. महर्षि प्रणिधिज्ञान परिच्छिन्नत्वाद् अस्त्येव चक्षुरादिकम् इन्द्रिय चक्षुर्विज्ञानादि कारणम् इति सर्वेषाम् अविवादाच्च। नवम कोशस्थान भाग ३–४, प० २११।

६४. न्याय विर्तिक २०१.५ वही पृ० कोशनवम कोशस्थान, २१२।

६५. (प्रत्युत्पन्नाध्यात्मिकोपात्तस्कधात) उपादाय (पुद्गल प्रज्ञप्यते) वात्सीपुत्रीय और वसुबन्धु के अनुसार अतीत और अनागत स्कन्धो का अस्तित्व नहीं है। वह अग्नि को आध्यात्मिक (अभ्यन्तर–आन्तरिक) मानते हैं। उपान्त का अर्थ कोश १.३४ मे वर्णित है।

६६. (चक्षुर्विज्ञानि रुपाणि प्रतीत्य पुद्गल) प्रविविभावयतीत्युपलक्षयति तदुपादानत्वात्। नो तु वक्तव्यों रूपाणि वा नो वेत्यतल्लक्षणवाद् अवक्तव्यत्वाच्च। चीनी भाषा में उपलब्ध हैं रूपादि प्रत्ययवश चक्षु (स्वावलम्बन के रूप में) उपलब्धि कराता है। चक्षुर्विज्ञान पुद्गल को अप्रत्यक्ष रूप से जानता है, अप्रधानरूप से जानता है क्योंकि रूप पुद्गल के उपादान हैं। ''कोश'' भाग ३–४, पृ० २१६।

६७. सत्वं वुच्चति द्वादशायतनानि/वही भाग ३–४, पृ० २२५।

६८. वही पृ० २२ कोश भाग ३–४, अध्याय ६।

६६. भारहार सूत्र या भारसुत्त (विशुद्धि ४७८, ५१२) नवमकोश स्थान, पृ० २३३

७०. विभाषा १६८.२ ''कोश'' नवमकोशस्थान, पृ० २३४

७१. एक पुग्गलो भिक्खवे लोके उप्पज्जमानो उपज्जति बहुजन हिताय. . . . .अंगुत्तर १२२, पृ० २३५

७२. अस्तिकर्म, अस्ति विपाकः। कारक वस्तु नोपलभ्यते। कोश ५.५६

७३. वही कोश, नवमकोशस्थान, पृ० २३७

७४. सुनेत्रों नाम शास्तेति सप्तसूर्योदय सूत्रेऽयम् एवं भगवान् ऋषिः सुनेत्रों नाम वभूवेति–
वही, पृष्ठ १४७, विभाषा ८२३, ६२

७५. एक संन्तानतां दर्शयति यस्मात् सुनेत्रो बुद्धसन्तान एवासीत् अतः स एवाऽहम् इत्यभेदोपचारः। यदा सएवाग्निर्ग्यः पूर्वदृष्टो दहन्नागत इति सन्तान वृत्या सएवोच्यते–व्याख्या ७१०–२२, वही पृ० २४८

७६. कि योगा विज्ञप्तिमात्र की एक टीका से उद्धृत करते हैं– नरेन्द्रेदेव कोश नवम अध्याय, पृ० २४६

७७. तदाभोगसदृशसंबन्धिसंज्ञादिमांश्चित्तविशेषः आश्रयविशेषशोक व्याक्षेपाद्यनुपहत प्रभावः।। वही पृ० २५०

७८. वही पृ० २५२

७६ वही पृ० २५५

८०. वही पृ० २५५

८१. वही पृ० २५५

८२ कर्मसन्तान परिणाम विशेष– वही पृ० २६६

८३. तदाहितं हि तद्इति तेन बीजेनाहितं तत् सामर्थ्यम् इत्यर्थः वही पृ० २६०

८४ वही पृ० २६०

८५. वही पृ० २७४

८६. वही पृ० २७४

८७ अभिधर्मकोश नरेन्द्रदेव भाग ३, ४, पृ० २४१

८८. वही पृ० २४३

८९. दृष्टिद्रंष्ट्रावभेद चापेक्ष्य भ्रंश च कर्मणाम्।
देशयन्ति बुद्धा धर्म व्याघ्रीपोत पहारवत्।। वही पृ० २४२

९०. नामालम्बना किल श्रुतमयी प्रज्ञ। कोश, प्रधान द्वारा सम्पादित पृ० ३३५

९१. नामार्थालम्बना चिन्तामयी। कोश, प्रधान द्वारा सम्पादित, पृ० ३३५

९२. युक्तिनिधान चिन्तामयी। कोश, प्रधान द्वारा सम्पादित, पृ० ३३५

९३. समाधिज्ञो भावानामयी। कोश, प्रधान द्वारा सम्पादित, पृ० ३३५

९४. व्यपकर्षद्वयवतः ना सन्तुष्ट महेच्छयोः
लब्धे भूयस्यूहाऽतुष्टिरलब्धेच्छा महेच्छता।। अभि० कोश, पृ० ३३८

९५. आसमुद्दास्थिविस्तार संक्षेपापादिकार्मिकः। प्रधान, कोश, ६/१०

९६ प्रज्ञा श्रुतादिमयी अन्ये संसर्गालम्बनाः।
क्रम. यथोपत्तिं चतुष्कं तु विपर्यास विपक्षतः।। वही, ६/१६

९७. स धर्मस्मृत्युपस्थाने समस्तालम्बने स्थितः
अनित्यदु खत शून्यानात्मतस्यानि पश्यति।। वही, ६/१७

९८. अभि० कोश–सम्पा० पी० प्रधा पृ० १५७

९९ तर्कतीर्थ–वैभाषिक दर्शन, पृ० ३०१–३१२, प्रधान–अभि० कोश, पृ० १५७

१००. अग्रधर्मान् द्वयाश्रयान् लभतेऽङगना।
भूमित्यागात् त्यजत्यार्यास्तानि अनार्यस्तु मृत्युना।। कोश, ६.२७२

१०१ मूर्धलाभी न मूलच्छित् क्षान्तिलाभ्यनपायगः
शिष्यगोत्रान्निवर्त्य द्वे बुद्ध स्यात् त्रीण्यपीतर.।। वही, ६.२३

१०२. सास्रवमनास्त्रं ज्ञानम् आद्यसंवृत्तिलक्षणम्।
अनास्रवं द्विधा धर्मे ज्ञानमन्वयमेव च।। कोश, ६.२

१०३ सावृतं सर्वविषयं कामदःखादि गोचरम्।
अन्वयज्ञान तुर्ध्वदुःखादि गोचरम्।। वही, ६.२

१०४. कोश, प्रधान, पृ० १६२

१०५. तर्कतीर्थ–वैभा० दर्शन, पृ० ३५

१०६ काश प्रधान पृ० १६४

१०७ ध्यान त्रिभूमिक तत्र चतुर्थ त्वष्टिभूमिकम्। अभि० कोश, २.३

१०८ नरेन्द्र देव–कोश, पृ० १३३

१०६ वही, पृ० १२४

११० कायेन प्रतिसंवेदयति। कोश, २४

१११. निस्प्रीतिकरं सुख विरहति। प्रधान–कोश, पृ० ७२

११२ मानसिक सौमनस्य सौमनस्यरहितभू उपक्षास्मृतिपरिहरत्। वही, पृ० ६२

११३. नरेन्द्र देव–कोश, पृ० १२४

११४. नरेन्द्र देव–कोश, भाग ३.४, पृ० १२५

११५ वही, कोश, भाग ३.४, पृ० १३८

११६ वही, कोश, भाग ३.४, पृ० १३

११७ वही, कोश, भाग ३.४, पृ० १३५

११८ वही, कोश, भाग ३.४, पृ० १३६

११६ चक्षुणा रुपाणि द्रष्टा नैव सुनना भवति (नानुनीयते), न दुर्भना भवति (न प्रतिहन्यते) उपेक्षको भवति। जैसा चक्षुविज्ञान और उसके विषय के सम्बन्ध में है, वैसे ही अन्य विज्ञानों के लिए है। यह षड्विध उपेक्षा, षड्विधसतत् विहार है।–आचार्य नरेन्द्र देव–कोश, भाग ३.४, पृ० १५०

१२० वही, भाग ३.४, पृ० १५०

१२१. वही, भाग ३.४, पृ० १६७

१२२ वही, भाग ३.४, पृ० १६६

१२३. वही, भाग ३.४, पृ० १७०

१२४. वही, भाग ३.४, पृ० १७२

अध्याय ४

वसुबन्धु का धर्मसिद्धान्त

अभिधर्म कोश के नवों अध्यायों के प्रतिपाद्य विषय का अध्यायवार विवेचन करने के अनन्तर अब हम वसुबन्धु के धर्म सिद्धान्त का विविध दृष्टिकोणों से विवेचन करेंगे—

(१) स्कन्ध

यह धर्मो का सरलतम वर्गीकरण है। यह पाँच समूहों में विभक्त है, जिसे पंचस्कन्ध कहते हैं। ये निम्नलिखित हैं— रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान।

'रुप' स्कन्ध के अन्तर्गत 'इन्द्रियप्रदत्त' के अतिरिक्त और कोई अन्य तत्व सम्मिलित नहीं हैं, तथा आत्मा के अन्तर्गत वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान तक सीमित रह गई है। बौद्धों के पूर्व पंचस्कन्ध के लिए नामरूप का प्रयोग होता था। यह आधुनिक युरोपीय विज्ञान के दृष्टिकोण से मिलता जुलता है। वर्गीकरण से यह हमें आधुनिक दार्शनिक देकार्त के मन और देह के द्वैत का भी स्मरण दिलाता है।

इसमें तीन अर्थात् संज्ञा, संस्कार और विज्ञान मात्र एक धर्म के बोधक हैं फिर भी हम इन्हें स्कन्ध या समूह इसलिए कहते हैं क्योंकि ये अतीत, वर्तमान तथा भविष्य, समीपस्थ तथा दूरस्थ, बाह्य एवं आन्तरिक, नैतिक दृष्टि से शुद्ध तथा अशुद्ध इत्यादि वेदनाओं का बोध कराते हैं।[1] रूप स्कन्ध में दस धर्म, और दस विभिन्न प्रकार के इन्द्रिय–प्रदत्त सम्मिलित हैं।[2]

संस्कार स्कन्ध के अन्तर्गत ५५ धर्म विविध मानसिक शक्तियाँ और सामान्य संस्कार सम्मिलित हैं।[3]

स्कन्ध के वर्गीकरण में रूप स्कन्ध से बाह्य वस्तुओं के अतिरिक्त (किसी व्यक्ति के) व्यक्तित्व के भौतिक तत्वों (धर्मों) का भी बोध होता है। रूप धर्मो में 'अविज्ञप्ति' नामक धर्म भी सम्मिलित है जो किसी व्यक्ति के नैतिक चरित्र का बोधक है। किन्तु यह बात मात्र सर्वास्तिवादियों पर लागू होती है जिन्होंने किन्ही विशेष कारणों से रूप धर्मो के अन्तर्गत रखा है। किन्तु अन्य सम्प्रदाय इसे मनस् (चित्त) के अन्तर्गत रखते हैं।[४] मानसिक धर्मों का बोध अन्य चारों स्कन्धों द्वारा होता है। धर्मों का एक अन्य वर्गीकरण बौद्ध दर्शन में प्रचलित है जिसमें रूप, चित्, चैत्त और संस्कार यह धर्मों का सर्वाधिक सामान्य वर्गीकरण है। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जाएगा।

(२) आयतन

यह धर्मों का एक दूसरे प्रकार का वर्गीकरण है जो प्रथम की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। यह संज्ञानात्मक संकायों और उनके विषयों के विभाजन को ध्यान में रखकर किया गया है। इसे द्वादश आयतन (१२ आधार) कहा जाता है क्योंकि ये संज्ञान के १२ आधार हैं। इनमे से ६ संज्ञानात्मक संकाय हैं जिन्हें अध्यात्म आयतन या इन्द्रियॉ कहा जाता है और इन इन्द्रियो के अनुरूप ६ बाह्य विषय हैं, जिन्हें बाह्य आयतन कहा जाता है।

१. चक्षुरिन्द्रिय आयतन
२. श्रोत्र इन्द्रिय आयतन
३. प्राण इन्द्रिय आयतन
४. जिह्वा इन्द्रिय आयतन
५. काय इन्द्रिय आयतन
६. मन इन्द्रिय आयतन
७. रुपायतन
८. शब्दायतन
६. गन्धायतन
१०. रसायतन
११. स्प्रष्टव्य आयतन
१२. धर्मायतन या धर्माः

इस वर्गीकरण में प्रथम ग्यारह, धर्मो के द्योतक हैं जिनमें से प्रत्येक में एक–एक धर्म समाहित है। बारहवें आयतन मे शेष ६४ धर्म समाहित हैं। अतः इसे धर्मायतन या केवल धर्म अर्थात् शेष धर्म कहा जाता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से आयतन शब्द 'आय तनोति' है जिसका अर्थ 'द्वार' होता है। चूँकि चित्त और चैतसिक घटनाओं का प्रवेश इन्हीं से होता है अतः इनके समूह के लिए 'द्वार' शब्द का प्रयोग किया गया है। व्यावहारिक जीवन में हम यह देखते हैं कि चित्त का आविर्भाव स्वतः कभी नहीं होता क्योंकि यह शुद्ध संवेदन है जिसमे किसी प्रकार की वस्तु सामग्री नहीं है। इसे हम आधुनिक अनुभववादी दार्शनिक लॉक की भाषा में 'टेबुला रेजा' कह सकते हैं। दो धर्म इसकी उत्पत्ति मे सदैव सहायता प्रदान करते है–संज्ञानात्मक संकाय (इन्द्रियादि) और तदनुरूप बाह्य विरूप रंग आदि। उदाहरण के लिए चक्षुर्विज्ञान चक्षु और उसके विषय–रूप रंग आदि के साथ प्रकट होता है इसी प्रकार श्रोत्र विज्ञान श्रोत्र इन्द्रिय और उसके विषय शब्द–ध्वनि के साथ प्रकट होता है। छठें संज्ञानात्मक सकाय मन के परिप्रेक्ष्य में अतीन्द्रिय विषयों को ग्रहण करने के लिए स्वयं चित्त (चित्त या पूर्ववती क्षण) ही एक संकाय के रूप में कार्य करता है।[५]

आयतन के लिए पयार्यवाची शब्दों के रूप में 'सर्वम्' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। जब 'सर्वास्ति' सब कुछ है' शब्द का प्रयोग किया जाता है तो इसका अर्थ मात्र यह होता है कि संज्ञान के इन्हीं द्वादश आयतनों के अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं है। कोई भी विषय उदाहरणार्थ आत्मा या व्यक्तित्व जो संज्ञान का पृथक् धर्मों का संघात होने के कारण यह नाममात्र है न कि वास्तविक सत्ता अथवा धर्म।[६]

(३) धातु

(आस्तित्व के) धर्मो का १८ धातुओं के रूप में वर्गीकरण एक बिल्कुल ही भिन्न दृष्टिकोणों से किया गया है। भले ही इसके प्रथम द्वादश अंग द्वादश आयतनों से मिलते–जुलते हों अथवा उनकी पुनरावृत्ति मात्र हों। धर्मो या संस्कारों के सन्तान के घटक दृष्टि से विचार करने पर बौद्ध दर्शन में इन धर्मो को धातु की संज्ञा दी गयी है। जिस प्रकार किसी खान से विभिन्न प्रकार की धातुएं निकलती हैं इसी प्रकार किसी व्यक्ति के जीवन–सन्तान से १८ विभिन्न प्रकार की धातुएं (गोत्र) प्रकट होती हैं।[७]

धातु शब्द की परिभाषा प्राय. धर्म के रूप मे की गयी है– 'स्वस्वभाव धारणात्' अथवा 'स्वलक्षण धारणात्' ।[८]

इन १८ धातुओं मे ६ सकाय (चक्षु, धातु से मनोधातु तक), ६ वस्तुमूलक धर्म (रूप धातु से धर्मधातु तक) सम्मिलित हैं। इस प्रकार इन १८ धातुओं में १३ आयतनो के अलावा ६ और भी सम्मिलित हैं जो निम्न है–

१. चक्षुर्विज्ञान धातु।

२. श्रोतविज्ञान धातु।

३. घ्राण विज्ञान धातु।

४. जिह्वा विज्ञान धातु।

५. काय विज्ञान धातु।

६. मनोविज्ञान धातु।

इस प्रकार हम अठारह धातुओ पर पहुँचते हैं–

१. चक्षुइन्द्रिय आयतन	२. श्रोत इन्द्रिय आयतन
३. घ्राणइन्द्रिय आयतन	४. जिह्वाइन्द्रिय आयतन
५. कायइन्द्रिय आयतन	६. मनइन्द्रिय आयतन
७. रूपायतन	८. शब्दायतन
९. गन्धायतन	१०. रसायतन
११. स्प्रष्टव्य आयतन	१२. धर्मायतन या धर्माः
१३. चक्षुर्विज्ञानधातु	१४. श्रोतविज्ञानधातु
१५. घ्राण विज्ञानधातु	१६. जिह्वाविज्ञान धातु
१७. काय विज्ञानधातु	१८. मनोविज्ञान धातु

इस वर्गीकरण में विज्ञान जो मात्र एक धर्म है, का सात भागों में विभाजन किया गया है। इस विभाजन का आधार यह है कि यह विज्ञान की किसी व्यक्ति के जीवन निर्माण में एक संकाय (मनोधातु) तथा छः विभिन्न प्रकार के संवेदन है जो अपनी उत्पत्ति के मूल इन्द्रियों तथा मन से पृथक् होते हैं, के रूप में प्रवेश करता है।

इन विभिन्न प्रकार के विज्ञानों का अस्तित्व मात्र इन्द्रियगोचर अनुभव मूलक जगत् (कामधातु साधारण लोक) में हैं। उच्चतर लोकों (रूपधातु) में इन्द्रिय विज्ञान क्रमशः तिरोभूत हो जाता है। अभौतिक लोकों (अरूप धातु) में केवल मनोविज्ञान धातु शेष बचता है। इस प्रकार विभिन्न लोकों के निवासियों के शरीर सम्बन्धी धर्मो के नियमों की संरचना की दृष्टि से विज्ञान का उपर्युक्त विविध रूपों में वर्गीकरण आवश्यक है।

अब हम धर्मों का विवेचन क्रमशः उनके सर्वाधिक सामान्य वर्गीकरण रूप, मन एवं संस्कार के रूप में करेंगे—

रूप

रूप धर्म जिनका धर्मो के प्रथम वर्गीकरण अर्थात् रूप, वेदना, संस्कार एवं विज्ञान के पंचस्कन्ध में रूप स्कन्ध के नाम से निरूपण किया गया है, वह ही आयतन वगीकरण में दस रूपो में विभक्त किया गया है जो आयतन वर्गीकरण की १ से ५ (पंचेन्द्रियाँ) और ७ से ११ पॉच इन्द्रियों के विषय (चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत, घ्राण, जिह्वा एवं काय) तक की सख्या में निरुपित है। इनमें 'अवज्ञप्ति' को और जोड़ दिया जाता है। इन ग्यारहों को रूप कहते हैं। इस प्रकार ग्यारह रूप हैं।

"रूपं पंचेन्द्रियाण्यार्थाः पंचाविज्ञप्तिरेव च।
तद्विज्ञानाश्रया रूपप्रसादाश्चक्षुरादयः।।"[९]

रूप शब्द का प्रयोग मात्र दृश्यता सम्बन्धी घटनाओं के लिए किया गया है क्योंकि रूप का प्राधान्य होने के कारण रूप का विशिष्ट अर्थ यही है—

"विशेषणार्थ प्राधान्याद् बहुधर्माग्रसंग्रहात्।
एकमायतनं रूपमेकं धर्मारण्यमुच्यते।।"[१०]

रूप धर्मो का दो भागों में विभाजन किया गया है— वर्ण एवं संस्थान। वर्ण आठ प्रकार के है (नील, लोहित, पीत, अवदात एवं उनके चार सम्मिश्रण)। संस्थान बारह प्रकार के हैं— (दीर्घ, ह्रस्व, वृत्त, परिमण्डल, उन्नत, अवनत, शान्त, विशान्त एवं उनके सम्मिश्रण)।

इसके विपरीत एक अन्य सिद्धान्त है जिसके अनुसार मात्र वर्णों की ही सत्ता है और संस्थान तो मानसिक संरचना मात्र है (मानसं परिकल्पितम्) जो वर्णों के वैविध्य पर समारोपित किये जाते हैं।

"रूप द्विधा, विंशतिधा, शब्दस्त्वष्टविधो रसः।

षोढा चतुर्विधोगन्धः स्पृश्यमेकादशात्मकम्।"[11]

सौत्रान्तिक इस सिद्धान्त को अधिक महत्व देते हैं। रेखा, उदाहरणार्थ हाथ से खीची गयी रेखा जो किसी विज्ञप्ति (वस्तु) का संकेत मात्र है, लम्बाई का रूप धर्म है।

इसी प्रकार किसी पक्षी के आकाश मे उडान की रेखा भी रूप धर्म है।

आयतन वर्गीकरण में रूप सम्बन्धी दस आयतनों का विहङ्ग दृष्टि से अवलोकन करने पर हम निश्चित रूप से इस धारणा पर पहुँचेंगे कि बौद्ध दार्शनिक इन्द्रियप्रदत्त के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का रूप (भूततत्व) नहीं मानते।

यह दो वर्गों में विभक्त हैं—(१) विषय, जो बाह्य वस्तुओं का द्योतक है तथा (२) इन्द्रिय, जो एक प्रकार का परिभाषक रूप या भूततत्व है जो शरीर के जीवित रहने पर समस्त शरीर में व्याप्त रहती है। यह वर्गीकरण हमें सांख्य–सिद्धान्त का स्मरण कराता है।[12] जिसके अनुसार प्रकृति (भूततत्व) का दो भिन्न रूपों में विकास होता है। प्रथम जहॉ सत्व का प्राधान्य होने पर पॉच ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है एवं द्वितीय जहाँ तमस का प्राधान्य होने पर विषयों के सूक्ष्मरूप तन्मात्राओं का सम्प्रत्यय बौद्धों के रूप धर्म के अत्यन्त सन्निकट है। दोनों में मुख्य भेद केवल इस बात में है कि जहाँ सांख्य के अनुसार उपर्युक्त तत्व प्रकति नामक नित्य द्रव्य के विकार हैं वहॉ बौद्ध–दर्शन के अनुसार ये मात्र इन्द्रियप्रदत्त हैं, किसी नित्य द्रव्य के विकार नहीं हैं।

रूप धर्म का वह अंश जिससे ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है रूप प्रासाद कहलाता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म है। यह मणिप्रभा के तुल्य है। इसका दो खण्डों में विभाजन नहीं हो सकता, इसको जलाया नहीं जा सकता, तौला नहीं जा सकता—

"छिनत्ति छिद्यते चैव बाह्यं धातु चतुष्टयम्।

दह्यते तुल्यत्येवं विवादों दग्धृतुल्ययोः।।"[13]

बाह्य रूप धर्म के परमाणु दो वर्गों में विभक्त हैं— १. सामान्य या मूलरूप धर्म के परमाणु तथा २. वर्ण ध्वनि स्प्रष्टव्य ध्राणादि रूप धर्म के परमाणु। महाभूत— धातुएँ संख्या में चार हैं जो साधारण भाषा में पृथ्वी, अप् (जल) तेज एवं वायु के नाम से जानी जाती है और खर, स्नेह, उष्णता एवं ईरण के माध्यम से व्यक्त होती हैं—

"भूतानि पृथिवी धातुरप्तेजो वायुधातवः।
धृत्यादि कर्म संसिद्धाः खर स्नेहोष्णतेरणाः।।"[14] (अभिधर्म कोश १, १२)

प्रत्येक संघात में ये चारों धातुएँ एक साथ और समान मात्रा में प्रकट होती है। किसी जलती हुई स्फुलिंग में उतनी ही उष्णता है जितनी किसी दारुखण्ड या जल में। अन्तर केवल उनके घनत्व (सप्रतिघत्व) में है।[15]

चित्त धर्म

आयतन वर्गीकरण में ६ चित्त एवं चैत्त धर्मो का निरूपण करते है। इस वर्गीकरण के सिद्धान्त के अनुसार वे निम्नलिखित दो सापेक्ष वर्गो का प्रतिनिधित्व करते हैं : इन्द्रिय एवं विषय। एक धर्म दूसरे धर्म से पृथक् है अर्थात् पृथग्धर्मता सिद्धान्त को वे भूत तत्व की भाँति चित्त के क्षेत्र में भी मानते हैं। इस सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने चित्त को दो प्रमुख अंगों में विभक्त किया है– विषयनिष्ठ भाग जो इन्द्रिय प्रदत्तों को ग्रहण करता है एवं चित्त, विज्ञान या मनस् कहलाता है।[16] यह विशुद्ध विज्ञान या शुद्ध संवेदन हैं जिसमें वस्तुतथ्य का सर्वथा अभाव है और द्वितीय भाग इसका विषयिनिष्ठ भाग है जिसमें स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना एवं अन्य ४६ पृथक चैत्त धर्म[17] सम्मिलित हैं।

इस प्रकार वेदनादि चैत्तधर्मो को इन दार्शनिकों ने चित्त के विषय के रूप में निरूपित किया है। इनकी यह मान्यता सांख्य–दर्शन से मिलती–जुलती है। इन चैत्त धर्मों को इन दार्शनिकों ने 'धर्मायतन–' या 'धर्म' के वर्गीकरण में स्थान दिया है। इन ४६ चैत्तधर्मों के अतिरिक्त इस वर्ग में १४ विप्रयुक्त संस्कार (तात्विक शक्तियॉ), आविज्ञप्ति (चरित्र सम्बन्धी धर्म) एवं तीन असंस्कृत धर्म सम्मिलित हैं। असंस्कृत धर्मों में निर्वाण प्रमुख है। अतः उपर्युक्त कारणों से धर्म शब्द का प्रयोग इस वर्ग का पर्याप्त रूप से बोध कराता है क्योंकि यद्यपि अन्य ११ वर्गों में भी धर्म (तत्व) सम्मिलित है, किन्तु उनमें से प्रत्येक पृथक् धर्म का द्योतक है।[18]

उपर्युक्त सभी धर्मों की सामान्य विशेषता यह है कि इनको ग्रहण करने में चित्त को इन्द्रियों की सहायता नहीं लेनी पड़ती। ये चित्त द्वारा अव्यवहित (प्रत्यक्ष) रूप से ग्रहण किए जाते हैं, किन्तु इन्द्रियों के विषयों के ग्रहण में चित्त का सहयोग अपेक्षित है। दूसरे शब्दों में ये मात्रचित्त

के विषय हैं, इन्द्रियों के नहीं। विज्ञान प्रति विज्ञप्ति है। ग्राहक चेतना की यह परिभाषा अत्यन्त मौलिक एवं अर्थ गर्भित है। इसके अनुसार विज्ञान प्रत्येक संज्ञान की सूचना अथवा अवबोध है चाहे उस संज्ञान का ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से हो अथवा अपरोक्ष रूप से स्वत. चित्त को हो।[19]

यद्यपि चित्त एवं चैत्त परस्पर एक–दूसरे से पृथक् हैं फिर भी अन्य धर्मों की तुलना मे ये अधिक नजदीकी माने जाते हैं। अनुभवमूलक जगत् में चित्त अपने शुद्ध रूप में कभी भी नहीं प्रकट होता। यह सदैव किसी न किसी गौण मानसिक[20] घटना (चैत्त) के साथ प्रकट होता है। इन मानसिक घटनाओं में वेदना, संज्ञा एव चेतना मुख्य हैं। स्कन्ध वर्गीकरण में ये तीन पृथक धर्मों के रूप में निरूपित होते हैं और शेष संस्कार स्कन्ध में रखे जाते हैं। वेदना सुख–दुःख एव अदुःखासुख के संवेग का अनुभव है।[21] यह ६ प्रकार की है जो चक्षुरादि पॉच रूपी इन्द्रियों के स्वविषय के साथ उत्पन्न होती है, जो मन–इन्द्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है।

कुल दस चैत्त धर्म ऐसे हैं जो प्रत्येक चेतन क्षण के साथ रहते हैं। इन्हें चित्त महाभूमिक कहा जाता है। ये निम्नलिखित है– वेदना, संज्ञा, चेतना, स्पर्श, छन्द (इच्छा संकाय), प्रज्ञा (मति), स्मृति, मनसिकार (सावधानी), अधिमोक्ष एव समाधि।

दस कुशल महाभूमिक धर्म हैं– श्रद्धा, वीर्य, उपेक्षा ही अपत्रपा, अलोभ, अद्वेष, अहिसा, प्रश्रब्धि एवं अप्रमाद। ये जीवन की परम शान्ति की प्राप्ति में सहायक हैं। दस अकुशल महाभूमिक धर्म हैं जो क्लिष्ट स्वभाव के हैं, और जीवन की परम शान्ति की प्राप्ति में बाधक हैं। कुछ ऐसे महाभूमिक धर्म हैं जिनका निश्चल नैतिक स्वरूप नहीं है। ये चेतना के साथ कभी–कभी रहते हैं, सदैव नहीं।[22]

संस्कार

चेतना एवं संस्कार की परिभाषाएँ एक–सी हैं। संस्कार वह है जो संस्कृत धर्मों को प्रकट (अभिसंस्करण) करता है। यह 'सम्भूय कारित्वम् है। सामान्यतः सभी धर्मो को द्रव्य एवं संस्कार में विभक्त किया जा सकता है। संस्कारों का विभाजन पुनः चैत्त (मानसिक) एवं चित्त विप्रयुक्त (अमानसिक) संस्कारों में किया गया है।

भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायों में संस्कार शब्द एवं तत्सम्बन्धी सिद्धान्त की महत्वपूर्ण भूमिका है। प्रायः इसका अर्थ कोई अव्यक्त रहस्यमयी शक्ति है जो आगे चलकर स्पष्ट तथ्य के रूप में प्रकट होती है। कभी–कभी यह 'अदृष्ट' शक्ति के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होती है जो स्वयमेव एक शक्ति हैं। आजीवक सम्प्रदाय इन संस्कारों के अस्तित्व को नहीं मानता। इसके विपरीत बौद्धों ने सभी धर्मों को कुछ हद तक सूक्ष्म संस्कारों में बदल दिया है। जितने ही सूक्ष्म धर्म थे उतना ही अधिक उन्हें संस्कार का रूप प्रदान किया गया।

बौद्ध–दर्शन में संस्कार किसी ऐसी धातु (शक्ति) के वास्तविक प्रभाव का द्योतक नहीं जो अपने अस्तित्व के बाहर किसी अन्य वस्तु में प्रविष्ट होती हैं। यह शक्ति तो उपकार है। संस्कार तो एक अवस्था मात्र है, एक तथ्य है जिस पर एक अन्य तथ्य का प्रादुर्भाव होता है अथवा वह स्वतः उत्कर्ष प्राप्त करता है।

बौद्धों की संस्कार विषयक धारणा से ऐसा प्रतीत होता है कि यह द्रव्य का एक सूक्ष्म रूप है। यद्यपि उनके अनुसार द्रव्य स्वतः पर्याप्त रूप से सूक्ष्म (तत्व) है। धर्मो के प्रथम वर्गीकरण में धर्म के विविध स्कन्ध जिस क्रम से रखे गये हैं उससे यह प्रतीत होता है कि यह स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर क्रमिक विकास है। रूप वेदना से स्थूल है, वेदना संज्ञा से। संस्कार तथा विज्ञान और अधिक सूक्ष्म हैं।[23]

विप्रयुक्त संस्कार सूक्ष्मतम संस्कार है। पूर्ण निर्वाण की प्राप्ति तभी हो सकती हैं जब इनका अन्ततोगत्वा पूर्वरूपेण शमन हो जाए क्योंकि इनकी गति एवं प्रभाव उन लोकों में भी है जहॉ जीवन पूर्णरूपेण आध्यात्मिक हो गया है। विप्रयुक्त संस्कार मुख्यतः चार हैं– जाति, जरा, स्थिति एवं अनित्यता। ये प्रत्येक जीवन के 'सार' है तदनन्तर 'प्राप्ति एवं अप्राप्ति' नाम के दो संस्कार हैं। ये व्यक्तिगत जीवन के निर्माणक धर्म समूहों (धर्म–स्कन्धों) का नियन्त्रण करते हैं तथा इनके सामान्य जीवन स्वभाव से असंगत धर्मों के प्रवेश को अवरूद्ध करते हैं।

सौत्रान्तिक एवं वसुबन्धु इन विप्रयुक्त संस्कारों का अस्तित्व नहीं स्वीकार करते। इन्हें वे प्रज्ञप्ति मात्र मानते हैं।[24] बौद्ध दर्शन ने अपने कारणता सिद्धान्त–प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुरूप ध्वनि की उत्पत्ति की व्याख्या करते हुए यह प्रतिपादित किया कि यह रूप परमाणुओं और ध्वनि परमाणुओं के सम्मिश्रण का परिणाम है। उनके अनुसार यदि कान में शब्द और रूप के परम तक

परमाणु एक साथ उत्पन्न हो तो श्रोत्र विशेष विज्ञान की उत्पत्ति होगी। किन्तु वाणी के ध्वनि की व्यंजना (निहितार्थ) की उत्पत्ति विशेष संस्कारों से प्रदर्शित की गयी है। बौद्धों ने वाणी की ध्वनि की व्यंजना शक्ति (अर्थवत्ता) की व्याख्या के लिए तीन संस्कारों की कल्पना की है।[२५]

भारतीय दर्शन के अन्य सम्प्रदायों के 'स्फोट' की भॉति यहॉ भी तीन संस्कार हैं। सभी भारतीय सम्प्रदायों में ध्वनि (स्फोट) के स्थूल एवं अभिव्यंजनात्मक (सूक्ष्म) पक्षों का विवेचन मिलता हैं। ये तीन संस्कार हैं–

१. व्यंजना (ध्वनि या संस्कार), जो संगीत के आधुनिक सिद्धान्त फोनिमात्र अर्थात् ध्वनि ग्राम स्वनिम से मिलता–जुलता है २. नाम (शब्दों का संस्कार) तथा ३. पद (शब्दों से सम्बन्धित धर्म) है।[२६]

सामान्यतया सामान्य विचारों को भी एक प्रकार का संस्कार माना गया है और इसे 'निकाय सभागता' का नाम दिया गया है। यह भारतीय दर्शन के अन्य सम्प्रदायों के सामान्य या 'जाति' के स्थान पर 'संस्कार' के रूप में विकसित किया गया है।[२७]

सामान्यतः जिन धर्मों का तर्कसंगत ढंग से अन्यत्र वर्गीकरण नहीं किया जा सका उन्हे इस संस्कार स्कन्ध में रखा गया है। थेरवाद सम्प्रदाय में एक पृथक् धर्म संघात के रूप में इसका अस्तित्व नहीं है किन्तु किसी विशेष कारण से उन्हें इस वर्ग के कुछ संस्कारों को रूप स्कन्ध में स्थान दिया है।[२८]

(४) धर्मों की निःस्वभावता

अस्तित्व संबंधी धर्मों और उनके विविध वर्गीकरणों के संक्षिप्त और तात्विक विवेचन के अनन्तर अब हम यह विचार करेंगे कि धर्मों का स्वभाव क्या है? बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार धर्मो का स्वभाव इस प्रकार हैं–

१. सभी नित्य एवं अनित्य धर्म जिनकी संख्या ७५ है, निःस्वभाव हैं। सभी धर्म अनित्य हैं। यह बात केवल भौतिक जगत् से सम्बन्धित ७२ अनित्य धर्मों पर ही लागू होती है। आकाश, संख्या निरोध और प्रतिसंख्या निरोध ये तीनो धर्म नित्य हैं, अतः अनित्यता सिद्धान्त इन पर नहीं लागू होता।

२ वे दुःख है। यह बात भौतिक जगत् के प्राणियों के एक अश पर ही लागू होती है। मोटे तौर पर यह पृथग्जन (साधारण मनुष्यों) पर लागू होती है न कि आर्यजन के धर्मो की विमल अवस्थाओ पर।

३. पूर्ण निर्वाण की अवस्था में दुःख का अन्त हो जाता है।

धर्म निःस्वभाव है (सर्व अनात्म हैं), क्षणिक हैं, और अनादि काल से अशान्ति की अवस्था में हैं। (सर्व दुःखम्) इनका पूर्ण निरोध ही एक मात्र शान्ति की अवस्था है। तिब्बतियों के अनुसार ये बुद्ध की चार मुद्राएँ हैं।

(५) अनात्मा

सामान्यतः अनात्मा शब्द का अनुवाद (नान सोल) के रूप में किया जाता है। किन्तु वस्तुत अनात्मा शब्द 'व्यक्तित्व' जीवात्मा, आत्मा, व्यक्ति, जीवित प्राणी, चेतन अभिकर्ता इत्यादि का पर्यायवाची है।

बौद्ध दर्शन व्यक्तित्व अथवा जीवात्मा (अनात्मा) को मूलभूत धर्मों मे विभक्त कर उनके स्वरूप का विश्लेषण करने का प्रयत्न करता है। अतः नैरात्म्य परम तत्वों के लिए प्रयुक्त एक निषेधात्मक संज्ञा है। वस्तुत· यह धर्मता का पर्याय है।[२९] दूसरे शब्दों में नैरात्म्य (अनात्मा) और धर्मता एक ही तत्व के दो लय है।

बौद्ध दर्शन में नैरात्म्य शब्द के स्थान पर संतान शब्द का प्रयोग किया गया है जो परस्पर संबद्ध तथ्यों की धारा है। १८ धातुओं में से अनेक धातुएँ इस संतान की उत्पत्ति में सहायता प्रदान करती हैं। यही बौद्ध दर्शन का आत्म–सिद्धान्त है, जो अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों में जीव या आत्मा संबंधी सिद्धान्त के विरोध में प्रतिष्ठित किया गया है।

वसुबन्धु का कथन है कि[३०] जिस किसी भी वस्तु का अस्तित्व है वह द्रव्य है। यशोमित्र भी यही मानते हैं। उनके अनुसार धर्म वह है जिसका स्वतः अस्तित्व होता है।[३१] वेदना, संज्ञा, संस्कार इत्यादि में अतिरिक्त आत्मा नहीं है इसीलिए धर्म को पारिभाषित करने की दृष्टि से अनात्मा कहा गया है।

बौद्ध दार्शनिकों ने न केवल आत्मा के तात्विक अर्थ का निषेध किया है अपितु उसके गुणो का भी निषेध किया है। उनके अनुसार आत्मा नाम का ऐसा कोई तत्व नहीं जिसमें गुण रहते हैं क्योंकि ऐसा मानने पर आत्मा और उसके गुणों में सम्बन्ध क्या है? उन दोनों को कौन तत्व जोडता है? इसकी व्याख्या करनी पड़ेगी। उनके दर्शन में आज समवाय जैसा कोई नित्य पदार्थ नहीं जो आत्मा (द्रव्य) और उसके गुणों को साथ रखता है। अतः बौद्ध दार्शनिको ने यह प्रतिपादित किया कि समस्त धर्म स्वतन्त्र हैं और स्वतन्त्र धर्म होने के नाते स्वयमेव द्रव्य हैं अतः प्रत्येक गुण धर्म है जो प्रत्यक्षरूप से अपने को अभिव्यक्त करता है अथवा सर्वास्तिवादियो के अनुसार लोकोत्तर बना रहता है फिर भी अपना प्रभाव डालता है और इसे ही हम गलती से 'गुण' की सज्ञा प्रदान करते हैं। अत· सभी इन्द्रिय प्रदत्त रूप स्वयमेव परमतत्व हैं। जब हम यह कहते है कि 'पृथ्वी मे गन्ध है' तो यह एक आंशिक या अपूर्ण अभिव्यक्ति है। हमे यह कहना चाहिए कि 'पृथ्वी' गन्ध आदि है।'' जो बात स्थूल भौतिक पदार्थों पर लागू होती है वही सत्य मानसिक द्रव्यों पर भी लागू होती है। जिस प्रकार पृथ्वी आदि भौतिक तत्व अनेक भौतिक धर्मों के संघात के लिए प्रयुक्त नाम (प्रत्यय) मात्र है इसी प्रकार आत्मा, चित्त इत्यादि आंशिक और चैतसिक गुणों के संघात के लिए प्रयुक्त नाम मात्र है, न तो भौतिक पदार्थ और न आत्मा। यही सिद्धान्त आगे चलकर धर्म नैरात्म्य और पुद्गल नैरात्म्य का रूप धारण किया। हीनयानी दार्शनिकों वैभाषिक (सर्वास्तिवाद) आदि की यह मान्यता थी कि आत्मा का अस्तित्व नहीं है वह मात्र पंच स्कन्ध है– रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का समूह मात्र है किन्तु वस्तुओं का अस्तित्व है। महायानी दार्शनिक विशेष रूप से विज्ञानवादी एक कदम और बढ़े और यह घोषित किया कि आत्मा की भाँति वस्तु का भी अस्तित्व नहीं है। जिस प्रकार आत्मा उपर्युक्त वर्णित और धर्मों का संघात मात्र है उसी प्रकार मेज, कुर्सी, पुष्प, अश्व, सिंह, हाथी और अट्टालिकाएं आदि भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखती। ये विविध भौतिक धर्मो की संघात मात्र हैं। इस प्रकार भौतिक पदार्थ और मानसिक पदार्थ दोनों का ही अस्तित्व नहीं है। नागसेन 'मिलिन्द पह्न' में मिनेण्डर के रथ के रूपक द्वारा आत्मा की व्याख्या करते हुए कहा था कि जिस प्रकार रथ, अश्व, चक्र, नेमि, डोर इत्यादि का समूह मात्र है, उसकी आत्मिक गुणों के संघात से पृथक् सत्ता नहीं। योगाचार दार्शनिकों ने मिलिन्द के सिद्धान्त को आगे बढ़ाते हुए यह प्रतिपादित किया कि जो बात आत्मा पर लागू होती है वही समस्त भौतिक पदार्थों पर लागू होती है। समस्त भौतिक पदार्थ भौतिक गुणों के संघात मात्र हैं, उनका अलग से कोई अस्तित्व नहीं अतः

आत्मा और भौतिक जगत् द्रष्टा और दृश्य, विषयी और विषय दोनों ही मय हैं, उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं।

(६) प्रतीत्यसमुत्पाद

यद्यपि बौद्ध दर्शन मे किसी ऐसे द्रव्य की कल्पना नहीं की गयी जो पृथक् धर्मो को देश या काल मे एकताबद्ध करे फिर भी उन पृथक् और स्वतत्र धर्मो के बीच एक सम्बन्ध है। देश और काल में इन धर्मो की अभिव्यक्ति कुछ निश्चित नियमों द्वारा संचालित होती है। ये कारणता के नियम हैं, जिन्हें प्रतीत्यसमुत्पाद की संज्ञा दी गयी है।

धर्मो का यह संस्कृतत्व (सुसम्बद्ध जीवन) कारणता सिद्धान्त का एक दूसरा नाम है— कुछ धर्मों के हेतु पर (प्रतीत्य), कुछ धर्मो की संयुक्त उत्पत्ति (समुत्पाद), यही प्रतीत्यसमुत्पाद है।[33]

वसुबन्धु का यह कथन है कि "धर्म सिद्धान्त" या "धर्म–संकेत" का यह अभिप्राय है कि अमुक प्रकार की घटना के होने पर अमुक घटना अवश्य होगी– अस्मिन् सति इदं भवति।[34] उदाहरण के लिए यदि मिट्टी का तेल है, लालटेन है, बत्ती है, जलाने वाला है, माचिस है, हवा नहीं चल रही है, और सामान्य अवस्थाएँ विद्यमान हैं तो लालटेन अवश्य जलेगी। कारणता सिद्धान्त का सर्वाधिक प्रचलित रूप द्वादश निदान या सिद्धान्त है। जिसकी द्वादश भूमियों मे जीवन–सरिता जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त अविछिन्न रूप से घूमती रहती है। एक प्रकार से यह कारणता का सीधा सिद्धान्त है जबकि कारणता के अन्य सिद्धान्त चक्रव्यूहात्मक सिद्धान्त है।[35]

सूत्रपिटक साहित्य में प्रतीत्यसमुत्पाद से भव–चक्र का ही बोध होता है। वसुबन्धु स्पष्ट शब्दों में यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या कारण है कि प्रतीत्यसमुत्पाद का विवेचन सूत्र एवं शास्त्र साहित्य में भिन्न रूपों में किया गया है? वे उत्तर देते हैं कि सूत्र में इस सिद्धान्त की व्याख्या एक विशेष उद्देश्य– व्यक्ति के जीवन में विकास को ध्यान में रखकर की गयी है जबकि शास्त्रों में इसके मूल (तत्व) अर्थात् सभी धर्मों के संदर्भ में की गयी है जो न केवल मानवजीवन अपितु निखिल जड़ चेतन जगत् की सृष्टि से संबंधित है।[36] सर्वास्तिवाद निकाय कुल छः प्रकार के कारण संबंध मानता है। इसके विस्तृत विवेचन में इन निकायों में पर्याप्त भेद हैं। यह भेद मूल विचारधारा मे परवर्ती विकास का द्योतक है।[37]

इस सिद्धान्त के पूर्ण विकसित स्वरूप का दर्शन होता है।[३८]

(७) कर्म

कर्म या कर्मवाद बौद्धदर्शन का एक प्रमुख सिद्धान्त है। बौद्ध दार्शनिकों ने नैतिक कारणता के क्षेत्र में बहुत ही गम्भीर खोज की है। बौद्धों ने तीन प्रकार के कारण माने हैं–

१. जड़ भूततत्व के धर्मों से सम्बन्धित कारणता का नियम–यहॉ कारण एवं कार्य के बीच एकरूपता का नियम लागू है। इसे उन्होंने सभाग हेतु कहा है।

२. जीवन जगत् में कारणता का सिद्धान्त– जहाँ हमें विकास की व्याख्या करनी है। इसे उन्होंने उपचय हेतु कहा है।

३. चेतन जगत, इसकी व्याख्या उन्होंने विपाक हेतु से की है। यहॉ जो घटनाये घटित होती हैं उनका संचालन मात्र प्राकृतिक नियमों द्वारा नहीं होता, नैतिक कारणता के नियम से भी होता है।

'अभिधर्म' में सृष्टि प्रक्रिया को नियन्त्रित करने वाली प्रमुख शक्तियों मे इसकी गणना की गई हैं। यह जगत का प्रत्यय (महापरिनिर्वाण) की ओर शनैः–शनैः ले जाने वाली प्रमुख शक्ति है। यह निम्नलिखित अवस्थाओं में लागू होती है–

कर्म का सिद्धान्त एवं विपाक हेतुओं का विपाक–फल जो हमारे विगत जीवन के नैतिक अथवा बौद्धिक कर्मों का फल है, केवल जीव–जगत् पर लागू होता है, किन्तु यह स्वतः अव्याकृत कर्म है, जो पूर्ववर्ती एवं गत जीवन के कर्मों का फल है। अतः यह अनैच्छिक एवं सहज है, ऐच्छिक एवं प्रयत्नजन्य नहीं है। यदि कोई वस्तु ऐच्छिक रूप से घटित होती है तो यह नये विकास का आरम्भ बिन्दु हो सकती है किन्तु यदि यह नई वस्तु प्रबल नैतिक स्वभाव की है, भले ही अच्छी या बुरी हो तो यह कर्म का रूप धारण कर लेगी और सहज रूप से भावी जीवन की घटनाओं पर प्रभाव डालेगी इसलिए वसुबन्धु ने कर्म की परिभाषा 'चेतयित्व करणम्'[३९] के रूप में की है। यही परिभाषा पालि निकाय में भी पायी जाती है और बौद्ध दर्शन में आरम्भ से ही प्रचलित जान पड़ती है।[४०]

नये जीवन के आरम्भ के समय इसे निर्मित करने वाली १८ धातुए अविकसित अवस्था में विद्यमान रहती है। इस नए जीवन के प्रथम क्षण को 'विज्ञान' कहते है जो द्वादश निदान की तीसरी कडी है। दूसरी कडी हमारे विगत नैतिक या अनैतिक कर्म है जिन्हें सस्कार की सज्ञा दी गयी है। तीसरा महत्वपूर्ण तत्व अविद्या है जो जन्म के पूर्व विद्यमान रहता हैं और प्रज्ञा के अभाव का द्योतक है। यह द्वादश निदान की प्रथम कड़ी है।

नए जीवन को निर्मित करने वाली धातुओं में दस भूततत्व हैं। ये परमाणु स्वरूप हैं। ये परमाणु यौगिक स्वरूप हैं। इनमें सामान्यतः आठ घटक पाये जाते हैं। इन आठ घटकों के अतिरिक्त, इनमें रूप, प्रसाद अथवा इन्द्रिय के कण भी विद्यमान रहते हैं। कायेन्द्रिय समस्त शरीर में विद्यमान है। पूर्ण अजैविक भूततत्व से सभाग हेतु का नियम लागू होता है। यहॉ एक क्षण दूसरे क्षण का अनुगमन करता है। यहॉ न उत्पत्ति है और न विनाश है। इससे हम बौद्ध दर्शन के तत्व की अनश्वरता का सिद्धान्त कह सकते हैं। जो आधुनिक विज्ञान के द्रव्य के विनाशहीनता सिद्धान्त से मिलता जुलता है।

यद्यपि जैविक शरीर मे भी यही भूततत्व विद्यमान है किन्तु यहॉ सभाग हेतु का सिद्धान्त नहीं लागू होता। यहॉ 'भूततत्व' एवं 'संभाग हेतु' के सिद्धान्त के अतिरिक्त उपचय एवं विपाक के नियम भी आरोपित कर दिए जाते हैं और जब यह जैविक एवं प्राणमय हो जाता है तो इसके क्षण 'उपचयज' एवं 'विपाकज' कहलाते हैं। विशुद्ध सभाग निष्यन्द सम्बन्ध केवल पूर्ण अजैविक भूततत्व के जगत में ही लागू होता है।

जब जैविक भूततत्व के परमाणु एकत्रित होते हैं तो उपचय के सिद्धान्त से विकास का नियन्त्रण होता है। यहाँ परमाणुओं की संख्या में वृद्धि होती है। विकास की प्रक्रिया में अनुकूल परिस्थितियों से सहायता मिलती है।

प्रश्न उठता है कि इन दोनों परस्पर भिन्न शक्तियाँ—उपचय और वंश परम्परा का आपस में क्या सम्बन्ध है? बौद्ध दार्शनिकों ने इसका स्पष्ट उत्तर नहीं दिया हैं। वसुबन्धु के अनुसार प्रथम चौखट का काम करता है जिसके भीतर कर्म का नियम प्रभावकारी होता है।[४१] किन्तु इससे वे क्या अर्थ समझते हैं, समझ में नहीं आता।

विपाक का कर्म सिद्धान्त जैन कर्मवाद की भॉति पूर्णरूप से भौतिक सिद्धान्त नहीं है वरन अर्द्धभौतिक प्रतीत होता है क्योंकि यह परमाणुओं की संरचना में हस्तक्षेप करता है।

८. क्षणभंगवाद

बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रत्येक धर्म एक क्षणमात्र है। यह क्षणिक है। प्रत्येक क्षण एक दूसरे से असंबद्ध है क्योंकि यहॉ कोई ऐसा द्रव्य नहीं जो इन प्रवाहशील क्षणों को सम्बद्ध करे। जिस प्रकार प्रत्येक क्षण देश की दृष्टि से कण मात्र हैं उसी प्रकार वह काल की दृष्टि से भी कण (क्षण) मात्र है। कोई भी धर्म आविर्भूत होते ही तिरोभूत (गायब) हो जाता है और उसका अनुमान एक वैसा ही दूसरा क्षण करता है। इस प्रकार क्षणों की अविच्छिन्न धारा चलती रहती है। उनमें आपस में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। इसकी तुलना हम देशकाल मे स्थित एक बिन्दु से कर सकते हैं।[४२]

सर्वास्तिवाद ने गणित पद्धति से क्षण के अध्व (अवधि) को निर्धारित करने का प्रयास किया है। वस्तुतः यह बुद्धि द्वारा कल्पित काल का लघुतम अंश (लवलेश) मात्र है। क्षण के आकार एवं अध्व की इस प्रकार संगणना स्पष्टतः अनन्त विभाज्य (सूक्ष्मतम) तत्व को पकड़ने का प्रयास मात्र है। अतः कोई भी धर्म परिवर्तित नहीं होता अपितु दृष्टि से ओझल हो जाता है। जगत् इस प्रकार क्षणों के आविर्भाव और तिरोभाव का चित्रपटल (सिनेमा) मात्र है। ओझल हो जाना अस्तित्व का स्वभाव ही है जो ओझल नहीं होता उसका वस्तुतः अस्तित्व ही नहीं है।[४३]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह निष्कर्ष आसानी से निकाल सकते हैं कि बौद्धों के अनुसार भाव और अभाव में कोई भेद नहीं है क्योंकि प्रत्येक तथ्य प्रकट होते ही ओझल हो जाता है। इसकी तुलना हम फ्रेंच दार्शनिक हेनरी वर्गसाँ के ग्रन्थ 'क्रिएटिव एवोल्यूशन' में प्रतिपादित परिवर्तन सिद्धान्त से कर सकते हैं। वे कहते हैं कि सत्य तो यह है कि हम बिना नष्ट हुए बदल रहे हैं और हमारा अस्तित्व परिवर्तन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। दोनों में अन्तर इस बात में है कि वर्गसाँ क्षण की अविभाज्यता पर बल देते हैं और बौद्ध दार्शनिक पृथक् धर्मों के अस्तित्व पर जिसकी उत्पत्ति और विनाश वे अभाव (शून्य) से मानते हैं। उनके अनुसार धर्मों की उत्पत्ति अभाव से होती है और अभाव में ही वे विलीन हो जाते हैं–[४४]

इस सिद्धान्त का तार्किक परिणाम यह निकला कि उन्होंने गति के अभाव की घोषणा की। अभिधर्म में विवेचित भौतिक वस्तुओं की गति इस सिद्धान्त का सर्वोत्तम समर्थन है कि भूततत्व क्षणिक अथवा क्षणभंगुर, अभिव्यक्तियो की श्रृखला है। इन अद्योगामी वस्तुओं की गति की व्याख्या इनमें व्याप्त गति के चार ईरण (गति के भार) की गुरूता की विविधता से की गयी है क्योंकि उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण भिन्न रूप में निर्मित है। इस प्रकार हम 'धर्म' की तुलना अग्नि से कर सकते हैं जो परस्पर अनुगमनशील सतत् प्रवाही पृथक् स्फुलिंगों की श्रृंखला है और प्रतिक्षण एक नूतन अग्नि को जन्म देती है।[५]

सर्वास्तिवाद ने धर्मो के क्षणभंगत्व का निम्नलिखित ढंग से निरूपण किया है–
अनुभवमूलक जगत में दृष्टिगोचर प्रत्येक धर्म युगपद् चार संस्कारों से प्रभावित होता है–
उत्पाद, जरा, स्थिति और अनित्यता। ये सस्कार प्रत्येक धर्म को प्रतिक्षण प्रभावित करते हैं।

ये चारों संस्कार युगपद् एवं निरन्तर प्रकट होते हैं। ये सहभू हैं। चूँकि ये स्वतः धर्म हैं (लक्षण) अत इन्हें अपने अर्थक्रियाकारित्व या क्षमता को प्रदर्शित करने के लिए कुछ उपलक्षणों की आवश्यकता है। इन्हीं उपलक्षणों की सहायता से ही अपनी क्षमता का प्रदर्शन करते है। हम सर्वास्तिवादियो के इस सिद्धान्त की तुलना न्यायवैशेषिक दर्शन के सयोग सिद्धान्त से कर सकते हैं। जिस प्रकार न्यायवैशेषिक दार्शनिक वस्तुओ के अतिरिक्त 'संयोग' नामक वास्तविक सम्बन्ध की सत्ता स्वीकार करते हैं जो इन वास्तविक वस्तुओं को जोड़ता है। उसी प्रकार सर्वास्तिवादी दार्शनिकों ने आविर्भूत एवं तिरोभूत होने वाले धर्मों (क्षणों) के अतिरिक्त इन चार संस्कारों की भी कल्पना की, जो उनके साथ उत्पन्न होते है। वे इन चारों संस्कारों तथा उपलक्षणों की वास्तविक सत्ता मानते हैं। (द्रव्यतः सन्ति)।

सभी बौद्धों और अबौद्धदार्शनिकों ने इस सिद्धान्त के विरुद्ध गम्भीर आपत्ति की है। इन दार्शनिकों के अनुसार एक ही धर्म की एक साथ उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश नहीं हो सकता। साथ ही साथ किसी धर्म के विषय में यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह दो क्षण रहता है क्योंकि दो क्षण दो धर्म के द्योतक हैं। सर्वास्तिवादियों ने इस आपत्ति का खण्डन किया और कहा कि किसी धर्म के वास्तविक स्वभाव और उसके कारित्व (कार्यक्षमता) में भेद है। धर्म अथवा संस्कार परस्पर विरुद्ध हो सकते हैं किन्तु उनका परिणाम एक हो सकता है। उन्होंने इस भेद का स्पष्टीकरण

दैनिक जगत् से एक उदाहरण देकर किया। उन्होंने कहा कि मान लीजिए तीन व्यक्ति मिलकर एक व्यक्ति की हत्या करते है। उनमे से एक व्यक्ति उसे छिपे स्थान से बाहर लाता है। दूसरा व्यक्ति उसे पकडता है और तीसरा व्यक्ति छुरा भोंकता है। ये तीनों एक साथ काम कर रहे है। इस प्रकार तीन व्यक्ति युगपद् एक कार्य का सम्पादन किए। वस्तुतः हमारी दृष्टि से क्षण कार्य की परिसमाप्ति का द्योतक है।[४६]

सौत्रान्तिक निकाय में इस प्रश्न के संदर्भ में एक और अधिक सरल तथा तर्क–सम्मत दृष्टिकोण अपनाया गया। सौत्रान्तिक दार्शनिकों ने ऊपर विवेचित किए गए उत्पाद, स्थिति, जरा और अनित्यता संस्कारों का अस्तित्व अस्वीकार किया।[४७] उनके अनुसार ये चारों संस्कार क्षणों की ओर नहीं इंगित करते अपितु उनकी सन्तान की ओर इंगित करते हैं।

वसुबन्धु ने अपने अभिधर्मकोश में 'विभज्यवादी' नामक सम्प्रदाय का विवेचन किया किया है जो इस सम्बन्ध मे सर्वास्तिवाद और सौत्रान्तिक दोनो से भिन्न दृष्टिकोण रखता है। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त उपर्युक्त दोनों सम्प्रदायों के मध्यवर्ती हैं। ये निम्नलिखित धर्मो को स्वीकार करते हैं–

१. वर्तमान के सभी धर्म।

२. भूतकाल के धर्मों के वे अंश जिनका प्रभाव अब भी अवशिष्ट है।

३. भूतकाल के उन धर्मों को नहीं मानते जिनका प्रभाव अवशिष्ट नहीं है तथा

४. भविष्य के धर्मो को नहीं मानते।[४८]

६. धर्म-क्षोभ (दुःखम्)

बौद्ध दर्शन के अनुसार सभी धर्म की तृतीय मुख्य विशेषता यह है कि दुःख है या दुःख का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके अनुसार "सभी धर्म दुःख है" का अर्थ है कि सभी धर्म निरन्तर गतिशील है और जगत् का परमलक्ष्य उन धर्मो की क्रमिकशान्ति और पूर्ण निरोध है। प्राचीन बौद्ध सिद्धान्त (ये धर्मा हेतु प्रभवाः) उपर्युक्त विचार को अत्यंत स्पष्ट रूप में व्यक्त करता है। भगवान् बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'सभी धर्म स्वतन्त्र और पृथक् हैं। वे कार्यकारण रूप में एक दूसरे से सम्बद्ध हैं और अन्त में उनका पूर्ण निरोध हो जाता है। वस्तुतः चार आर्य सत्य इन्हीं धर्मों का विभाजन है। धर्म (दुःख) है, उनका कारण (दुःखसमुदय) है, उनका निरोध है और उसका कारण

(दु·ख निरोध मार्ग) हैं। वस्तुतः धर्मो का सास्रव और अनास्रव में विभाजन भी दु खनिरोध और दुःखनिरोध मार्ग है। अतः ७२ सास्रव धर्म या ५ उपादान स्कन्ध रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान आदि है।[४६]

वसुबन्धु के निम्नलिखित कथन का भी यही अर्थ है–

"तथागत ने प्राणियों को कष्ट मे देखकर करुणा वश उसमें निवारण का उपाय बताया है जो जादू या धार्मिक कृपा मे नहीं अपितु सभी उत्पत्ति धर्मो को अनुत्पत्ति धर्मो में बदलने मे है अर्थात् धर्मो एवं उनके कारणों के प्रभाव को नष्ट करने मे है।"[५०]

धर्मों का यह तृतीय लक्षण धर्म–सिद्धान्त को मोक्षसिद्धान्त का रूप प्रदान करता है जो समस्त सैद्धान्तिक और व्यावहारिक बौद्ध दर्शन का परम सत्य है। संक्षेप में हम इस सिद्धान्त को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं। महापरिनिर्वाण की ओर क्रमिक विकास की दृष्टि से विवेचन करने पर धर्मो में दो प्रकार की विशेषताएं मिलेंगी–

या तो उनकी प्रवृत्ति–जीवन–गति और अशान्ति की ओर मिलेगी। इस अर्थ में ये सास्रव कहलाते हैं जो उद्वेगों से प्रभावित होते हैं।[५१]

अथवा उनकी प्रवृत्ति जीवन को कम करने, गति और अशान्ति को शान्त करने की ओर तथा पूर्ण निरोध की ओर मिलेगी। इस अर्थ में ये अनास्रव हैं।[५२] अर्थात् उद्वेगों और वासनाओं से अप्रभावित हैं। हमारे क्लेश वासनाएं जो तत्वत पृथक् धर्म हैं हमारे जीवन की सन्तान को प्रभावित करते हैं। दूसरे शब्दों में सास्रव धर्म साधारण मानव के अनुरूप हैं जो जीवन के सुखो और रागो में लिप्त हैं और दूसरे (अनास्रव धर्म) आर्य जन या सन्तों के अनुरूप है जो जीवन के सुखों और संसार से वीतराग हैं और केवल निर्वाण की इच्छा रखते हैं। अतः निर्वाण के लिए 'धर्म प्रविचय' (घर्मों के वास्तविक स्वरूप का पूर्ण ज्ञान) आवश्यक है क्योंकि उनका ज्ञान होने पर उन्हें अलग किया जा सकता है और अलग करने के बाद उन्हें नष्ट किया जा सकता है।[५३]

उपर्युक्त विवेचन से हमें धर्मों के सम्बन्ध में तीन सम्प्रत्ययों का बोध होता है–

धर्मों के स्वरूप का पूर्ण रूप से निर्धारण संभव है अर्थात् उन्हें जीवन की जटिल सन्तान में से परमतत्व के रूप में अलग किया जा सकता है।

ये नित्य संक्षेप की आवस्था में हैं और दु:खरूप हैं।

उनका पूर्ण दमन (हानि) तथा पूर्ण निरोध अनिवार्य है तथा सभव है।

उपर्युक्त विवेचन में एक विशेष धर्म का असाधारण महत्व है और वह है प्रज्ञा। यह एक चित्त महाभूमिक धर्म है। वेदना, सज्ञा, विज्ञान आदि इसकी उपस्थिति से शुद्ध हो जाते है। अकुशल धर्मो के विकास को यह अवरूद्ध करती है।

प्रत्येक अकुशल धर्म प्रज्ञा की प्रक्रिया में अपनी विशिष्ट भूमिका निभाता है। इसका पूर्ण रूप से दमन होने पर यह अनुत्पत्ति धर्म हो जाता है और इसके क्रियाकलाप का अन्त हो जाता है। फिर उसकी कभी उत्पत्ति नहीं होगी। इस निरोध को प्रतिसंख्या निरोध कहते हैं। इस प्रतिसंख्या को ही 'प्रज्ञाऽमला' कहते है। सांख्ययोग दर्शन में इसे ही प्रज्ञा या प्रसंख्यान कहा गया है। बौद्धदर्शन में प्रत्येक धर्म एक दूसरे से पृथक हैं और प्रत्येक को नष्ट करने के लिए विशिष्ट बौद्धिक कार्य की आवश्यकता है। अत. इन दार्शनिको ने सख्या के लिए प्रतिसख्या शब्द का प्रयोग किया है। (अभिधर्मकोश १/४)

अभिधर्मकोश में यह प्रश्न उठाया गया है कि कौन से धर्म ऐसे हैं जिनका प्रतिसख्या या प्रज्ञा द्वारा निरोध होता है। उदाहरणार्थ, नित्य आत्मा में आस्था (सत्काय दृष्टि) पुद्गल एवं उसके आनुषंगिक–वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान का विनाश अनात्मवाद अथवा धर्मतावाद का ज्ञान होने से होता है–

निम्नलिखित १५ सास्रव धर्मों का निरोध[५५] द्वारा होता है–

१. चक्षुरीन्द्रिय आयतन
२. श्रोत्रेन्द्रिय आयतन
३. घ्राणेन्द्रिय आयतन
४. जिह्वेन्द्रिय आयतन
५. कायेन्द्रिय आयतन
६. रूपायतन
७. शब्दायतन

८. गन्धायतन

९. रसायतन

१० स्प्रष्टव्यायतन

११. चक्षुर्विज्ञान धातु

१२. श्रोतविज्ञान धातु

१३. प्राण विज्ञान धातु

१४. जिह्वा विज्ञान धातु

१५. कार्य विज्ञान धातु।

चूँकि यहाँ भूततत्व की कल्पना संस्कारों के खेल के रूप में की गयी है अत. मिथ्या दृष्टियों एवं वासनाओं के तिरोभाव की ही भाँति भूततत्व के तिरोभाव का भी सिद्धान्त कुछ अधिक तार्किक नहीं प्रतीत होता।

आर्य के अनास्रव धर्मों का कथमपि निरोध नहीं होता। निर्वाण की अवस्था में नये कर्मों अर्थात् दुःख धर्मों का निरोध हो जाता है। इस कारण निर्वाण की अवस्था में इनका भी निरोध हो जाता है।

ऐन्द्रिय जगत का निरोध हो जाने पर अवशिष्ट या विशुद्ध भूततत्व के लोक ही शेष रह जाते हैं। ये लोक मनोकल्पित हैं जिनमें हम पुनर्जन्म या समापत्ति द्वारा पहुँचते हैं। किन्तु सम्यक् प्रयत्न अथवा साधना द्वारा हम उन लोकों के भी ऊपर चढ़ जाते हैं। इसके बाद फिर वह अवस्था आती है अथवा हम उस लोक में पहुँचते हैं जो विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक हैं। पारिभाषिक शब्दावली में इन लोकों में रहने वाले प्राणी केवल तीन धातुओं से युक्त हैं–

(१) मनोधातु।

(२) धर्म धातु।

(३) मनोविज्ञान धातु।

ध्यान की अत्यधिक ऊँची अवस्था में इन विशुद्ध आध्यात्मिक प्राणियों के चित्त और चैतसिक धर्मों का भी लोप हो जाता है। यह असंज्ञि – समापत्ति और निरोध सभापत्ति की अवस्था है। किन्तु फिर भी यह पूर्ण निरोध या निर्वाण की अवस्था नहीं है।

इसके अनन्तर एक ऐसी अवस्था आती है जहॉ उच्चतम आध्यात्मिक प्राणियो के शुद्ध धर्मो का भी लोप हो जाता है और उसके स्थान पर नित्य शून्य की स्थापना हो जाती हैं। यह निर्वाण अथवा समस्त संस्कृत धर्मों के पूर्ण निरोध की अवस्था है अथवा असंस्कृत धर्मों के उपस्थिति की अवस्था है।

सर्वास्तिवादियों के अनुसार निर्वाण अवस्था भी एक प्रकार की भावात्मक सत्ता है। इस प्रकार सृष्टि प्रक्रिया (भवचक्र) का अन्तिम लक्ष्य हमारी समस्त साधनों और अष्टाङ्ि.ग मार्ग के अनुसरण का फल चित्त (चेतना) और चैतसिक धर्मो का पूर्ण निरोध है।

इस सिद्धान्त की प्रतिध्वनि वैशेषिक दर्शन में भी मिलती है जो मुक्तात्मा को पाषाणवत् अथवा आकाशवत् निर्जीव मानता है और यह प्रतिपादित करता है कि संज्ञान, वेदना, चेतना आदि आत्मा के सहजगुण नहीं हैं अपितु आगन्तुक धर्म हैं जो इन्द्रियार्थादि के विशेष संसर्ग से उत्पन्न होते हैं और पूर्ण निःश्रेयस की प्राप्ति हो जाने पर उनका अन्त हो जाता है और आत्मा चेतनाशून्य हो जाती है।

भारतीय दार्शनिकों ने वैशेषिक–मुक्ति सिद्धान्त की कटु आलोचना करते हुए अलग से प्रार्थना की कि प्रभो ! मुझे वृन्दावन के जंगलों में श्रृंगाल के रूप में भले ही जन्म दे दीजिए किन्तु वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित मोक्ष कभी मत दीजिए क्योंकि श्रृंगाल होने पर भी चेतना तो अवशिष्ट रहेगी और मैं आप के सानिध्य की अनुभूति करूँगा किन्तु वैशेषिक मुक्ति प्राप्त करने पर आत्मा पाषाणवत् निर्जीव हो जाएगी और आपका सानिध्य होते हुए भी आप की अनुभूति से वंचित रह जाऊँगा।

वरं वृन्दावनेऽरण्ये श्रृंगालत्वं व्रजाम्यहम्।
नतु वैशेषिकीं मुक्तिं कामयेऽहं जनार्दन।।[५६]

इसके विरीत परमतत्व पूर्णरूपेण आध्यात्मिक केवल सांख्य और वेदान्त आदि दर्शनों में है जहाँ ब्रह्म का लक्षण किया गया है और ज्ञान के स्वप्रकाशत्व सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।[५७]

१०. संज्ञान सिद्धान्त

किसी दार्शनिक सम्प्रदाय के स्वरूप का बोध सामान्यतः उसके संज्ञान–सिद्धान्त से होता है। इसी को देखकर हम आसानी से यह निर्णय कर लेते हैं कि वह वस्तुवादी निकाय है अथवा प्रत्ययवादी। भारतीय दर्शन में वस्तुवादी और प्रत्ययवादी दोनों ही सिद्धान्त मिलते हैं। न्याय पूर्णरूपेण वस्तुवादी है। दिड्.नाग और धर्मकीर्ति इन्द्रियातीत सज्ञान सिद्धान्त मानते हैं जिसकी तुलना कुछ हद तक कांट के दर्शन से की जा सकती है। सांख्य–योग भी बहुत कुछ वस्तुवादी है। वेदान्त अद्वैतवादी होते हुए भी संज्ञान क्षेत्र में बहुत कुछ वस्तुवादी है। बौद्ध दार्शनिकों की ज्ञान की उत्पत्ति की व्याख्या उनकी तत्वमीमांसा अर्थात् अनेक पृथक् और अन्योन्याश्रित धर्मों के सिद्धान्त, ये पूर्ण रूप से संगत है–

उनके अनुसार ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया एक यौगिक एवं जटिल प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में अनेक धर्म एक साथ दूसरे के सानिध्य में आते हैं। यद्यपि प्रत्येक धर्म क्षणिक है जो न तो एक दूसरे की ओर नमन कर सकता है न एक दूसरे के संपक्र में आ सकता है और न दूसरे को प्रभावित कर सकता है। कारण बुद्धि ग्राह्य भी नहीं है फिर भी प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त से शासित होने के कारण तथा धर्मों का कुछ धर्मों के साथ नियत रूप से प्रकट होने के कारण किसी वस्तु का ज्ञान संभव होता है। उदाहरण के लिए रूप (रंग आदि) का ग्रहण करते समय इसका क्षण, चक्षुरिन्द्रिय का क्षण और चित्त का क्षण तीनों एक साथ प्रकट होते हैं, इस कारण रूप के सवदेन (स्पर्श) को जन्म देते हैं। यही बात शब्द, गन्ध, रस आदि के संज्ञान पर भी लागू होती है। यही बात चित्त धर्म पर भी लागू होती है क्योंकि चित्त भी कभी भी अकेला नहीं प्रकट होता। यह विषय और इन्द्रिय के साथ प्रकट होता है।[५८]

बौद्ध ज्ञान मीमाँसा के उपर्युक्त सिद्धान्त के विरुद्ध एक गम्भीर प्रश्न उठता है कि यदि रूप, चक्षुरिन्द्रिय एक दूसरे से पृथक् धर्म हैं और संयोग वश एक साथ प्रकट हो जाते हैं और किसी

चेतन अथवा सत्ता से सम्बद्ध भी नहीं है और आपस में एक दूसरे को प्रभावित भी नहीं करते तो भी बुद्धि द्वारा वस्तु का ज्ञान होता है। जैसा कि प्रत्येक व्यक्ति को व्यावहारिक जीवन में अनुभव होता है, यह कैसे संभव होता है? एक अन्य प्रश्न यह उठता है कि ऊपर के उदाहरण मे जो संज्ञान हमें प्राप्त होता है वह 'रूप' का ही क्यों है 'चक्षुरिन्द्रिय' का क्यों नही, जबकि बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार रूप संज्ञान की प्रक्रिया मे 'रूप' की ही भॉति चक्षुरिन्द्रिय भी समान रूप से भाग लेती है।

बौद्धों के अनुसार चित्त और रूप में 'सारूप्य' नामक एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध है इसलिए उपर्युक्त उदाहरण में वह रूप का ही संज्ञान है, चक्षुरिन्द्रिय का नही।

यद्यपि यह उत्तर हास्यास्पद है किन्तु बौद्ध दर्शन में ही नहीं अपितु भारतीय और विश्व समस्त दर्शन में तक्र करते करते हम एक ऐसी स्थिति[५९] पर पहुँचते हैं जहॉ तक्र की शक्ति क्षीण हो जाती है और हमें बाध्य होकर यह कहना पडता है कि हमें इसे इसलिए नहीं स्वीकार करना है कि यह तक्र सिद्ध हो रहा है अपितु इसलिए कि इसे स्वीकार करना अपरिहार्य है इससे हम बच नहीं सकते। अभिधर्म में इस ज्ञानसिद्धान्त की व्याख्या निम्नलिखित रूप में की गयी है–

प्रश्न – शास्त्र में हम पढ़ते है कि चित्त विषय को ग्रहण करता है। यहॉ ग्रहण का क्या अर्थ है? कुछ नहीं। इसका अर्थ मात्र यह है कि चित्त अपने विषय से सारूत्य रखता है और इसे हम 'ग्रहण' कहते हैं। जब कोई कार्य अपने कारण के अनुरूप होता है तो वस्तुत कारण किसी कार्य का सम्पादन नहीं करता फिर भी हम कहते हैं कि वह कार्य करता है। इसी प्रकार जब चित्त अपने विषय के सारूप्य में प्रकट होता है तो वस्तुतः वह कुछ नहीं करता फिर भी हम कहते हैं कि वह कार्य करता है। (चित्त और वस्तु में) "सारूप्य" से आप क्या समझते हैं? चित्त और वस्तु में संगति ही सारूप्य है। इसी संगति के फलस्वरूप संज्ञान चक्षुरिन्द्रिय से भिन्न है यद्यपि वह चक्षुरिन्द्रिय द्वारा सम्पादित होता है। "चित्त ग्रहण करता है" का केवल यह अर्थ है कि पूर्ववर्ती क्षण परवर्ती क्षण का कारण है। संज्ञाता भी कारण का ही बोधक है। जिस प्रकार हम दैनिक जीवन में कहते हैं कि "घण्टा बज रहा है" यद्यपि घण्टा कुछ नहीं कर रहा है अपितु पूर्ववर्ती ध्वनियाँ अपनी परवर्ती ध्वनियों से संबद्ध है अथवा हम इसे एक–दूसरे उदाहरण से समझा सकते हैं कि "प्रकाश घूमता है"।[६०]

प्रश्न – और प्रकाश कैसे घूमता है?

उत्तर – इसे हम दीपक के प्रकाश के उदाहरण से समझा सकते है। वस्तुतः दीपक का प्रकाश की लौ की अनवरत श्रृंखला के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जब इसकी उत्पत्ति स्थान बदल देती है तब हम कहते हैं कि प्रकाश हिल रहा है किन्तु वास्तविक तथ्य यह है कि अन्य स्थान पर प्रकाश की लौ उठ रही है। इसी प्रकार चेतन क्षणों की अनवरत धारा को ही सामान्य भाषा में चेतना कहते है। जब यह स्थान बदलती है (अर्थात् अन्य वस्तु के सारूप्य मे प्रकट होती है) तो हम कहते हैं कि यह विषय को ग्रहण कर रही है।

इसी प्रकार भौतिक वस्तुओं को भी समझना चाहिए।

यही बात चेतना के बारे में भी समझना चाहिए। चेतना की क्षणिक सन्तानों के अतिरिक्त चेतना नामक कोई चीज नहीं जो संज्ञान करती है।[६१]

इस दर्शन में वाह्य जगत् के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता। जो दर्शन व्यक्ति (वस्तु) के अस्तित्व को नहीं मानता और प्रत्येक वस्तु को विभिन्न धर्मों का संघात मानता है और उनमें कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं मानता, वहाँ वाह्य और आन्तरिक जगत् के भेद की सम्भावना नहीं। आन्तरिक जगत् भी नहीं है। इसके सभी धर्म एक दूसरे से भिन्न है। फिर भी वाह्य और आन्तरिक, व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ के भेद को पूर्ण रूप से हटाया न जा सका और हम देखेगे कि (इस प्रकार के) ताक्रिक निगमनों के फलस्वरूप कभी–कभी दार्शनिक को विचित्र स्थिति का सामना करना पडता है। कभी–कभी अन्य धर्मों के परिप्रेक्ष्य में चेतना को ही वाह्य माना जाता है। उदाहरण के लिए संज्ञा, वेदना, चेतना और संस्कार को वाह्य धर्म माना जाता है। अभिधर्मकोश में इस प्रश्न का निम्नलिखित विवेचन है–

प्रश्न – १८ धातुओं में कितनी आन्तरिक हैं और कितनी वाह्य?

उत्तर – १८ धातुओं में १२ को आन्तरिक और छः (रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य और धर्मो) को वाह्य माना जाता है।

प्रश्न द्वादश – आन्तरिक धातुएँ कौन सी हैं? और वाह्य धातुएँ कौन सी हैं?

उत्तर – षड्विज्ञानकाय १– चक्षुर्विज्ञान २– श्रोत्रविज्ञान ३– घ्राणविज्ञान ४– जिह्वाविज्ञान ५– कायविज्ञान और ६– मनोविज्ञान।

षड्विज्ञानाश्रय १– चक्षुरिन्द्रिय २– श्रोत्रिन्द्रिय ३– घ्राणेन्द्रिय ४– जिह्वेन्द्रिय ५– कायेन्द्रिय और मन। और शेष षड्विषय – १– रूप, २– शब्द ३– गन्ध ४– रस ५– स्पष्टव्य और ६– धर्म हैं।

प्रश्न – यदि आत्मा का अस्तित्व ही नहीं तो किसके परिप्रेक्ष्य में वाह्य एव आंतरिक का भेद किया जाता है?

उत्तर – चेतना को ही लाक्षणिक अर्थ में आत्मा कहा जाता है। भगवान् बुद्ध ने भी ऐसे प्रयोग किये हैं। उदाहरण के लिए वे कहते हैं कि बुद्धिमान व्यक्ति जिसने आत्मा पर नियन्त्रण कर लिया है, स्वर्ग जाता है। चेतना पर नियंत्रण ऐश्वर्य, सुख, शान्ति, समृद्धि एवं वैभव है। चेतना पर नियत्रण से आनन्द की प्राप्ति होती हैं। चक्षुरिन्द्रिय और अन्य इन्द्रियों स्वसम्बन्धित संवेदनों के आश्रय हैं जबकि चेतना आत्मा के प्रत्यक्षीकरण के लिए आश्रय (मूलभूत धर्म) हैं। अतः चेतना से घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण इन्द्रियों को भी आन्तरिक कहा जाता है।[६२]

किन्तु उपर्युक्त व्याख्या समुचित नहीं जान पडती। आंतरिक धर्म की यह परिभाषा चेतना पर नहीं लागू होती। यदि 'आन्तरिक' होने के लिए चेतना का आश्रय होना आवश्यक है, जैसे चक्षुरिन्द्रिय चक्षुर्विज्ञान का आश्रय है तो चेतना आंतरिक है।[६३] यद्यपि यह व्याख्या अत्यन्त हास्यास्पद है फिर भी हम इसे स्वीकार करने के लिए बाध्य हैं क्योंकि, धर्म या धर्म धातु अर्थात् विज्ञान, समस्त चैतसिक धर्म और संस्कार इस निकाय में बाह्यधर्म के रूप में माने जाते हैं। यह इस निकाय का स्वय सिद्ध सिद्धान्त है किन्तु इस सिद्धान्त से हमारा व्यावहारिक जीवन तनिक भी प्रभावित नही होता। व्यावहारिक जीवन में हम यह कह सकते हैं कि वस्तुएं इन्द्रियों के सम्पर्क में आती हैं।

इन्द्रिय और उसके विषय के बीच वास्तविक संबंध की सम्भावना के लिए निम्नलिखित व्याख्याएं मिलती हैं।

दूसरी ओर सामीप्य से कार्य करने की शक्ति को ध्यान में रखकर उन्होंने इन्द्रियों को दो भागों में बाँटा है–

(क) चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत इन्द्रियः– इन्हें अपने विषय से कुछ दूरी पर रहना चाहिए। चक्षुरिन्द्रिय से देखने के लिए विषय से उसकी दूरी अपरिहार्य है। घ्राण, जिह्वा और कायेन्द्रिय के विषयों को समीपस्थ होना चाहिए।

प्रश्न उठता है कि यदि गति नहीं तो इन्द्रिय और उसके विषय में संबंध कैसे सम्भव होता है? बौद्ध दार्शनिक इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि दो धर्मो के अत्यंत निकट होने की स्थिति का नाम ही सम्बन्ध है।

इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध का प्रश्न अत्यंत विवादस्पद है। इस सिद्धान्त की व्याख्या के लिए कई सिद्धान्त प्रतिपादित किए कए हैं– वैभाषिकों के अनुसार जब इन्द्रिय और विषय सम्पर्क में आते हैं अथवा दूसरे शब्दों में जब इन्द्रिय एवं उसके विषय की एक साथ उत्पत्ति होती है तो उन दोनों की स्थिति उत्पन्न समीप होनी चाहिए। उनके बीच कोई तीसरी वस्तु नहीं होनी चाहिए। वसुबन्धु इस सिद्धान्त का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार यदि हम यह स्वीकार करें कि परमाणु (जिससे वस्तुयें निर्मित होती हैं) वस्तुतः सम्पर्क में आते हैं तो हमें यह मानना पडेगा कि वे दो क्षण तक स्थित रहते हैं किन्तु यह क्षण–भंगवाद के विरुद्ध है। प्रत्येक परमाणु क्षणिक है अतः उनका सम्पर्क में आना असंगत है। यह सम्पर्क एक दूसरे द्वारा होगा जो दूसरे क्षण उत्पन्न होता है। वस्तुतः सम्पर्क नाम की कोई चीज नहीं है। यह दो वस्तुओं (दो आविर्भूत वस्तुओं) की अत्यत समीपता एवं निरन्तर उत्पाद है। वसुमित्र और भदन्त के कथनों से भी वसुबन्धु के सिद्धान्त की पुष्टि होती है।[६४]

(१) रूप स्वभाव के विषय में अभिधर्मकोश में दो मत हैं।[६५] यदि अन्य व्यक्ति के व्यक्तित्व (सन्तान) उसकी इन्द्रियों और उसके विषय का प्रश्न है तो वह बाह्य है और यदि मेरा अपना व्यक्तित्व, इन्द्रियॉ और विषय विचारणीय हैं तो वह आन्तरिक है।

(२) अथवा हम इसके बाह्य और आंतरिक स्वरूप का विवेचन संज्ञान के आयतनों के अनुसार करें जिससे प्रत्येक वस्तु का उसकी इन्द्रिय के अनुसार वर्गीकरण किया गया है। पाँच इन्द्रियाँ आन्तरिक आश्रय हैं और उनके विषय रूप, रस गन्धादि बाह्य विषय है।[६६]

चूँकि बाह्य एवं आंतरिक मे वास्तविक भेद नहीं है इस प्रकरण के प्रत्यक्षीकरण मे इन्द्रियॉं कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं अदा करतीं। वे प्रतीत्यसमुत्पाद नियम के द्वारा सम्बद्ध युगपद् उपस्थित तथ्यमात्र है। अतः यह कथन कि चक्षुरिन्द्रिय रूप (रंग) देखती है यह वास्तविक वर्णन नहीं मात्र लाक्षणिक वर्णन है जिसका विवेचन संज्ञान की प्रक्रिया में विशद रूप से किया गया है। संज्ञान की उत्पत्ति को लेकर विज्ञानवादियों में और सर्वास्तिवादियों में गहन मतभेद है। विज्ञानवादियो के अनुसार संज्ञान की उत्पत्ति चित्त से होती है। इन्द्रिय का स्थान शून्य है। सर्वास्तिवादी इस सिद्धान्त का खण्डन करता है। इसके अुनसार यदि मात्र चित्त से ही संज्ञान की उत्पत्ति होती और इन्द्रियों का उसकी उत्पत्ति में तनिक भी हॉथ न रहता तो चित्त को किसी दीवार के पीछे की वस्तुएं भी दिखाई पडनी चाहिए।[43] किन्तु ऐसा नहीं होता। पुनश्च वह (सर्वास्तिवाद) प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया में चेतना और ज्ञानेन्द्रियों का भेद बताने के लिए अनेक व्याख्याओं की समीक्षा करता है। पुनश्च वह अपने मत के समर्थन मे बुद्ध वचन को भी उद्धृत करते हैं– ब्राह्मण! चक्षुरिन्द्रिय रूपी दरवाजा से चित्त (विज्ञान) रूप देखता है। अतः इन्द्रिय दरवाजा मात्र है, द्रष्टा तो चित्त है।[44]

पुनश्च यदि विज्ञान ही द्रष्टा है तो वह कौन सा व्यक्ति है जो इस ज्ञान की उपस्थिति के प्रति जागरूक रहता है। 'कोई रंग देखना' और 'किसी रंग के देखने के प्रति जागरूक होना' इन दो अभिव्यक्तियों में क्या अन्तर है? विज्ञानवादी इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहता है कि यद्यपि वह धर्म जो चेतना उत्पन्न करता है उसके विषय में वास्तविक रूप में यह नहीं माना जा सकता कि वह देखता है किन्तु फिर भी व्यवहार में लोग दोनों प्रकार से बोलते हैं कि 'वह देखता हैं' और "वह उस वस्तु के प्रति जागरूक है।" जैसे प्रज्ञा के विषय में हम दोनों ही प्रकार से कहते हैं कि 'वह इसे देखता है' और 'वह इसे समझता है।'

सर्वास्तिवादी का कथन है कि किसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण करते समय चक्षुरिन्द्रिय और "विज्ञान" वस्तुतः कोई काम नहीं करते। वे किन्हीं विशेष परिस्थितियों में युगपद् उत्पन्न होते हैं। चक्षुरिन्द्रिय एवं उसका विषय एक साथ सान्निध्य में आते हैं और विज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है और इस सान्निध्य मात्र से रूप का संवेदन होता है। जिस प्रकार कि सूर्य के उदय होने से दिन की उत्पत्ति हो जाती है किन्तु दिन की उत्पत्ति में सूर्य कोई कार्य नहीं करता (सूर्य का उदय होना ही दिन है)।

सैत्रान्तिक दार्शनिक भी इसी सिद्धान्त को स्वीकार कर लेता है और इस टिप्पणी के साथ विवाद समाप्त कर देता है कि 'वह देखता है और वह इस विषय के सम्बन्ध में जागरूक है' यह विवाद निरर्थक है, यह शून्यकाल को चबाने जैसी बात है।[६९]

वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक दार्शनिकों में संज्ञान सिद्धान्त पर तात्विक भेद नहीं है। वे यह मानते हैं कि यह एक जटिल प्रक्रिया है जो अनेक परस्पर सम्बद्ध किन्तु पृथक् धर्मों के सहयोग से सम्पन्न होती है। इन अनेक धर्मो में विज्ञान का रहना भी आवश्यक है।[७०]

ऊपर विवेचित बौद्धों के १५ सज्ञान सिद्धान्त का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि साख्य दर्शन के सज्ञान सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए इस सिद्धान्त का निरूपण किया गया है क्योंकि सांख्य आत्मा और इन्द्रिय के कार्यो में भेद स्थापित करता है और कहता है कि इन्द्रिय देखती है और आत्मा या पुरूष ज्ञान प्राप्त करता है।[७१]

मीमांसक दार्शनिकों ने भी सांख्य सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए प्रत्यक्ष के दो भेद किए हैं–प्रथम, 'आलोचना' या निर्विकल्प प्रत्यक्ष :–

यह बाल प्रत्यक्ष है जहाँ बुद्धि की भूमिका का सर्वथा अभाव है और द्वितीय सविकल्प प्रत्यक्ष जहाँ बुद्धि सक्रिय रूप से भाग लेती है।[७२]

किन्तु बौद्ध संज्ञान सिद्धान्त का सूक्ष्म विवेचन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुॅचेगें कि यह सिद्धान्त प्रच्छन्न रूप से सांख्य संज्ञान सिद्धान्त को ही मानता है भले ही बाह्‌य रूप से उसका खण्डन करे। सांख्य का चित्त या पुरूष और बौद्धों का विज्ञान दोनों ही पूर्ण रूप से निष्क्रिय है। दोनों ही तथ्य शून्य और वस्तुशून्य ज्ञान हैं। दोनो ही ज्ञानस्वरूप हैं किन्तु किसी ज्ञान विशेष का उनमें सर्वथा अभाव है। वे शुद्ध संवेदन और मात्र बोध हैं और ऐसे द्रव्य हैं जिनमें न तो गुण है और न गति है। वे ज्ञान के प्रकाश मात्र हैं जो घटना के साथ स्थित रहते हैं और न उनसे किसी प्रकार प्रभावित होते हैं।[७३] उन दोनों में मात्र इतना ही अन्तर है कि सांख्य का पुरूष कूटस्थ नित्य है जबकि बौद्धों का विज्ञान क्षणिकप्रवाह है जो अन्य धर्मों के सान्निध्य में उपस्थित रहता है।[७४] बौद्धों और सांख्य में विज्ञान और पुरूष, स्कन्धों और प्रकृति के विकास का क्रम स्थान में भी साम्य है। जिस प्रकार बौद्धों में विज्ञान पंच–स्कन्ध के अन्त में आता है उसी प्रकार सांख्य में भी पुरूष अन्त में आता है। उसका विकासक्रम में पच्चीसवां स्थान है।[७५]

बौद्धों ने विज्ञान, चित्त और बुद्धि में प्रारम्भ मे ही भेद नहीं माना।" ये सब पर्यायवाची हैं। इनका यह सिद्धान्त सांख्य के विरोध में है जहॉ पुरूष (चैतन्य) और मन में भेद है तथा मन, बुद्धि और अहंकार नामक अंतःकरण की पुरूष से स्वतत्र प्रकृति के परिणाम के रूप में कल्पना की गयी है जिसके परिणाम–स्वरूप बौद्धों को इसके स्थान पर स्वतंत्र धर्मो का अस्तित्व स्वीकार करना पडा। प्राचीन ग्रंथों में हम इसका स्पष्ट उल्लेख पाते हैं।

अतः सांख्य दर्शन में ज्ञान के अभाव में बौद्ध दर्शन का सम्यक् अनुशीलन संभव नहीं। वस्तुतः बौद्धदर्शन के पूर्णज्ञान के लिए सांख्य दर्शन का ज्ञान आवश्यक है।[३७]

अभिधर्मकोश के पंचम् कोशस्थान (अध्याय) की २४–२६ कारिकाओं में अतीत एवं अनागत (भविष्य) धर्मो की सत्ता के सम्बन्ध में सर्वास्तिवादियों (वैभाषिकों) एवं सौत्रान्तिकों के तर्कों का विशद विवेचन किया गया है। अभी तक हमने बौद्ध दर्शन मे निरूपित धर्मो के अनेक दृष्टियो से किए गये वर्गीकरणों और उनमें प्रयुक्त पदावलियों तथा उनमें निहित सामान्य सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन का प्रयास किया है किन्तु धर्मों की सत्ता क्यों स्वीकार की जाए और उनकी संख्या उतनी ही क्यों मानी जाए जितनी बौद्ध दार्शनिक मानते हैं। अतः इन प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने के लिए ऊपर विवेचित धर्मों का किंचित् विशद विवेचन आवश्यक है।

वैभाषिक ने अपने सिद्धान्त काल त्रैयध्विक हैं अर्थात् काल, भूत, वर्तमान और भविष्य में विभक्त है, के समर्थन में निम्नलिखित प्रयोग किया है।

प्रथम– भगवान् बुद्ध के बचनों से इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है।

द्वितीय– किसी वस्तु के प्रत्यक्षीकरण में दो कारण सन्निहित हैं।

तृतीय– प्रत्यक्ष के विषय का अस्तित्व है।

चतुर्थ– विगत कर्मों से फलोत्पत्ति होती है। इन युक्तियों का किंचित् विशद विवेचन आवश्यक है– इस वाद–विवाद में जो शैली अपनायी गयी है वह समस्त भारतीय दर्शन में प्रयुक्त सामान्य शैली है जहाँ समस्त तर्क प्रणाली दो भागों में विभक्त है–पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष। पूर्वपक्ष में वैभाषिक (सर्वास्तिवादी) अपना पक्ष प्रस्तुत करता हैं और सौत्रान्तिक उसका खण्डन करता है। वैभाषिक सौत्रान्तिक द्वारा किए गए खण्डन का सन्तोषप्रद उत्तर देकर उस पर विजय प्राप्त करता

है। तदनन्तर पूर्वपक्ष में सौत्रान्तिक बैठता है और अपने सिद्धान्त का निरूपण करता है। वैभाषिक उसके पक्ष का सन्तोषप्रद खण्डन कर अपने पक्ष का मण्डन करता है। सौत्रान्तिक वैभाषिक के आक्षेपों का उत्तर देने का प्रयत्न करता है किन्तु असफल रहता है इस प्रकार वैभाषिक की पूर्ण विजय जोती है किन्तु इस वाद विवाद के फलस्वरूप धर्म का स्वरूप इतना लोकोत्तर और रूढ बन जाता है कि उसका ज्ञान असभव हो जाता है, जिसक फलस्वरूप विजय होकर भी वैभाषिक के हाथ निराशा ही लगती है।[३८]

उपर्युक्त कारणों से वैभाषिक यह मानते हैं कि अतीत एवं अनागत का आस्तित्व अवश्यमेव है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि अतीत एवं अनागत प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व है।

तर्क १.

आगम में इसका प्रतिपादन है। भगवान् बुद्ध के निम्नलिखित वचन से धर्मो के त्रैकालिक अस्तित्व का बोध होता है। भगवान् कहते हैं– 'हे भिक्षुओं! अतीत और अनागत धर्म अनित्य हैं। वर्तमान धर्मो पर भी यही बात लागू होती है। आर्य श्रावक प्रज्ञा से युक्त होने के कारण इस सत्य का प्रत्यक्षीकरण करता है। यदि अतीतरूप धर्मों का अस्तित्व न होता तो वह उन पर विचार ही न करता। वह अनागत रूप धर्मो (भविष्यत्) पर भी प्रसन्न नहीं होता और वर्तमान धर्मो के प्रति भी उपेक्षा भाव रखता है। 'हे भिक्षुओं! यदि अतीतरूप धर्म न होता तो श्रुतवान आर्य श्रावक अतीतरूप धर्म में उपेक्षा भाव न रखता। किन्तु चँकि वे हैं इसलिए वह उनके प्रति उपेक्षा भाव रखने में आनन्द का अनुभव करता है। यदि किसी प्रकार के अनागत रूप धर्म का अस्तित्व न होता तो श्रुतवान् आर्य श्रावक अनागत रूपधर्म के परित्याग में आनन्द का अनुभव न करता। अनागत रूपधर्म हैं इसलिए वह उनके परित्याग में आनन्द का अनुभव करता है।[३९]

तर्क २.

किसी वस्तु के प्रत्यक्षीकरण में दो कारणों की उपस्थित आवश्यक हैं– भगवान् बुद्ध कहते हैं– 'किसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण करते समय चेतना (मनोविज्ञान) दो प्रत्यक्षों में नियंत्रित होती

है–चक्षुरिन्द्रिय और रूप (चक्षुर्विज्ञान के लिए) श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द (श्रोत विज्ञान के लिए)। यही बात अन्य इन्द्रियों पर भी लागू होती है और मन के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है– मन तथा मन सम्बन्धी रूपेतर धर्मा।[cc]

तर्क ३.

संज्ञान के लिए वस्तु (आलम्बन) का होना आवश्यक है। किसी वस्तु के होने पर ही उसका संज्ञान संभव है। हम कहते हैं कि गुलाब का फूल लाल है। यह संज्ञान इस कारण होता है कि गुलाब के फूल का अस्तित्व है। यदि किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है तो उसका संज्ञान भी नहीं होगा। वन्ध्यापुत्र नहीं है अतः उसका संज्ञान नहीं होता।

तर्क ४.

अतीत के कर्मों की फलोत्पत्ति के कारण–यदि अतीत के कर्म हैं ही नहीं तो हमें तज्जन्य शुभ और अशुभ फल कैसे प्राप्त होते हैं। यदि यूरिया काण्ड न हुआ होता तो पूर्व प्रधानमंत्री नरसिंहा राव का पुत्र प्रभाकर राव जेल में कैसे होता और प्रत्यक्ष धर्मो का अस्तित्व कोई अस्वीकार ही नहीं करता। इसलिए अतीत, प्रत्युत्पन्न एवं अनागत सभी धर्मों का अस्तित्व स्वीकार करने के कारण वैभाषिक सर्वास्तिवादी भी कहलाते हैं और उनका दर्शन सर्वास्विाद। इसके विपरीत जो लोग सिद्धान्त को पूर्ण रूप से नहीं मानते हैं और आंशिक रूप से नहीं मानते वे विभज्यवादी कहलाते हैं और उनका दर्शन विभज्यवाद। ये लोग प्रत्युत्पन्न धर्म एवं अतीत के वे धर्म जिनसे फलोत्पत्ति नही हुई है उनका अस्तित्व स्वीकार करते हैं और अनागत धर्मों तथा उन धर्मो का अस्तित्व नहीं मानते जो दत्त विपाक हैं अर्थात् जिन की फलोत्पत्ति हो चुकी हैं।

सौत्रान्तिकों ने वैभाषिकों के अभिकथनों का निम्नलिखित रूप मे उत्तर दिया है?

वह कौन सा तत्व है जो किसी धर्म को उसकी कार्यक्षमता के प्रकट होने से रोकता है? और इस कार्यक्षमता के अध्व का निश्चय किस प्रकार किया जाय? यदि धर्म के कारित्व (कार्यक्षमता), धर्म के अध्व (क्षण) एवं धर्म के तत्व में कोई भेद नहीं अर्थात् वे अनन्य हैं तो 'अध्व' के पृथक् अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि धर्म का अतीत और अनागत में वही स्वरूप है जो

वर्तमान में है तो अतीत एवं अनागत कहने की क्या आवश्यकता है? वस्तुतः रूप धर्मों का तत्व (धर्मता) अत्यन्त गम्भीर है।[८१]

यदि रूप धर्मों का तत्व (धर्मता) त्रैयाध्विक है अर्थात् नित्य है न कि उनका कारित्व (कार्यक्षमता) तो वह कौन सी शक्ति है जो उनके कारित्व को व्यक्त होने से रोकती है और किसी विघ्न के कारण धर्म की कार्यक्षमता कभी प्रकट होती हैं और कभी नहीं प्रकट होती?

वैभाषिक उपर्युक्त तर्कों से अपने को पराजित नहीं मानते और कहते है कि अतीत एव अनागत का भी वर्तमान के सादृश्य अस्तित्व है।[८२]

किन्तु अस्तित्व के इन धर्मों की शाश्वत धर्मता (शाश्वतता) के विषय में हम यह स्वीकार करते हैं कि इनके स्वरूप की व्याख्या में हम असमर्थ हैं। इन धर्मों का स्वभाव (धर्मता) निश्चय ही गम्भीर[८३] (इन्द्रियातीत) है, बौद्धिक विधियों से इनका अस्तित्व नहीं स्थापित किया जा सकता है।

अतः अतीत एवं अनागत का प्रतिषेध नहीं करना चाहिए। दैनिक जीवन में अध्व का जिस अर्थ में हम प्रयोग करते हें वह असम्बद्ध है। हम प्रयोग करते हें कि जो उत्पन्न होता है वह निरुद्ध होता है अर्थात् एक ही वस्तु उत्पन्न एवं निरुद्ध होती है यथा रूप (भूततत्व) उत्पन्न होता है, रूप निरुद्ध होता है। किन्तु हम इस प्रकार भी कहते हैं कि 'एक वस्तु उत्पन्न होती है एवं अन्य निरुद्ध होती है। हम अर्ध्व के उत्पन्न होने की बात भी करते हैं और कहते है कि अध्व भी उत्पन्न होता है क्योंकि जो उत्पद्यमान है वह अध्व में निहित है, वह अध्व स्वभाव है।[८४] हम यह भी कहते हैं कि अध्व से भी धर्म उत्पन्न होता है क्योंकि अनागत में अनेक क्षण हैं और (उनमें से) कोई एक उत्पन्न होता है।[८५]

अस्तित्व के धर्मों को सिद्ध करने के बाद अब हम उनकी संख्या पर विचार करेंगे। अभिधर्मकोश में अस्तित्व के धर्मों की कुल संख्या ७५ है जिनका निम्नलिखित रूपों में वर्गीकरण किया जा सकता है। पहले भी हमने धर्मों का वर्गीकरण, स्कन्ध, आयतन और धातु के रूप में विवेचित किया है किन्तु अब इनका वर्गीकरण, सास्रव–अनास्रव संस्कृत–असंस्कृत और चार आर्य सत्य की दृष्टि से किया जाएगा। पाँच स्कन्ध की दृष्टि से पहले सांकेतिक विवेचन किया गया था अब इसका पूर्ण विवेचन प्रस्तुत हैं।

वर्गीकरण- संस्कृत- असंस्कृत

संस्कृत धर्मो की संख्या ७२ है। ये परस्पर सहयोगी क्षणिक धर्म है।

असंस्कृत धर्मो की संख्या ३ है। ये परस्पर असहयोगी कूटस्थ नित्यधर्म है।

वर्गीकरण- स्रसव-अनास्रव

सास्रव धर्म :– इनकी संख्या ७२ है। ये धर्म क्लेशों (वासनाओं) से प्रभावित हैं। यहाँ जीवन रूपी सरिता पूर्ण वेग पर है। ये साधारण व्यक्ति (पृथक्जन) की उत्पत्ति मे सहायता प्रदान करते हैं।

अनास्रव धर्म :– इनकी संख्या ७५ हैं। इनमें ३ असंस्कृत नित्य और ७२ संस्कृत (क्षणिक) धर्म सम्मिलित हैं। ये धर्म क्लेशों (वासनाओं) से प्रभावित है। यह वह अवस्था है जहाँ पृथक्जन वासना या जगत को शनैः शनैः अवरूद्ध कर रहा है और आर्य बन रहा है।

तृतीय वर्गीकरण :- चार आर्य सत्यों की दृष्टि में

दु:ख क्लेश (वासना)

दु:खमय क्लेशों का कारण ७२

दु:ख निरोध निर्वाण–परमशान्ति ३ असंस्कृत धर्म (अनास्रव धर्म)

दु:खनिरोध मार्ग निर्वाण का कारण शेष अनास्रव धर्म (अनास्रव धर्म)

चतुर्थ वर्गीकरण :-

इस वर्गीकरण में कुल ७२ संस्कृत धर्म हैं जिनमे

रूप स्कन्ध में ११।

वेदनास्कन्ध में (अनुभूति) १ धर्म।

संज्ञास्कन्ध (संप्रत्ययन) १ धर्म।

संस्कार स्कन्ध ५८ (४४ चैत्त धर्म १४ चित्त विप्रयुक्त धर्म)।

विज्ञान स्कन्ध (शुद्ध विज्ञान) १ धर्म।

निराकार विज्ञान ७२ धर्म।

संज्ञान की दृष्टि से द्वादश आयतन के रूप में तथा गोत्र की दृष्टि से १८ धातुओ के रूप में धर्मो के वर्गीकरण का पहले विवेचन किया जा चुका है।[८६]

विज्ञप्ति कर्म

रूप

धर्मो के 'पंचस्कन्ध' वर्गीकरण में रूप का विवेचन किया गया है किन्तु यहाँ सज्ञानसिद्धान्त की दृष्टि से इसका विवेचन किया जा रहा है। इस दृष्टि से यह ग्यारह भागों में विभक्त हैं–

१. चक्षुरिन्द्रिय रूप–प्रसाद– यह वह (सूक्ष्म परिभासक–पारदर्शी) धर्म है जिससे कोई वस्तु दिखाई पडती है।

२. श्रोत्रेन्द्रिय रूप–प्रसाद– वह सूक्ष्म (परिभासक) धर्म है जिससे कोई ध्वनि सुनाई पडती है।

३. घ्राणेन्द्रिय रूप–प्रसाद– वह सूक्ष्म (परिभासक) धर्म है जिससे किसी वस्तु की महक का बोध होता है।

४. जिह्वा– इन्द्रिय रूप–प्रसाद– वह सूक्ष्मधर्म है जिससे किसी वस्तु के स्वाद का अनुभव होता है।

५. कायेन्द्रिय रूप–प्रसाद– वह सूक्ष्मधर्म है जिससे किसी वस्तु के स्पर्श का अनुभव होता है।

६. रूप विषय– चक्षुरिन्द्रिय का विषय।

७. शब्द विषय– श्रोत्रेन्द्रिय (कान) का विषय।

८. गन्ध विषय– नासिका (नाक) का विषय।

९. रस विषय– जिह्वा का विषय।

१०. स्प्रष्टव्य विषय– त्वचा (शरीर) का विषय।

११. अविज्ञप्ति– अव्यक्त रूप प्रसाद– यह नैतिक गुणों का उद्वाहक है।

रूप दो वर्गों में विभक्त है–

(१) भूत या महाभूत

(२) भौतिक

एक भौतिक परमाणु के आश्रय के लिए भी चारो महाभूतों के परमाणुओ (प्रत्येक महाभूत का एक परमाणु) का होना आवश्यक है।

चार महाभूत और उनके गुण निम्नलिखित हैं–

पृथ्वी का स्वभाव खर है।

अप् (जल) का स्वभाव स्नेह (द्रव्यत्व) है।

तेजस् का स्वभाव उष्णता है।

वायु का स्वभाव ईरण–गति (लघु समुदीरणत्व) है।[८६] अविज्ञप्ति–रूप के स्वरूप को लेकर बौद्ध दार्शनिकों में तीव्र मतभेद है अतः इसका कुछ विस्तृत विवेचन अपेक्षित है।

अविज्ञप्ति

कर्मों का कई प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। हम पूर्व में भी कर्मो के वर्गीकरण एवं उनके स्वरूपों का विवेचन कर चुके हैं किन्तु यहाँ पर हम एक विशेष प्रकार के कर्म अविज्ञप्ति की चर्चा करेंगे।

कर्मों को भौतिक एवं चैतसिक के अलावा व्यक्त (विज्ञप्ति) एवं अव्यक्त (अविज्ञप्ति) इन दो वर्गों में भी वसुबन्धु ने विभाजित किया है। विज्ञप्ति कर्म–भौतिक कर्म हैं और अविज्ञप्ति भौतिक कर्मो के फल हैं। ये भौतिक न होकर नैतिक हैं। उदाहरणार्थ यदि किसी भिक्षु ने कोई ब्रत लिया है तो वह भौतिक एवं कायिक कर्म कर रहा है जिसे बौद्ध दर्शन की भाषा में विज्ञप्ति कहा जाएगा।

किन्तु इस कायिक एवं भौतिक कर्म के फलस्वरूप ब्रती भिक्षु के चित्त में जिस विशेष नैतिक गुण का उत्कर्ष (उदय या वैशिष्ट्य) होता है उसे अविज्ञप्ति कहते हैं। यह निजी कर्म और उसके भावी कर्म फल के बीच सेतु का कार्य करता है। यह बौद्धदर्शन में वैदिक दर्शन के सम्प्रदायों

के संस्कार, अपूर्व और अदृष्ट आदि का स्थान ग्रहण करता है वसुबन्धु के अनुसार जिस पुद्गल का चित्त विक्षप्ति है अथवा जो अचिन्तक है उसके महाभूत हेतुक कुशल और अकुशल प्रवाह को अविज्ञप्ति कहते हैं। संक्षेप में विज्ञप्ति और समाधि से संभूत समस्त कुशल अकुशल रूप अविज्ञप्ति हैं।[८७]

अविज्ञप्ति के स्वभाव के विषय मे बौद्ध दार्शनिकों में मतभेद है–

सर्वास्तिवादी मत- संप्रतिघत्व (रूप या स्वभाव या रूपत्व) का अभाव होने के कारण अविज्ञप्ति को पारिभाषिक पदावली में रूप कर्म या भौतिक कर्म के वर्गीकरण में नहीं रखा जा सकता। किन्तु सर्वास्तिवादी दार्शनिकों ने इसे रूप के अन्तर्गत रखा है क्योंकि यह रूप कर्मों का उसी प्रकार अनुगमन करती है जिस प्रकार किसी वस्तु की छाया उस वस्तु का अनुगमन करती है।

आचार्य नरेन्द्र देव के अनुसार- यह मानसिक एवं भौतिक दोनों ही है। यह वह कर्म है जो दूसरे को कुछ विज्ञापित नहीं करता। इस प्रकार यह मानस कर्म मे सदृश है किन्तु यह रूप है, इस प्रकार यह कायिक और वाचिक कर्म के सदृश है।

सभी बौद्ध दार्शनिक इसके अस्तित्व को नहीं स्वीकार करते वसुबन्धु और सौत्रान्तिक दार्शनिक भी इसके अस्तित्व को नहीं स्वीकार करते। आचार्य नरेन्द्र देव ने संघभद्र की 'समय प्रदीपिका' की एक ऐसी कारिका का उल्लेख किया है जो अभिधर्म कोश की उपर्युक्त कारिका (१. ११) से भिन्न है। यशोमित्र ने इस कारिका को व्याख्या में उद्धृत किया है।[८८]

चित्त, मनस, विज्ञान

धर्मों के वर्गीकरण में इस शब्द का कई बार उल्लेख हुआ है अतः इसका किंचित् विस्तृत विवेचन आवश्यक है। बौद्ध दर्शन में मनस्–चित्त और विज्ञान शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची रूप में किया गया है। ये एक ही धर्म के बोधक हैं। पंचस्कन्धें की दृष्टि से धर्मो के वर्गीकरण मे इसका पंचम स्थान है और धातु या आयतन वर्गीकरण में षष्ठ। प्रत्यक्षीकरण प्रक्रिया में यह छठवीं इन्द्रिय है जिसके विषय पंच ज्ञानेन्द्रियों के विषयों से अवशिष्ट धर्म हैं। अन्य इन्द्रियों के सम्पक्र में आने पर यही मनस् निम्नलिखित संज्ञा धारण करता है–

१. चक्षु विज्ञान जब चक्षुरिन्द्रिय के सम्पर्क में आता है।

२. श्रोत विज्ञान जब श्रोत्रेन्द्रिय के सम्पर्क में आता है।

३. घ्राण विज्ञान जब घ्राणेन्द्रिय के सम्पर्क में आता है।

४. जिह्वा विज्ञान जब जिह्वेन्द्रिय के संपर्क में आता है।

५. काय विज्ञान जब कायेन्द्रिय के संपर्क में आता है।

६. मनोविज्ञान जब मनस किसी के सम्पर्क में नही रहता और पूर्ववर्ती क्षणो के साथ निरन्तर प्रवाहित होता रहता है।[८९]

चैत धर्म या चैतसिक धर्म

चैत धर्मों की संख्या जिसका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है कि वसुबन्धु के अनुसार ६ माना गया है। सर्वास्तिवादियों ने इसे छः भागों में विभक्त किया है–

प्रथम– चित्त महाभूमिक धर्म– इनकी संख्या १० है।

द्वितीय– कुशल महाभूमिक धर्म– इनकी संख्या १० है।

तृतीय– क्लेश महाभूमिक धर्म– इनकी संख्या ६ है।

चतुर्थ– अकुशल महाभूमिक धर्म– इनकी संख्या १ है।

पंचम्– उपक्लेश (परीयन्त क्लेश) भूमिक धर्म– इनकी संख्या १० है।

षष्ठ– अनियत भूमिक धर्म– इनकी संख्या ८ है।

इनका योग– ४५+१ = ४६।

भूमि का अर्थ उत्पत्ति विषय है। किसी धर्म के उत्पत्ति स्थान को धर्म की "भूमि" कहते हैं। ये महान् धर्मो की भूमि (उत्पत्ति विषय) हैं इसलिए इन्हें महाभूमिक कहते हैं।

चित्त महाभूमिक धर्म

इनकी संख्या १० है।[९०] ये इस प्रकार क्रमशः है–

१. वेदना– तीन प्रकार की है–सुख, दुःख, अदुःख–असुख।

२. संज्ञा– वे संप्रत्यय जो शब्दों द्वारा व्यक्त किए जाते हैं।

३. चेतना– चित्त का जागरूक प्रयत्न।

४. छन्द– कार्य करने की इच्छा, अभीष्ट वस्तु के प्रति अभिलाषा।[६१]

५. स्पर्श– वह धर्म है जिसके संयोग से इन्द्रिय, विषय और विज्ञान के एक साथ एक दूसरे का स्पर्श करते हैं।[६२]

६. प्रज्ञा– (मति) धर्मों का प्रविचय– यह वह धर्म है जिसके द्वारा बिखरे हुए धर्मो का पुष्पो की भॉति संग्रह किया जाता है।[६३]

७. स्मृति– (चैतसो प्रमोषः) यह वह धर्म है जिसकी सहायता से मन विषय को नही भूलता। इसकी सहायता से मानवमन विषय की अभिलाषा करता है।[६४]

८. मनस्कार– मन का विषय पर ध्यान।

६. अधिमोक्ष– यह विषय के गुणों का अवधारण है। इसका कई अर्थो में प्रयोग हुआ है। विज्ञानवादी के अनुसार यह यथा निश्चय विषय धारण है और सर्वास्तिवादियों के अनुसार यह विषय में निश्चल भाव से स्थिति है।[६५]

१०. समाधि– चित्त की एकाग्रता– यह वह धर्म है जिसके योग से चित्त विषय में एकत्र होकर वर्तमान होता है।[६६]

दस कुशल महाभूमिक

अतिविस्तृत कुशल धर्मों की भूमि कुशल महाभूमि कहलाती है। जो चैत इस भूमि से उत्पन्न होते हैं वे कुशल महाभूमिक कहलाते हैं। ये वे धर्म हैं जो सर्वकुशल चित्त में पाये जाते हैं। इनकी संख्या क्रमशः इस प्रकार है– श्रद्धा, अप्रमाद, प्रश्रब्धि, उपेक्षा, ह्री, अपत्रपा, मूलद्वय, अविहिंसा एवं वीर्य।

श्रद्धा– का प्रयोग चित्त प्रसाद[६७] (चित्त की शुद्धि), कर्मफल एवं सत्य में अभिसम्प्रत्यय के लिए किया जाता है।

अप्रमाद– नये कुशल धर्मों की प्राप्ति (प्रतिलंभ) एवं पहले से प्राप्त कुशल धर्मों को सुरक्षित रखना अप्रमाद है।[६८]

प्रश्रब्धि– वह धर्म हैं जिसके योग से चित्त में कर्मण्यता एवं कौशल (लाघव) उत्पन्न होता है। वसुबन्धु एवं सौत्रान्तिकों के अनुसार यह चित्त एवं काय दोनों की कर्मण्यता है।[९९]

उपेक्षा, चित्त, समता है। यह वह धर्म है जिसके योग से चित्त समभाव में अनाभोग में रहता है।[१००]

ह्री– लज्जा, विनम्रता, विनयशीलता, आत्म–प्रशंसा सुनकर सज्जन के मन में जो भाव उत्पन्न होता है, ह्री कहलाता है।

अपत्रपा– आपत्तिजनक कार्यो या बातों के प्रति मन में जो घृणा, विद्वेष या अरुचि होती है तथा परनिन्दा के भय से जो लज्जा होती है वह अपत्रपा कहलाती है।[१०१]

अलोभ– वसुबन्धु के अनुसार अलोभ (प्रेम) का प्रतिपक्ष है। यह उद्वेग एवं अनासक्ति है। अद्वेष, घृणा का अभाव है।

अविहिंसा या अहिंसा यह करुणा है एवं विहिंसा का प्रतिपक्ष है।

वीर्य– यह कुशलक्रिया में चित्त का अभ्युत्साह है।[१०२] यह कौसीद्य का विरोधी है, जो अकुशल या दुष्कर्मों में चित्त के उत्साह के लिए प्रयुक्त होता है।

क्लेश महाभूमिक

महाक्लेश धर्मों की भूमि को महाक्लेशभूमि कहते हैं। इस भूमि के चैत्तों को क्लेश महाभूमिक कहते हैं। सर्वास्तिवादी के अनुसार इनकी संख्या छः है।[१०३] जो इस प्रकार हैं–

मोह, प्रमाद, कौसीद्य, आश्रध्य, स्त्यान एवं औद्धत्य।[१०४] किन्तु मूल अभिधर्म के अनुसार क्लेश महाभूमिक दस हैं–

अश्राद्धय, कौसीद्य, मुषितस्मृतिता, विक्षेप, अविद्या, असंप्रजन्य, अयोनिशोमनसिकार, मिथ्याधिमोक्ष अर्थात् क्लिष्ट अधिमोक्ष, औद्धत्य, प्रमाद।[१०५]

अनियत भूमिक धर्म या अनियत चैतसिक

ऊपर विवेचित पाँच प्रकार के चैत्तों या चैतसिक धर्मों के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी चैत्त या चैतसिक धर्म है जो ऊपर के किसी भी वर्गीकरण में नहीं आते। ये परिस्थितिवश कभी कुशल, कभी

अकुशल या अव्याकृत चित्त मे होते हैं इस कारण इन्हें अनियत चेता या अनियत चैतसिक कहा जाता है। इनकी संख्या ८ हैं–

कौकृत्य, मिद्ध, (निद्रा) वितक्र, विचार, राग, द्वेष, मान और विचिकित्सा।

कौकृत्य का शाब्दिक अर्थ दुःष्कर्म है किन्तु बौद्ध दर्शन मे एक पारिभासिक शब्द है। शेरवात्सकी के अनुसार यह प्रायश्चित्त का संस्कार है। दुष्कर्म के लिए पश्चाताप और अतिदान के लिए दुःखी होना दोनों प्रकार के भाव इसकी परिधि में आते हैं। वसुबन्धु के अनुसार यह कुशल महाभूमिक तब होता है जब कुशल न करके अथवा अकुशल करके पश्चाताप होता है और अकुशल महाभूमिक तब होता है जब कुशल करके अथवा अकुशल न करके पश्चाताप होता है।[१०६]

मिद्ध– तन्द्रा या निन्द्रा की अवस्था शरवात्स्की के अनुसार यह मन के स्वप्निल या खोए रहने की अवस्था है। यह शब्द भी अनेक नैतिक आयामों के लिए प्रयुक्त हो सकता है।

वितर्क– चित्त का स्थूल भाव– जिज्ञासा।

विचार– चित्त का सूक्ष्मभाव, चिन्तन।

राग– प्रेम।

द्वेष– घृणा।

मान– घमण्ड, अभिमान, अहंकार।

विचिकित्सा–संशयशीलता, शंकाकुलता।

वसबुन्धु का कथन है कि इन सभी धर्मों के भेद को किसी दीर्घ काल तक चलने वाले कार्य में भी समझ पाना कठिन है फिर मात्र क्षणिक कार्य में तो प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु कठिन का अर्थ असम्भव नहीं है। परस्पर विरोधी धर्म उदाहरणार्थ सुख एवं दुःख एक ही चित्त में एक ही समय नहीं समुपस्थित हो सकते। किन्तु कभी–कभी विरोध ऊपर से ही दीख पड़ता है। उदाहरण के लिए स्त्यान और औद्धत्य युगपद् उपस्थित हो सकते हैं– एक निष्क्रिय रूप में दूसरा अधिक सक्रिय रूप में।

जिस प्रकार से प्रत्येक भौतिक पदार्थ में पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु इन चार महाभूतों मे एक का ही प्राधान्य होता है उसी प्रकार चैतसिक अवस्थाओं में भी अनेक चैतसिक धर्मो में एक का ही प्राधान्य होता है। कुशल महाभूतयिक धर्मो में उपेक्षा एवं अधिमोक्ष परस्पर विरोधी नहीं है। ये भिन्न आलम्बनों की ओर उन्मुख हैं। दुःख एवं सुख के प्रति उपेक्षा एवं शुभ कर्मो के प्रति अधिमोक्ष युगपद् हो सकते हैं। किन्तु अप्रमाद एवं प्रमाद परस्पर विरोधी हैं। इनमें एक दूसरे के अभाव की ओर संकेत करता है अतः ये युगपद् समुपस्थित नहीं रह सकते।[१०७]

वितर्क एवं विचार

वितर्क एवं विचार चित्त के दो अव्यक्त एवं अनिश्चय धर्म हैं।[१०८] ये दोनों ही मनोजल्प हैं। जिनमें वितर्क मनोजल्प की वह अवस्था है जो अपने विषय का अन्वेषण कर रही है। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में यह चेतना विशेष का स्पन्दन करती है, जो परवर्ती अवस्था मे एक स्पष्ट विचार, प्रज्ञा विशेष का रूप धारण कर लेती है।

वसुबन्धु ने पूर्वाचारों के मतानुसार वितर्क एव विचार के स्वरूप का बहुत ही सुन्दर निरूपण किया है जिसके अनुसार वितर्क क्या है? यह पर्येषक मनोजल्प है जो अनभ्यूहावस्था और अभ्यूहावस्था में यथाक्रम चेतना एवं प्रज्ञा का निश्रय लेता है। यह चित्त की औदारिकता है।

विचार क्या है? यह प्रत्यवेक्षक मनोजल्प है जो अनभ्यूहावस्था एवं अभ्यूहावस्था में यथाक्रम चेतना एवं प्रज्ञा का निश्रय लेता है। यह चित्त की सूक्ष्मता है। इस पक्ष में वितर्क एवं विचार एक स्वभाव के दो समुदाय रूप हैं। इनमें भेद इतना ही है कि एक पर्येषणाकार है, दूसरा प्रत्येवेक्षणाकार है। वे एक उदाहरण देते हैं। बहुत से घटों के अवस्थित होने पर यह जानने के लिए कि कौन दृढ है, कौन जर्जर, हम मुष्टि अभिघात से ऊह करते हैं। यह ऊह वितर्क है। अन्ततः हम यह जानते हैं कि इतने दृढ़ हैं, इतने जर्जर, यह विचार हैं।[१०९] यह मत सौत्रान्तिकों का है जिसके अनुसार वितर्क एवं विचार वाक् संस्कार हैं।[११०]

वास्तव में सूत्र कहता है कि वितर्क एवं विचार करके भाषण होता है। बिना वितर्क विचार के नहीं। जो औदारिक वाक् संस्कार होते हैं उन्हें वितर्क और जो सूक्ष्म होते हैं उन्हें विचार कहते

हैं। इस व्याख्यान के अनुसार वितर्क एवं विचार दो पृथक्भूत धर्म नहीं है किन्तु समुदाय रूप हैं। ये चित्त के कलाप है जो वाक् समुत्थापक है और पर्याय से औदारिक और सूक्ष्म होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन अत्थसालिनी के अनुरूप हैं जो वितर्क का लक्षण ऊहन बताती है और उसे औदारिक कहती है तथा विचार को सूक्ष्म (सुखुम) बताती है।[111] योगसूत्र के व्यासभाष्य मे भी इसी मत का समर्थन किया गया है।[112] वसुबन्धु के पचस्कन्ध में भी यही मत समर्थित है।

चूँकि ये दोनों ही धर्म चित्त से सम्बद्ध हैं अतः इनकी तुलना कुछ हद तक काण्ट के संज्ञान सिद्धान्त से की जा सकती है, जहाँ वस्तु के प्रत्यक्षीकरण के पूर्ण चित्त को इन्द्रिय प्रदत्तों का संश्लेषण करना पडता है। वैभाषिकों के अनुसार चित्त की प्रत्येक अवस्था मे कुछ न कुछ विकल्प अवश्य रहता है जिसे वे स्वभाव विकल्प कहते हैं। किन्तु वसुबन्धु शुद्ध संवेदन[113] भी स्वीकार करते हैं जो पूर्ण रूपेण विकल्प[114] रहित है। प्रो० बी० सील[115] ने भी शुद्ध सवेदन एव अनुभवमूलक संवेदन के भेद को माना है। उनके अनुसार अनुभवमूलक संवेदन में चित्त के अतिरिक्त देश, काल एवं कारणता भी समुत्पस्थित रहते हैं।

प्रश्न उठता है कि क्या वितर्क एवं विचार दोनों एक साथ चित्त में संप्रयुक्त हो सकते हैं? क्या चित्त की एक ही काल में सौदारिक एवं सूक्ष्म दोनों हो सकता है?

विभाषा के अनुसार विचार की तुलना शीतोदक से, चित्त की इस शीतोदक पर तैरते हुए सर्पि (घी) एवं वितर्क की सर्पि पर बढ़ने वाले आतप से करनी चाहिए। इस प्रकार वितर्क एवं विचार चित्त से युक्त होते हैं, चित्त विचार के कारण न अति सूक्ष्म होता है और न वितर्क के कारण अति औदारिक होता है।

वस्तुतः चित्त की औदारिकता एवं सूक्ष्मता आपेक्षिक है। इनमें अनेक भूमिभेद और प्रकार भेद हैं। प्रथम ध्यान का चित्त कामावचर चित्त की अपेक्षा सूक्ष्म है और द्वितीय स्थान के चित्त की अपेक्षा औदारिक है।

किन्तु सौत्रान्तिक मत के विपरीत वैभाषिक वितर्क एवं विचार में जातिभेद मानता है। किन्तु इस भेद को वह अवक्तव्य मानता है और चित्त की अधिमात्रता (मृदु) से व्यक्त होता है। सघभद्र विचार एवं वितर्क में जातिगत भेद मानते हैं किन्तु उनके अनुसार चित्त में वितर्क एवं विचार के एकत्र होने में कोई विरोध नहीं है। किन्तु एक ही समय में ये दोनो धर्म समुदाचार नहीं करते। उनकी वृत्ति उद्भूत होती है। जब सर्वदा वर्तमान वितर्क की वृत्ति उद्भूत होती है तब चित्त चैत्त औदारिक होते हैं . . । यथा राग एवं मोह का युगपद भाव है किन्तु जब राग की वृत्ति उद्भूत होती है तो पुद्गल राग चरित व्यपदिष्ट होता है।[११६]

रूप चित्त विप्रयुक्त संस्कार

ये धर्म चित्त से संप्रयुक्त नहीं होते। ये रूप स्वभाव भी नहीं हैं। ये संस्कार स्कन्ध मे संग्रहीत होते हैं इसलिए इन्हें चित्त विप्रयुक्त संस्कार कहते हैं। स्थविरवाद में इनका उल्लेख नही है और सौत्रान्तिक भी इनके अस्तित्व को नहीं स्वीकार करते हैं किन्तु सर्वास्तिवादी इनके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं ये निम्नलिखित हैं।[११७]

प्राप्ति, अप्राप्ति, सभागता, आसंगिक, दोसमापत्ति, जीवितेन्द्रिय, लक्षण, नामकायादि एवं जातीयक धर्म।[११८]

प्राप्ति, वह संकाय (शक्ति) है जिससे व्यक्ति (सन्तान) धर्मों को प्राप्त करता है। यह लाभ एवं समन्वय है।

प्राप्ति द्विविध है– (१) अप्राप्त एवं विहीन का लाभ (प्रतिलम्भ) (२) प्रतिलब्ध एवं अविहीन का समन्वयागम।

अप्राप्ति– प्राप्ति का विपर्यय है।

अनुप्राप्ति– प्राप्ति और अप्राप्ति की भी प्राप्ति एवं अप्राप्ति होती है जिसे अनुप्राप्ति कहते हैं।

वैभाषिक प्राप्ति एवं अप्राप्ति को द्रव्यसत् मानते हैं अर्थात् इनका अस्तित्व मानते हैं किन्तु सौत्रान्तिक इनको प्रज्ञप्ति सत् मानते हैं अर्थात् इनका वास्तविक अस्तित्व नहीं मानते।

निकाय सभाग या निकाय सभागता

वह सस्कार द्रव्य या धर्म है जिसके फलस्वरूप प्राणियो (सत्वो) मे सादृश्य होता है। यह सत्वों की स्वभाव समता है। यह दो– प्रकार की है। अभिन्न एवं भिन्न।[११९] प्रथम अभिन्न सभागता सर्वसत्ववर्तिनी है। इसके योग से प्रत्येक सत्व का सब सत्वों के साथ सादृश्य होता है।

द्वितीय, भिन्न सभागता में अनेक अवान्तर भेद हैं। सौत्रान्तिक सभागता नामक धर्म का अस्तित्व नहीं स्वीकार करते।

असंज्ञि या आसंज्ञिक

वह धर्म या संस्कार है जो अतीत कालीन कर्मों का प्रारब्धवश–सहज रूप से प्राप्त होता है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति चेतनाशून्य ध्यानलोक में प्रविष्ट होते हैं।[१२०] इसी धर्म के फलस्वरूप व्यक्ति (सत्व) चित्त चैत्तों का निरोध करके असंज्ञि या आसंज्ञिक देवों के लोक वृहत्फल में प्रविष्ट होते हैं।

इसका एक दूसरा अ़र्थ भी है जिसके अनुसार वह असंज्ञि इसलिए कहलाता है क्योंकि दीर्घकाल तक उसकी संज्ञा (चेतना) स्थगित रहती है। जब इस दीर्घकाल के पश्चात् उसमें पुनः संज्ञा (चेतना) की उत्पत्ति होती है तो उसकी देवलोक से 'च्युति होती है।' यह अर्थ सूत्र के अनुरूप है जो कहता है कि 'जब वे पुन' संज्ञा का उत्पाद करते है तब उस सत्व के सदृश जो निद्रा से जागता है उनकी च्युति होती है। समापत्ति दो प्रकार की है–

(१) असंज्ञिसमापत्ति, (२) निरोध समापत्ति या संज्ञावेदित निरोध समापत्ति।

जिस प्रकार से असंज्ञि या आसंज्ञिक एक प्रकार का धर्म है जो चित्त चैत्तों का निरोध करता है उसी प्रकार संज्ञिसमापत्ति भी एक धर्म है जो चित्त चैत्तों का निरोध करता है।[१२१]

निरोध समापत्ति, इसके स्वरूप के विषय में बौद्ध दार्शनिकों में मतभेद है। कुछ दार्शनिकों के विचार से यह एक द्रव्यमात्र है। कुछ के अनुसार इसमें ग्यारह द्रव्य– दस महाभूमिक एव चित्त सम्मिलित हैं और कुछ दार्शनिकों के अनुसार इसमें २१ द्रव्य सम्मिलित हैं, १० महाभूमिक, १० कुशल महाभूमिक एवं चित्तनिरोध।

वसुबन्धु के अनुसार निरोध समापत्ति भी आसंज्ञिक एवं असज्ञिसमापत्ति की भॉति एक धर्म है जो चित्त चैत्तों का निरोध करता है।[१२२]

यद्यपि दोनों समापत्तियों (असंज्ञि एवं निरोध) का स्वभाव सर्वचित्त चैत्त का निरोध है किन्तु दोनों में पर्याप्त भेद है–

१. भूमित· प्रथम अर्थात् असंज्ञि समापत्ति चतुर्थ ध्यान भूमिक है और द्वितीय अर्थात् निरोध समापत्ति भावाग्रिकी (नैवसयंज्ञानासंज्ञायतन) है।

२. प्रयोगतः प्रथम में योगी मिथ्या रूप से आसंज्ञिक को मोक्ष समझकर निःसरण संज्ञा से प्रवृत्त होता है, द्वितीय में शान्तविहार की संज्ञा से प्रवृत्त होता है।

३. सन्तानतः प्रथम का उत्पाद पृथग्जन में होता है, द्वितीय का आर्य में।

४. विपाक स्वभावतः प्रथम असंज्ञिसत्वों में उपपत्ति का उत्पाद करता है, द्वितीय भवाग्रतोपपत्ति का उत्पाद करता है।

५. प्रथमोत्पादनतः प्रथम का उत्पाद दो धातुओं में से किसी में होता है, द्वितीय का केवल मनुष्यों में।

वैभाषिक इसे द्रव्यसत् मानते हैं जबकि सौत्रान्तिक इसे प्रज्ञप्तिसत् मानते हैं अर्थात् इसका वास्तविक अस्तित्व नहीं मानते हैं।

आसंज्ञिक, असंज्ञिसमापत्ति तथा निरोध समापत्ति के स्वभाव के विषय में बौद्ध दार्शनिकों में मतभेद है। वैभाषिकों के अनुसार ये दो समापत्तियॉ एवं आसंज्ञिक अचिन्तक हैं।[१२३] स्थविर वसुमित्रादि के अनुसार वे अपरिस्फुट मनोविज्ञानवश सचिन्तक हैं, योगाचार के अनुसार आलयविज्ञानवश वे सचिन्तक हैं।

जीवितेन्द्रिय

यह जीवित आयु या त्रैधातुक आयु है।[१२४] शेरवात्स्की के अनुसार यह जीवन की अवधि का धर्म या संस्कार है जो जन्म के क्षण में ही मृत्यु क्षण की भविष्यवाणी करता है। जैसे किसी प्रक्षिप्त बाण के वेग की शक्ति यह संकेत करती है कि वह कब पृथ्वी पर गिरेगा, यही बात जीवितेन्द्रिय के विषय में भी लागू होती है।

वैभाषिकों के अनुसार यह एक पृथक धर्म है जो उष्म एवं विज्ञान का आधार है, जो सन्तान की स्थिति का हेतु है और जिसे आयु कहते है।[१२५]

भगवान बुद्ध कहते हैं कि जब आयु, उष्म एवं विज्ञानकाय का परित्याग करते हैं तो अपद्विकाय शयन करता है जैसे अचेतन काष्ठ।

सौत्रान्तिक इसे द्रव्यसत् नहीं मानते। उनके अनुसार यह प्रज्ञप्त धर्म है। **यह** एक आवेद्य (सामर्थ्य विशेष) है जिसे पूर्वजन्म का कर्म प्रतिसन्धिक्षण में सत्व में आहित **करता है। इस** सामर्थ्यवश एक नियत काल के लिए निकाय सभाग के स्कन्ध–प्रबन्ध का अवस्थान **होता है। यथा** बीज अंकुर में एक सामर्थ्य विशेष आहित करता है जिससे पाक काल पर्यन्त शस्य **सन्तान** की स्थिति होती है।

जाति, जरा, स्थिति एवं अनित्यता

ये धर्म के चार लक्षण हैं, ये जिन धर्मों में पाये जाते हैं उन्हें संस्कृत धर्म कहते हैं। **जिनमें** ये नही पाये जाते उन्हें असंस्कृत धर्म कहते है। संस्कृत धर्मो की संख्या ७२ है एवं असंस्कृत **धर्मों** की संख्या तीन है।

अभिधर्म केवल तीन लक्षण मानता है यथा–उत्पाद, व्यय तथा अन्यथात्त्व। **विज्ञान चार** लक्षण मानता है।[१२६]

सौत्रान्तिक लक्षणों को पृथक् द्रव्य नहीं मानते। उनके अनुसार जाति का अर्थ प्रवाह का आरम्भ है।

चार अनुलक्षण है। यथा– जाति जाति, स्थिति स्थिति, जरा जरा, अनित्यता–अनित्यता।

प्रतिसंख्या निरोध प्रज्ञा द्वारा धर्म एवं उसके भावों का निरोध है। वसुबन्धु ने प्रतिसख्या निरोध के दो अर्थ किये हैं–

पृथक् विसंभोग–प्रतिसंख्या निरोध है तथा सास्रव धर्मों से विसंभोग प्रतिसंख्यानिरोध है या निर्वाण है।

अप्रतिसंख्या निरोध–शरवात्स्की के अनुसार यह स्वाभाविक एवं सहज निरोध है जिसे प्राप्त करने के लिए न तो प्रज्ञा की आवश्यकता होती है और न प्रयत्न करना पडता है। यथा ईंधन क समाप्त हो जाने पर अग्नि बुझ जाती है।[१२७]

वसुबन्धु के अनुसार एक अन्य निरोध जो अत्यन्त विघ्नभूत है, अप्रतिसंख्या निरोध कहलाता है।[१२८] वे इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि विसंयोग से भिन्न 'निरोध' जो अनागत (भविष्य) धर्मो की उत्पत्ति में अत्यन्त भिन्न है अप्रतिसख्या निरोध है। इसकी यह संज्ञा इसलिए पडी क्योकि इसकी प्राप्ति सत्याभिसमय से नहीं होती, बल्कि प्रत्यय–वैकल्प से होती है।

वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश भाष्य में एक अन्य मत का भी सकेत किया है जिसके अनुसार अप्रतिसंख्यानिरोध एक धर्म विशेष है जो अमुक अमुक द्रव्य के उत्पाद का उसमें नियतनिरोध करता है, जिसमें उसकी प्राप्ति होती है। यह अत्यन्त अनुत्पाद प्रत्ययवैकल्पमात्र से नहीं होता क्योकि यदि पुनः प्रत्ययों का किसी दिन सानिध्य होगा तो धर्म की उत्पत्ति का प्रसग होगा। अत. अप्रतिसख्या निरोध की प्राप्ति से तज्जातीय प्रत्यय उत्पत्ति का नियत निरोध होता है।[१२९]

हेतुफल प्रत्यय

हेतु पाँच हैं– सहभूहेतु, संम्प्रयुक्त हेतु, संभाग हेतु, सर्वत्रगहेतु एवं विपाक हेतु तथा कारण हेतु। फल पॉच हैं– पुरुषकारकफल, निष्यन्दफल, विपाक फल, अधिपत्ति फल एवं विसंयोग फल या निर्वाण। हेतु प्रत्यय चार हैं– हेतु–प्रत्यय, समनन्तर प्रत्यय, आलम्बन प्रत्यय, अधिपत्ति प्रत्यय या साधकतमं कारणम्।

बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार जगत की उत्पत्ति ईश्वर या पुरुषप्रधानादि से नहीं होती। अतः जिन धर्मों का ऊपर निरुपण किया गया है वे स्वतः आविर्भूत नहीं होते और न ईश्वर ही उन्हे उत्पन्न करता है। इन्हीं कारणों को प्रत्यय, हेतु, निदान संभव, प्रभव कारण, निमित्त, लिंग एवं उपनिषद भी कहा जाता है। अतः जो धर्म जिस धर्म की उत्पत्ति या स्थिति में सहायक होता है उसे उस धर्म का प्रत्यय कहा जाता है।

अब हम संक्षेप में प्रत्ययों के स्वरूप का विवेचन करेंगे–

प्रत्यय

प्रथम, हेतुप्रत्यय– जब एक धर्म दूसरे धर्म का प्रत्यक्ष कारण होता है तो उसे हेतु प्रत्यय कहते हैं। कारण हेतु को छोडकर शेष हेतु हेतुप्रत्यय कहलाते हैं।

द्वितीय, समनन्तर प्रत्यय– अर्हत् के निर्वाण काल के चरमाचित्त एव चैत्त के अतिरिक्त सभी उत्पन्न चित्त चैत्त समनन्तर प्रत्यय हैं। यह सम एवं अनन्तर धर्मों को उत्पन्न करता है इसलिए इसे समनन्तर प्रत्यय कहते हैं।

तृतीय, आलम्बन प्रत्यय– आलम्बन (आश्रय) भाव से उपकारक (सहायक) धर्म आलम्बन प्रत्यय हैं। चतुर्थ अधिपति प्रत्यय– प्रत्येक धर्म परोक्ष रूप से दूसरे धर्म को प्रभावित करता है। इनमें से कारणभूत प्रथम धर्म दूसरे का अधिपति प्रत्यय कहलाता है।[130]

प्रत्यय के पश्चात्, अब हेतुओं का विवेचन प्रस्तुत है–

कारण हेतु– कोई धर्म अपना कारण हेतु नहीं है। सब धर्म स्वतः से अन्य संस्कृत धर्मो के कारण हेतु हैं क्योंकि उत्पत्तिंमान धर्मों के उत्पाद के प्रति प्रत्येक धर्म का अविध्नभाव से अवस्थान होता है।

सहभू हेतु– सहभू धर्म वह धर्म है, जो एक दूसरे के फल हैं अर्थात् भूत, चित्त एवं चित्तानुवर्ती लक्षण एवं लक्ष्य[131] जो परस्पर पुरूषकार फल हैं वे सहभूहेतु कहलाते हैं।

सभाग हेतु– सदृश धर्म[132] सभाग हेतु हैं। सभाग के सभाग हेतु हैं। पॉच कुशल स्कन्ध पॉच कुशल स्कन्धों के सभाग हेतु हैं।

प्रश्न उठता है कि क्या सब सभाग धर्म सभाग धर्मों के सभाग हेतु हैं? नहीं केवल वे सभाग धर्म सभाग हेतु हैं जो स्वनिकाय एवं स्वभूमि के हें। स्वभूमि का नियम केवल सास्रव धर्मों के लिए है, अनास्रव धर्मो के लिए नहीं।

संप्रयुक्तकहेतु– केवल वे चित्त एवं चैत्त जिनका सम (अभिन्न) आश्रय है, संप्रयुक्तक हेतु है।[133] भिन्न काल एवं भिन्न संतान (व्यक्ति) में उत्पन्न होने वाले भिन्न कालज, भिन्न सन्तानज संप्रयुक्तक हेतु नहीं हैं।

सर्वत्रग अनुशय हेतु– सर्वत्रग अनुशय ये हैं–

(क) दुःखसमुदय दर्शन हेय दृष्टि और विचिकित्सा

(ख) इनसे प्रयुक्त अविद्या

(ग) अवेणिकी अविद्या। इस प्रकार ये ग्यारह अनुशय होते हैं।[१३४]

कुछ दर्शन हेय पॉच दृष्टियॉ, समुदय दर्शन हेय, मिथ्या दृष्टि एवं दृष्टि परामर्श, दुःख समुदय, दर्शन हेय, दो विचिकित्सा और दो अविद्या।

उपर्युक्त ग्यारह अनुशयों को सर्वग या सर्वत्रग कहा गया है क्योंकि ये सर्वक्लेश निकायों को प्राप्त होते हैं, सर्वभाक् होते हैं (भजन्ते), सबको आलम्बन बनाते हैं (आलम्बन्ते) अथवा क्योंकि ये सर्वक्लेश निकायों के हेतुभाव को प्राप्त होते हैं।[१३५]

विपाकहेतु– 'विपाक' का अर्थ है 'विसदृश पाक' अर्थात् विपाक हेतु एक विसदृश पाक ही प्रदान करता है। सहभू संप्रयुक्तक, सभाग, सर्वत्रग हेतु के पाक सदृश ही (कुशल, अकुशल अव्याकृत) हेतु हैं। कारण हेतु का फल सदृश या विसदृश फल देता है क्योंकि विपाक हेतु कभी अव्याकृत नहीं होता और उसका फल सदा अव्याकृत होता है।

सौत्रान्तिकों के अनुसार विपाक का केवल एक ही अर्थ है : परिणाम एवं पाक।

फल

अब तक हेतुओं का विवेचन किया गया हैं अब यह देखना है कि इन हेतुओं से किन फलों की प्राप्ति होती है और उनका स्वरूप क्या है?

संस्कृत एवं विसंयोग फल है। विसंयोग फल निर्वाण है। यह एक असंस्कृत धर्म है, अहेतुक है। इसका फल नहीं है किन्तु यह कारण हेतु है और फल है।

सर्वास्तिवादी के अनुसार केवल संस्कृत के हेतु फल होते हैं असंस्कृत के हेतु एवं फल नहीं होते क्योंकि षड्विध हेतु एवं पंचविध फल असंस्कृत के लिए असम्भव हैं यदि ऐसा है तो विसंयोग फल कैसे हैं? यह किस का फल है? यह मार्ग का फल है क्योंकि इसकी प्राप्ति मार्गफल से होती है।

फल पंचविध हैं-

(१) पुरूषकार फल– सहभूहेतु और संप्रयुक्तक हेतु का फल है पुरुषकार पुरुष भाव से व्यतिरिक्त नहीं है, क्योंकि कर्म कर्मवान् से अन्य नहीं है। अतः पुरुषकार को पौरुष भी कह सकते हैं।

(२) निष्यन्दफल– हेतु सदृश फल निष्यन्द कहलाता है।[१३५] सभाग हेतु और सर्वत्रग हेतु ये दो हेतु निष्यन्द फल प्रदान करते हैं।

(३) विपाक फल– विपाक हेतु का फल है। विपाक हेतु हेतुओं की सूची में सब के अन्त मे अभिहित हैं इसलिए इसे अन्त्य हेतु भी कहा जाता है और इसलिए विपाक फल को अन्त्यहेतु का फल भी कहते हैं।[१३६] विपाक कुशल या अकुशल सास्रव धर्मों से उत्पादित होता है। हेतु कुशल या अकुशल है किन्तु फल सदा अव्याकृत है क्योंकि यह फल स्वहेतु से भिन्न है और 'पाक' है इसलिए इसे विपाक कहते हैं।

विपाक एक अव्याकृत धर्म है, यह सत्वाख्य है, यह व्याकृत से उत्तरकाल में उत्पन्न होता हैं। विपाक शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है। यह अनिवृताव्याकृत धर्म है। इन अनिवृताव्याकृत धर्मो में कुछ सत्वाख्य (स्वसन्तानज) होते हैं और कुछ असत्वाख्य। अतः विपाक फल उन्हीं धर्मो से उत्पन्न होता है जो सत्वाख्य हैं अर्थात् जो स्वसन्तानज हैं।

(४) अधिपति फल– कारण हेतु से उत्पन्न फल को अधिपति फल कहते हैं। वसुबन्धु के अनुसार कारणहेतु से अधिपति का प्रादुर्भाव होता है। कारणहेतु को पूर्ण हेतु भी कहते हैं। अतः अधिपति फल को पूर्व का फल भी कहते हैं। अधिपति फल होने के नाते इसे अधिपज फल भी कहते हैं।

प्रश्न उठता है कि अनावरण भाव मात्रावस्थान ही कारण हेतु है, अतः इसे अधिपति कैसे माना जाय?

कारण हेतु या तो 'उपेक्षक है या कारक' उपेक्षक होने के नाते इसका अनावरणभाव है इसलिए इसे अधिपति मानते हैं। कारक होने के नाते इसका प्रधान भाव, जनकभाव और अंगीभाव है इसलिए भी इसे अधिपति मानते हैं।

(५) विसंयोग या विसंयोगफल– यह क्षय या निरोध है जिसकी प्राप्ति प्रज्ञा द्वारा होती है अत: यह प्रतिसंख्यान निरोध का पर्याय है।[१३५]

पाश्चात्य आचार्यों के अनुसार पूर्वोक्त पॉच फलों के अतिरिक्त निम्नलिखित चार फल और हैं।

१. प्रतिष्ठाफल– जलमण्डल वायुमण्डल का प्रतिष्ठाफल है और इसी प्रकार औषधि आदि महापृथ्वी का प्रतिष्ठाफल है।

२. प्रयोगफल– अनुत्पाद ज्ञानादि अशुभादि का प्रयोग फल है।

३. सामग्रीफल– चक्षुर्विज्ञान, चक्षुरूप, आलोक और मनस्कार का सामग्रीफल है।

४. भावनाफल– निर्वाण चित्तध्यान का भावना फल है।

सर्वास्तिवादी के अनुसार इन चार फलों में से प्रथम अर्थात् प्रतिष्ठाफल अधिपति फल मे निहित है और शेष तीन पुरुषकार फल में संग्रहीत हैं।[१३६]

संदर्भ

१. राश्यायद्वार गोत्रार्था: स्कन्धायतन धातव:।
मोहेन्द्रियरूपचित्रैधातिस्त्र: स्कन्धादिदेशना:।। अभिधर्मकोश १.२०।।

२. इन्द्रियार्थास्ति एवेष्टा दशायतनधातव:।
वेदनाऽनुभयव: सज्ञा निमित्तोद्ग्रहणात्मिका।। वही १.१४।।

३. देखिए अभिधर्मकोश १–२२

४. अथवा एक कुछ भिन्न पंचविध वर्गीकरण इस प्रकार है– रूप, चित्त, चैत्र, विप्रयुक्त संस्कार एव निर्वाण। देखिए अभिधर्मकोश २.२२ एवं परिशिष्ट २

५. Zugs us ıdan - min - hdu - byed.

६. मूल बौद्ध दर्शन और धर्म का अर्थ पृ० ८

६. आयतन शब्द की समुचित व्याख्या ओ० रासन वर्ग के प्राब्लम्स .... पृ० १३८ पर की गयी हैं।

७. अभिधर्मकोश १/२० द्रष्टव्य है क्योकि साख्य–दर्शन में भी प्रकृति के मूलतत्व १८ ही हैं।

८. S.Z. आन कम्पोजियम, पृष्ठ–२५५

९. अभिधर्मकोश कोशस्थान १/६

१०. वही १/२४

११. अभिधर्मकोश टीका, यशोमित्र स्फुटार्था १/१०

१२. "अभिधर्मकोश १/१० तिब्बती संस्करण पृ० १७, तथा मूल बौद्ध दर्शन एवं धर्म का अर्थ पृ० १३

१३. अभिधर्मकोश १/३६

१४. अभिधर्मकोश १/१२

१५ अभिधर्मकोश २–२२

१६ चित्त मनोऽथ विज्ञान कार्य चित्त चैतसा ।
साश्रयालम्बनाकारा. सप्रयुक्ताश्च पचधा।। (अधिधर्मकोश २/३४ तथा सयुक्त निकाय २/६४)

१७. थेरवाद ५१ चैत्तधर्म मानता है। सांख्य दार्शनिक ५० भाव (चैत्तधर्म) मानते है। इनमे से कुछ बौद्धों के चैत्तधर्म से मिलते–जुलते हैं। मूल बौद्ध दर्शन, पृ० १७

१८ मूल बौद्ध दर्शन, पृ० १७

१६ "विशेषणार्थ प्राधान्यवाद बहुधर्माग्रसग्रहात् ।
एकमायतनं रूपमेक धर्मेख्यिमुच्यते।।"(अभिधर्मकोश १.२४. देखिए तिब्बती रूपान्तर पृष्ट ४२ १७)

२० विज्ञान प्रतिविज्ञप्तिर्मन. आयतन च तत् ।
धातव सप्त च मता. षड् विज्ञानान्यथो मन ।। – (अभिधर्मकोश, २ २३)

२१. चित्त चैत्ता. सहावश्य सर्व सस्कृत लक्षणै ।
प्राप्तात्त्या वा पंचधा चैत्ता महाभूम्यादिभेदतः।। १/१६

२२. अभिधर्मकोश – १.१४ । आचार्य नरेन्द्रदेव बौद्ध दर्शन, पृ० – २५ व्याख्या

२३. इन महाभूमिकों की पूरी सूची ओ० रासनवर्ग के (समस्याए) पृष्ठ ३७४ पर मिलेगी

२४. अभिधर्मकोश – १.२२। – मूल बौद्ध दर्शन, पृष्ठ २५

२५. अभिधर्मकोश – २.३७। – मूल बौद्ध दर्शन, पृष्ठ २६

२६. अभिधर्मकोश – २.४६। – मूल बौद्ध दर्शन, पृष्ठ २७

२७ "नामकायादयः सज्ञा वाक्याक्षर समुक्तयः।
कामरूपाप्तसत्तवाख्या निष्यन्दा व्याकृतास्तथा।।" – अभि० – २/४७

२८. सभागता सत्तव साम्यमासझिकमसझिषु। विरोधश्चित्तचैत्ताना विपाकस्ते वृहत्त्फलाः।।" – अभि० – २/४१

२६. एस० जेड० आग निबन्धावली (कम्पोडियम), पृष्ठ – १५७। – मूलबौद्ध दर्शन पृ० २७

३०. प्रवचनधर्मता पुनरत्र नैरात्म्यं बुद्धानुशासनी वा। यशोमित्र अभिधर्म कोश नवमकोश स्थान, मूल बौद्धदर्शन पृ० २८

३१. विद्यमान द्रव्यम् – अभिधर्म कोश नवम् अध्याय। यशोमित्र इसमे सशोधन करते हैं– स्वलक्षणतो विद्यमान द्रव्यम् देखिये सोल थियरी, पृष्ठ ६४३

३२. स्वलक्षणधारद्धर्य – यशोमित्र अभिधर्म कोश १.३, मूल बौद्ध दर्शन, पृ० २६

३३. सस्कृत्व प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वम् इति पर्यायावेतौ.। समेत्य सम्भूय प्रत्यैय. कृत संस्कृतम् त त प्रत्यय प्रतीत्यसमुत्पन्नम् इति।। अभिधर्मकोश २/४६, मूलबौद्ध पृ० ३१

३४ नात्मास्ति स्कन्दमात्रं तु क्लेशकर्माभि तु संस्कृतम्।
अन्तराभाव सन्तत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत्।। – अभि० ३/१८,
विद्याविपक्षों धर्मोऽन्योऽविद्याऽमित्रानृतादिवत्।। – अभि० ३/२८, मूल बौद्ध दर्शन, पृ० ३२

३५. अभिधर्म कोश ३.२५, ओ० रासन वर्ग (प्राब्लम्स) पृ० २२३, मूल बौद्ध दर्शन, पृ० ३२

३६ श्रीमती रीज डेविड्ज ने "बुद्धिस्ट साइकोलॉजी" पृ० ५४ में इस प्रकार का उदाहरण दिया है। मूल बौद्ध दर्शन पृ० ३३

३७. अभिधर्मकोश – ४.५०

३८. अड्गुत्तर निकाय – ४–४१५

३६ यशोमित्र उपचय सन्तानां विपाक सन्तानस्यद परिवारवस्थाननेव आरक्षा अभिधर्म कोश १३७ मूलबौद्धधर्म दर्शन, पृ० ४१

४० अभिधर्मकोश ३१५, एस० जंड० आग निबन्धावली पृ० २५

४१. इसकी तुलना हम यूनानी दार्शनिक हेराक्लाइटस के सभ्रान्ति सिद्धान्त से कर सकते है। जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण प्रवाहित हो रही है। हम एक ही जलधारा मे दो बार स्नान नहीं कर सकते। इतना ही नहीं वे यहाँ तक कहते हैं कि हम उसी जलधारा में एक बार भी स्नान नही कर सकते क्योकि प्रतिक्षण प्रवाहित जलराशि अविच्छिन्न रूप से द्रुतगति से भाग रही है। 'ग्रीक दर्शन अध्याय ५ हेराक्लाइटस पृ० ६५–६६

४२ क्रिया परिसमाप्तिलक्षणोएषो न क्षणः (अभिधर्मकोश २/४६)

क्षणिके वस्तुनि . . . . . एव क्रिया कारित्वेन सहकारी गृहयते–न्यायबिन्दु टीका

उपर्युक्त विवेचित 'क्षण' का यह एक सिद्धान्त धर्मकीर्ति आदि स्वतन्त्र विज्ञानवादियो मे 'स्वलक्षण' सिद्धान्त के रूप में निरुपित हुआ और क्षण एक लोकोत्तर वस्तु बन गया और स्वयमेव परमार्थसत् है। क्षणस्य (ज्ञानेन) प्रापयितुम् अशक्यत्वात्–न्याय बिन्दु टीका पृ० ६६ बिब्लिका इण्डिका पृ० ६६, मूल बौद्ध दर्शन पृ० ४५

४३. द्रव्यतो नशान्ति– अभि० २५६,

४४. मूल बौद्ध दर्शन और धर्म का अर्थ, पृ० ५३

४५. अभिधर्म १.१

४६ अभिधर्मकोश १.४५

४७. अभिधर्मकोश १३

४८. अभिधर्मकोश १.३, मूलबौद्ध दर्शन पृ० ५४

४९. यशोमित्र की टीका प्रज्ञाडमला, साइडनुचराडभिधर्म.– अभिधर्मकोश, १.२, मूलबौद्ध दर्शन पृ० ५५

५०. दश भावनया हेया. पच च अन्त्यास्र यस्त्रिधा अभिधर्मकोश भाष्य, १४०

५१. अभिधर्मकोश, ३० रूप धातु

५२ ए० बी० कीथ, पृ० २६१

५३ धर्मकीर्ति ने 'प्रमाणवार्तिक' (३.३५४) मे निम्न श्लोक में इसको स्पष्ट रूप से इस प्रकार अभिव्यक्त किया है–

"अविभागोऽपिबुध्यात्त्या विपर्यासित दर्शनै
ग्राह्य–ग्राहक संविति भेदवान् इव लक्ष्यते।।"

५४ त्रयाणां सन्निपात् स्पर्शः। मूलबौद्ध दर्शन पृ० ६०

५५. चक्षुर्पतीत्य रूपं च चक्षुर्विज्ञानमुत्पद्यते।। वही

५६. मूलबौद्ध दर्शन, पृ० ६०

५७ मूलबौद्ध दर्शन, पृ० ६२

५८. द्वादशाध्यात्मिका· हित्वा रूपादीन् धर्मसंज्ञकः।
सभागः तत्सभागाश्च शेषाः यो न स्वकर्मकृत्।। अभिधर्मकोशभाष्यम्।। पृ० १३६

५९ मूलबौद्ध दर्शन, पृ० ६३

६०. वही, पृ० ६४

६१. अभिधर्मकोश, १/४३, मूल बौद्ध दर्शन, पृ० ६३

६२. मूलबौद्ध दर्शन, पृ० ६४– अभिधर्मकोश, १–४३

६३. अभिधर्मकोश, १–२०

६४. वही, १–४२

६५. अभिधर्मकोश, १–४२, मूलबौद्ध दर्शन, पृ० ६५

६६. वही, १–४२

६७. मूलबौद्ध दर्शन, पृ० ६६

६८. वही, पृ० ६६

६६ द्वितीय सस्करण, पृ० ३१६–३२६, मूलबौद्ध दर्शन, पृ० ६६

७० श्लोक वार्तिक प्रत्यक्षसूत्र

७१ मूलबौद्ध दर्शन, पृ० ६७

७२ वही, पृ० ३६४, साख्य कारिका ६४

७३. अभिधर्मकोश, १.२२

७४. चित्त मनोऽथ विज्ञानमेकार्थ चित्त चैतसा, अभिधर्मकोश भाष्य, २ ३४

७५. मूलबौद्ध दर्शन, पृ० ६८

७६ मूलबौद्ध दर्शन, पृ० ७६

७७ मूलबौद्ध दर्शन, पृ० ८१

७८. अभिधर्म, ५/२५, मूलबौद्ध दर्शन, पृ० ८१

७६. मूलबौद्ध दर्शन, पृ० ८७

८०. सन्त्येवातीतानागताः (धर्माः)–.अभिधर्मकोश, पचम् कोशस्थान पृ० २८६ (आचार्य नरेन्द्रदेव कृत हिन्दी अनुवाद)

८१. गम्भीरा जातुधर्मा– मूल बौद्ध दर्शन, पृ० ८८

८२. अध्व संगृहीतत्वात् अध्व स्वभावत्वात्– अभिधर्मकोश पचम् कोशस्थान पृ० २८६–६०, टिप्पणी ८

८३. अध्वनोऽत्युपादानरुपादुत्पद्यते धर्म. कस्मादित्याहक्षणिकत्वात् अनेक क्षणत्वादनागतस्याध्वन इति तस्मादनेकेवा क्षेणानाम् अनागतानां राश्रिरुपाणां कश्चिदेव क्षण उत्त्पद्यते, अभिधर्मकोश की विभाषा ६.१३

८४ विक्षिप्ताचित्त कस्यापि योऽनुबन्धः शुभाशुभ.।
महाभूतान्युपादाय साहयविज्ञप्तिरूच्यते।। अभिकोश १/११, मूलबौद्ध दर्शन, पृ० १०५

८५. कृतेऽपि विसभागेऽपि चित्ते चित्तात्यये चयत्।
व्याकृता प्रतिघं रुप साह्यविज्ञप्तिरिव्यते।।(व्याख्या ३२–२१) अभिधर्मकोश प्रथम कोशस्थान पृ० १६ पर उद्धृत

८६ मूलबौद्ध दर्शन, पृ० १०६

८७. वेदना चेतना संज्ञा छन्द' स्पर्शौ मति. स्मृति.। मनस्कारोऽधिमोक्षश्च समाधि. सर्वचेतासि।। अभिधर्मकोश, २.२४

८८. अभिप्रेते वस्तुन्यभिलाषा। – मूल बौद्ध दर्शन, पृ० १०७

८६. अभिधर्मकोश, ३३०

६०. अभिधर्मकोश, भाग १, पृ० १२२ टिप्पणी २

६१. अभिधर्मकोश, वही, भाग १, पृ० १२२ टिप्पणी ३

६२. आलम्बनस्य गुणतोऽवधारणम् मूलबौद्ध दर्शन, पृ० १०७

६३. अभिधर्मकोश भाग १, पृ० १२२–१२३ टिप्पणी ५, मूलबौद्ध दर्शन, पृ० १०७

६४. उपपरीक्ष्ये, वस्तुनि चित्तैस्यैकामुता, अभिधर्मकोश, भाग १, पृ० १२३

९५ येन चित्त प्रबन्ध एकत्रालम्बन वर्तते शरवात्स्की पृष्ट १०१ बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० ३३५–३३६ तथा मूलबौद्ध दर्शन पृ० १०७

९६. श्रद्धाऽप्रमाद. प्रश्राब्धिरुप्रक्षा ह्रीरपत्रपा। मूलद्वयमहिसा च वीर्यं च कुशल सदा। – अभिधर्मकोश २.२५

९७. चेतस. प्रसाद . . अभिधर्मकोश भाग १, द्वितीय कोशस्थान पृ० १२४

९८ कुशलाना धर्माणां, टिप्पणी २, मूलबौद्ध दर्शन, पृ० १०८

९९ अवद्ये भयदर्शिता– शरवात्सकी– द सेण्ट्रल कन्सेप्शन पृ० १०१, अभिधर्मकोश २/३२, पृ० १३४–१३५।

१००. कुशलाक्रियाया चेतसोऽत्त्युत्त्साह.।। देखिए अभिधर्म कोश, द्वितीय कोशस्थान, पृ० १२७, बौद्ध धर्म दर्शन पृ० ३३६, मूलबौद्ध दर्शन, पृ० १०६

१०१. बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० ३३८

१०२. मोहः प्रमाद. कौसीद्यमाश्रद्धय स्त्यानमुद्धव.। क्लिष्टे सदैवाकुशले त्वाह्रीक्यमनपत्रपा।। – अभिधर्मकोश २/२६

१०३. अभिधर्मकोश, द्वितीय कोशस्थान पृ० १२६, टिप्पणी ३ जो टिप्पणी ४ के पूर्व है।

१०४. अभिधर्मकोश २.२६, पृ० १३२

१०५. शरवात्स्की द सेण्ट्रल कन्सेप्शन, पृ० १०४

१०६ न निश्चयधर्मौ शरवात्स्की– द सेण्ट्रल कन्सेप्शन, पृ० १०४

१०७ अभिधर्मकोश द्वितीय कोशस्थान, पृ० १३८ टिप्पणी

१०८. वाक् समुत्यापक (व्याख्या १३६.६) अभिधर्मकोश, द्वितीय कोशस्थान, टिप्पणी

१०९ अत्थसालिनी २६६–२६७, अभिधर्मकोश, द्वितीय कोशस्थान, टिप्पणी

११०. वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः। सूक्ष्म विचारः, १.४२–४४१, अभिधर्मकोश, द्वितीय कोशस्थान

१११. मूल बौद्ध दर्शन, पृ० ३४२ प्रथम

११२. अभिधर्मकोश, १.३०, २.३३

११३. बी० सील पॉजिटिव साइन्सेज पृ० १८ दे० शरवात्स्की 'द सेण्ट्रल कन्सेप्शन' पृ० १०५

११४. विभाषा ४२, १४ का सातवा मत, अभिधर्मकोश, द्वितीय कोशस्थान पृ० १३६ टिप्पणी– २

११५. (व्याख्या १४०–१) वही पृ० १३७

११६. प्रियुक्तास्तु संस्कारा. प्राप्त्यप्राप्ती सभागता।
आसंज्ञिक समापत्ती जीवितं लक्षणानि च।। नरेन्द्रदेव 'कोश' २.३५
नामकायादयश्चेति प्राप्तिर्लाभ समन्वय.।
प्राप्त्य प्राप्ती स्वसन्तान पतिताना निरोधयो। वही २.३६

११७. शरवात्स्की– दे सेण्ट्रल कन्सेप्शन, पृ० १०५

११८. वही, पृ० १०५

११९ तथा सज्ञिसमापत्तिर्ध्यानेऽन्त्ये नि.सृतीच्छाया। शुभोपपद्यवेद्यैवनार्यस्यैकाध्विकाप्यते।। 'कोश' २.४२ पृ० १५६ टिप्पणी २

१२०. 'कोश' भाग १, पृ० १५८

१२१. अचित्तकान्येव (व्याख्या) १६७, १६७.५, अभिधर्म, पृ० १७५ टिप्पणी ३ विभाषा, २५२.४

१२२. 'कोश' भाग १, पृ० १६७

१२३. आयुरुष्माथ विज्ञान यदा काय जहत्यमी।
अपविद्धस्तदा शेते यथा काष्टमचेतन।। नरेन्द्र देव 'कोश' भाग १, पृ० १६७

१२४ यह त्रिलक्षण सूत्र है— तीणिमानि भिक्खवे सावतस्स सखतल्लक्खाणि कतमानि यीणि। १३ उत्पादो, पञ्ञायति, वयो पञ्ञायति ष्तिस्य अभ्यजत्थ . . . मध्यमक वृत्ति पृ० १४५, कथावत्थुसार अनुवाद, पृ० ५५

१२५ शरवात्स्की— द सेण्ट्रल कन्सेप्शन ऑव बुद्धिज्म, पृ० १०४

१२६ नरेन्द्र देव 'कोश', १/६

१२७ वही, भाग १, पृ० ११ टिप्पणी ३

१२८ 'कोश' भाग १, पृ० २३४

१२६. सहभूर्मे मिथ. फला. भूतवाच्चित्तचित्तानुवर्तिलक्षण लक्ष्यवत्। व्याख्या १६१/१३१, नरेन्द्र देव 'कोश' भाग १ पृ० १६२

१३०. सभागहेतु सुदृशा· स्वनिकाय भुवोऽग्रजा·।
अन्योन्ज नवभूमिस्तु मार्ग· समविशिष्टयो।। "कोश" २/५२

१३१. प्रयोगजास्तयोरेव श्रुत चिन्तामयादिका·।
सप्रयुक्तकहेतुस्तु चित्तचैत्ताः समाश्रयाः।। "कोश" २/५३

१३२. सर्वत्रगा दु·खदृग्हेया दृष्टयस्तथा।
द्विमतिः सह नाभिश्च या विद्याऽऽवेणिकी च या। अभि० ५/१२

१३३. व्याख्या ११०/१२ देखिए, अभिधर्म भाग १, पृ० २०६

१३४. अभिधर्मकोश २/५७

१३५. विपाकफलमन्त्यस्य पूर्वस्याधिपत फलम्।
सभागसर्वत्रगयोर्निष्यन्दः पौरुषं द्वयोः।। अभिधर्मकोश पृ० २/५६

१३६. विसंयोगः क्षयो धिया— अभिधर्मकोश २/५७।

१३७. नरेन्द्र देव 'कोश' प्रथम भाग पृ० २२७।

१३८. नरेन्द्र देव "बौद्ध धर्म दर्शन" पृ० ३६७।

१३६ अभिधर्मकोश, पृ० २/५८।

अध्याय ५

वसुबन्धु का महायान (योगाचार विज्ञानवाद) दर्शन

१- विंशतिकाकारिका

इस ग्रन्थ में इस समय कुल २२ कारिकाएँ (श्लोक) उपलब्ध हैं जो इस प्रकार हैं–

विज्ञप्तिमात्रमेवतदसदर्थावभासनात्।
यथा तैमिरिकस्यासत्केशोचन्द्रादिदर्शनम्।। १।।
यदि विज्ञप्तिरनर्था नियमो देशकालयोः।
सन्तानस्यानियमश्च युक्ता कृत्यक्रिया न च।। २।।
देशादिनियमः सिद्धः स्वप्नवत् प्रेतवत् पुन.।
सन्तानस्यानियमः सर्वैः पूयनद्यादिदर्शने।। ३।।
स्वप्नोपघातवत् कृत्यक्रिया नरकवत् पुनः।
सर्व नरकपालादिदर्शने तैश्च बाधने।। ४।।
तिरश्चां सम्भवः स्वर्गे यथा न नरके तथा।
न प्रेतानां यतस्तज्जं दुःखं नानुभवन्ति ते।। ५।।
यदि तत्कर्मभिस्तत्र भूतानां सम्भवस्तथा।
इष्यते परिणामश्च किं विज्ञानस्य नेष्यते।। ६।।
कर्मणो वासनाऽन्यत्र फलमन्यत्र कल्प्यते।
तत्रैव नेश्यते यत्र वासना किं नु कारणम्।। ७।।
रूपाद्यायतनास्तित्वं तद्विनेयजनं प्रति।
अभिप्रायवशादुक्तमुपपादुकसत्त्ववत्।। ८।।
यतः स्वबीजाद् विज्ञप्तिर्यदाभासा प्रवर्तते।
द्विविधायतनत्वेन ते तस्या मुनिरब्रवीत्।। ६।।

तथा पुद्गलनैरात्म्यप्रवेशो ह्यन्यथा पुनः।

देशना धर्मनैरात्म्यप्रवेशः कल्पितात्मना।। १०।।

न तदेकं न चानेकं विषयः परमाणुशः।

न च ते संहता यस्यात् परमाणुर्नसिध्यिति।। ११।।

षट्केन युगपद्योगात् परमाणो· षडंशता।

षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः।। १२।।

परमाणोरसयोगे तत्सघातेऽस्ति कस्य सः।

न चानवयवत्वेन तत्संयोगो न सिध्यति।। १३।।

दिग्भागभेदो यस्यास्ति तस्यैकत्वं न युज्यते।

छायावृती कथं वाऽन्यो न पिण्डश्चेन्न तस्य ते।। १४।।

एकत्वे न क्रमणेतिर्युगपन्न ग्रहाग्रहौ।

विच्छिन्नानेकवृत्तिश्च सूक्ष्मानीक्षा च नो भवेत्।। १५।।

प्रत्यक्षबुद्धिः स्वप्नादौ यथा सा च यदा तदा।

न सोऽर्थो दृश्यते तस्य प्रत्यक्षत्वं कथं मतम्।। १६।।

उक्तं यथा तदाभासा विज्ञप्तिः स्मरणं ततः।

स्वप्ने दृग्विषयाभावं नाप्रबुद्धोऽवगच्छति।। १७।।

अन्योन्याधिपतित्वेन विज्ञप्तिनियमो मिथः।

मिद्धेनोपहतं चित्तं स्वप्ने तेनासमं फलम्।। १८।।

मरणं परविज्ञप्तिविशेषाद् विक्रिया यथा।

स्मृतिलोपादिकाऽन्येषां पिशाचादिमनोवशात्।। १९।।

कथं वा दण्डकारण्यशून्यत्वमृषिकोपतः।

मनोदण्डो महावद्यः कथं वा तेन सिध्यति।। २०।।

परचित्तविदां ज्ञानमयथार्थं कथं यथा।

स्वचित्तज्ञानमज्ञानाद् यथा बुद्धस्य गोचरः।। २१।।

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः स्वशक्तिसदृशी मया।

कृतेयं सर्वथा सा तु न चिन्त्या बुद्धगोचरः।। २२।।

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि विंशतिका (मूल रूप में अर्थ सहित) :–

विज्ञप्तिमात्रमेवैतदसदर्थावभासनात्।

यथा तैमिरिकस्यासत् केशचन्द्रादिदर्शनम्।। १।।

अर्थात् जिस प्रकार तिमिर रोग से ग्रस्त मनुष्य को असत् केश–गुच्छादि के दर्शन होते हैं, उसी प्रकार सभी भासमान अर्थो (विषयों) के असत् होने के कारण सब कुछ विज्ञाप्तिमात्र ही हैं।। १।।

यदि विज्ञप्तिरनर्था नियमो देशकालयोः।

सन्तानस्यानियमश्च युक्ता कृत्यक्रिया न च।। २।।

अर्थात् यदि विज्ञप्ति विषय रहित है, तो देशकाल का नियम, सन्तान का अनियम तथा कृत्यक्रिया का होना युक्त नहीं हो सकता।। २।।

देशादिनियमः सिद्धः स्वप्नवत् प्रेवत् पुनः।

सन्तानानियमः सर्वैः पूयनद्यादिदर्शने।। ३।।

देशादि का निमय स्वप्न के समान सिद्ध है। पुनः प्रेत के समान सन्तान का अनियम–सिद्ध है। 'प्रेतवत्' का अर्थ है प्रेतों के समान। कैसे सिद्ध? सभी के द्वारा पूयनदी आदि के समान समानरूप से दर्शन में।

स्वप्नोपघातवत् कृत्यक्रिया नरकवत् पुनः।

सर्व नरकपालादिदर्शने तैश्च बाधने।। ४।।

स्वप्न के उपघात कृत्त क्रिया भी सिद्ध है, ऐसा जानना चाहिए। यथा स्वप्न में (स्त्री पुरुष) दोनों के समागम के बिना वीर्यश्राव रूप स्वप्नोपघात होता है। इस प्रकार अन्य दृष्टान्तों से देशकाल नियमादि चतुष्ट्य (चार बातें) सिद्ध हैं। नरकवत सभी बातें सिद्ध हैं, ऐसा जानना चाहिए। 'नरकवत्' का अर्थ है– जैसा नरकों में होता है। कैसे सिद्ध है? नरकपालादि के दर्शन में तथा उनके द्वारा कष्ट दिये जाने में।

तिरश्चां संभवः स्वर्गे यथा न करके तथा।

न प्रेतानां यतस्तज्जं दुःखं नानुभवन्ति ते।। ५।।

यथा तिर्यक् योनिगत प्राणियों की उत्पत्ति स्वर्ग में है, उस प्रकार उनका तथा प्रेतो का नरक में होना सम्भव नहीं है, क्योंकि वे नरकजन्य दुःख का अनुभव नही करते।

यदि तत्कर्मभिस्तत्र भूतानां संभवस्तथा।
इष्यते परिणामश्च किं विज्ञानस्य नेष्यते।। ६।।

यदि उन कर्मो के कारण ही वहॉ जीवों का होना सम्भव है, तथा परिणाम भी इष्ट है, तो विज्ञान को ही उस रूप में क्यों न मान लिया जाता है।

कर्मणों वासनाऽन्यत्र कल्प्यते।
तत्रैव नेष्यते यत्र वासना किं नु कारणम्।। ७।।

कर्म की वासना को अन्यत्र तथा फल को अन्यत्र होने की कल्पना की जाती है। जहॉ वासना है, वहीं फल की कल्पना नहीं की जाती है। इसका क्या कारण है?

रुपाद्यायतनास्तित्वं तद्विनेयजनं प्रति।
अभिप्रायवशादुक्तमुपपादुकसत्ववत्।। ८।।

रुपादि आयतनों का अस्तित्व भगवान द्वारा विनेय जनों के अभिप्राय से उपपादुक सत्वों के अस्तित्व के समान कहा गया है।

यतः स्वबीजादविज्ञप्तिर्यदाभासा प्रवर्तते।
द्विविधायतनत्त्वेन ते तस्यामुनिरब्रवीत्।। ६।।

जिस स्वबीज से जिस प्रकार के आभासवाली विज्ञप्ति प्रवृत्त होती है, भगवान ने उन दोनों को उस विज्ञप्ति के दो प्रकार के आयतन के रूप में बतलाया।

तथा पुद्गलनैरात्म्यप्रवेशो ह्यन्यथा पुनः।
देशना धर्मनैरात्म्यप्रवेशः कल्पितात्मना।। १०।।

उस प्रकार (उपदेश देने से) पुद्गल नैरात्म्य में प्रवेश होता है। पुनः दूसरी (अन्यथा) प्रकार की देशना से धर्मनैरात्म्य में प्रवेश होता है।

न तदेकं न चानेकं विषयः परमाणुशः।
न च ते संहता यस्मात्परमाणुर्न सिध्यति।। ११।।

वह विषय न अवयवी के रूप में एक है, न परमाणुओं के रूप में अनेक है। वह परमाणुओ का समूह भी नहीं हो सकता है क्योंकि परमाणुओं की तो सिद्धि ही नहीं होती है।

षट्केन युगपद्योगात्परमाणोः षडंशता।
षण्णां समानदेशत्त्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः।। १२।।

एक साथ छः परमाणुओ का योग होने से परमाणु के छः अंश सिद्ध होते हैं। छः दिशाओ से छः परमाणुओं का एकसाथ योग होने पर परमाणु के छः भाग सिद्ध होते है क्योंकि एक परमाणु का जो स्थान है, वहाॅ (उसी स्थान में) दूसरे का होना असम्भव है। छः परमाणुओं का यदि एक ही स्थान माना जाय तो वह पिण्ड अणुमात्र सिद्ध होगा।

परमाणोरसंयोगे तत्संघातेऽस्ति कस्य सः।
न चानवयवत्वेन तत्संयोगो न सिध्यति।। १३।।

जब परमाणुओं का संयोग नहीं है तो उनके (परमाणुओं के) संघात में वह (संयोग) किसका होता है। यहाॅ पर संयोग शब्द की अनुवृत्ति है। निरवयव होने से परमाणुओं का संयोग शब्द की अनुवृत्ति है। निरवयव होने से परमाणुओं का संयोग सिद्ध नहीं होता है।

दिग्भागभेदो यस्यास्ति तस्यैकत्वं न युज्यते।
छायावृती कथं वाऽन्यो न पिण्डश्चेन्न तस्य ते।। १४।।

जिसमें दिशाओं के भेद से भिन्नता है, उसका एकत्त्व भाव सिद्ध नहीं होता है। यदि परमाणुओं के पिण्ड भिन्न नहीं है, तो उस (पिण्ड) के भी वे (छाया तथा आवरण) नहीं हो सकते, यह सिद्ध होता है।

एकत्वे न क्रमेणेतिर्युगपन्न ग्रहाग्रहौ।
विच्छिन्नानेकवृत्तिश्च सूक्ष्मानीक्षा च नो भवेत्।। १५।।

एक मानने से क्रम से गमन नहीं हो सकता। एक ही साथ (पदार्थों के किसी अंश का) ग्रहण तथा (किसी अंश) का ग्रहण नहीं हो सकता। न तो विच्छेद से युक्त अनेक पदार्थों का अस्तित्व ही हो सकता है, न सूक्ष्म पदार्थों के अदर्शन की ही प्राप्ति हो सकती है।

प्रत्यक्षबुद्धिः स्वप्नादौ यथा सा च यदा तदा।
न सोऽर्थो दृश्यते तस्य प्रत्यक्षत्वं कथं मतम्।। १६।।

स्वन्प्नादि (अवस्थाओ) में जैसे प्रत्यक्ष बुद्धि होती है। वह (प्रत्यक्ष बुद्धि) जब होती है जब समय तो वह विषय दृश्यमान नहीं रहता है, तब उसका प्रत्यक्ष कैसे सिद्ध है?

उक्तं यथा तदाभासा विज्ञप्तिः स्मरणं ततः।
स्वप्ने दृग्विषयाभावं नाप्रबुद्धोऽवगच्छति।। १७।।

विषय के बिना भी उस विषय के आभास वाली चक्षु विज्ञानादि जन्य विज्ञप्ति उत्पन्न होती है, यह कहा जा चुका है। . . . . . . .उसी से स्मरण होता है।

अन्योन्याधिपतित्वेन विज्ञप्तिनियमो मिथः।
मिद्धेनोपहतं चित्तं स्वप्ने तेनासमं फलम्।। १८।।

अन्योन्य आधिपत्य से परस्पर विज्ञप्ति का नियम है। स्वप्न मे चित्त सिद्ध से उपहत रहता है, इसलिए फल समान नही होता। इसमे यही कारण है, न कि पदार्थ की वास्तविक सत्ता।

मरणं परविज्ञप्तिविशेषाद् विक्रिया यथा।
स्मृतिलोपादिकाऽन्येषां पिशाचादिमनोवशात्।। १६।।

मरण दूसरी विज्ञप्ति के प्रभाव से उत्पन्न एक विकृति मात्र है। जैसे कि पिशाचादि के मन के प्रभाव से दूसरों की स्मृति लोपादि होता है।

कथं वा दण्डकारण्यशून्यत्वमृषिकोपतः।
मनोदण्डो महावद्यः कथं वा तेन सिध्यति।। २०।।

दण्डकारण्य की शून्यता ऋषिकोप से क्यों हुई? (अथवा यदि दूसरों की विज्ञप्ति के प्रभाव से प्राणियों का मरण न माना जाय तो) मनोदण्ड का महान् पाप होना (जो उनका कहा हुआ है) कैसे सिद्ध होता है।

परचित्तविंदां ज्ञानमयथार्थं कथं यथा।
स्वचित्तज्ञानमज्ञानाद् यथा बुद्धस्य गोचरः।। २१।।

परिचित्तविदों का ज्ञान अयथार्थ कैसे हैं? (यथा) अपने चित्त का ज्ञान (अयथार्थ है, वैसे ही दूसरों का)। (इसका उत्तर है) आज्ञा से। जैसे बुद्ध को उसका ज्ञान है (वैसा परिचित्तविदों का नहीं)।

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः स्वशक्तिसदृशी मया।

कृतेयं सर्वथा सा तु न चिन्त्या बुद्धगोचरः।। २२।।

विज्ञप्तिमात्रता की यथाशक्ति मेरे द्वारा सिद्ध की गयी। (किन्तु) वह चिन्ता के द्वारा पूर्णतः नहीं जानी जा सकती है। सभी प्रकार से मेरे जैसे मनुष्यों द्वारा उसका चितन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह तर्क का विषय नहीं है। (वह) बुद्ध गोचर है।

२. अथत्रिंशिकाविज्ञप्तिकारिका

इस ग्रन्थ में कुल तीस कारिकाएँ (श्लोक) हैं जो इस प्रकार हैं–

आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते।

विज्ञानपरिणामेऽसौ परिणामः स च त्रिधा।। १।।

विपाको मननाख्यश्च विज्ञप्तिर्विषयस्य च।

तत्रालयाख्यं विज्ञानं विपाकः सर्वबीजकम्।। २।।

असंविदितकोपादिस्थानविज्ञप्तिकं च तत्।

सदा स्पर्शमनस्कारवित्संज्ञाचेतनान्वितम्।। ३।।

उपेक्षा वेदना तत्रानिवृताव्याकृतं च तत्।

तथा स्पर्शादयस्तच्च वर्तते स्रोतसौघवत्।। ४।।

तस्य व्यावृत्तिरर्हत्त्वे तदाश्रित्य प्रवर्तते।

तदालम्बं मनोनाम विज्ञानं मननात्मकम्।। ५।।

क्लेशैश्चतुर्भिः सहितं निर्वताव्याकृतैः सदा।

आत्मदृष्ट्यात्ममोहात्ममानात्मस्नेहासंज्ञितैः।। ६।।

यत्रजस्तन्मयैरन्यैः स्पर्शाद्यैश्चार्हतो न तत्।

न रिनोधसमापत्तौ मार्गे लोकोत्तरे न च।। ७।।

द्वितीयः परिणामोऽयं तृतीयः षड्विधस्य या।

विषयस्योपलब्धिः सा कुशलाकुशलाद्वया।। ८।।

सर्वत्रगैर्विनियतैः कुशलैश्चैतसैरसो।

सम्प्रयुक्ता तथा क्लैशैरुपक्लेशैस्त्रिवेदना।। ६।।

आद्या. स्पर्शादयश्छन्दाधिमोक्षस्मृतयः सह।

समाधिधीभ्यां नियताः श्रद्वाथह्वीरपत्रपा।। १०।।

अलोभादित्रयं वीर्यं प्रश्रब्धिः साप्रमादिका।

अहिंसा कुशलाः क्लेशा रागप्रतिघमूढयः।। ११।।

मानदृग्विचिकित्साश्च क्रोधोपनहने पुनः।

म्रक्षः प्रदाशईष्यार्थमात्सर्य सह मायया।। १२।।

शाठ्यं मदोऽविहिंसा ह्वीरत्रपास्त्यानमुद्धव·।

आश्रद्ध्यमथ कौसीद्यं प्रमादो मुषिता स्मृतिः।। १३।।

विक्षेपोऽसम्प्रजन्यं च कौकृत्यं मिद्धमेव च।

वितक्रश्च विचारश्चेत्युपक्लेशा द्वये द्विधा।। १४।।

पञ्चानां मूलविज्ञाने यथाप्रत्ययमुद्भवः।

विज्ञानानां सह न वा तरंगाणां यथा जले।। १५।।

मनोविज्ञानसम्भूतिः सर्वदासंज्ञिकादृते।

समापत्तिद्वयान्मिद्धान्मूर्च्छनादप्यचित्तकात्।। १६।।

विज्ञानपरिणामोऽयं विकल्पो यद् विकल्प्यते।

तेन तन्नास्ति तेनेदं सर्व विज्ञप्तिमात्रकम्।। १७।।

सर्वबीजं हि विज्ञानं परिणामस्तथा तथा।

यात्यन्योऽन्यवशाद् येन विकल्पः स स जायते।। १८।।

कर्मणो वासना ग्राहद्वयवासनया सह।

क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद् विपाकं जनयन्ति तत्।। १६।।

येन येन विकल्पेन यद् यद् वस्तु विकल्प्यते।

परिकल्पित एवासौ स्वभावो न स विद्यते।। २०।।

परतन्त्रस्वभावस्तु विकल्पः प्रत्ययोद्भवः।

निष्पन्नस्तस्य पूर्वेण सदा रहितता तु या।। २१।।

अतएव स नैवान्यो नानन्यः परतन्त्रतः।

अनित्यतादिवद् नादृष्टेऽस्मिन् स दृश्यते।। २२।।

त्रिविधस्य स्वभावस्य त्रिविधां निःस्वभावताम्।

सन्धाय सर्वधर्माणां देशिता निःस्वभावता।। २३।।

प्रथमो लक्षणेनैव निःस्वभावोऽपरः पुनः।

न स्वयंम्भाव एतस्येत्परा निःस्वभावता।। २४।।

धर्माणा परमार्थश्च स यतस्तथताऽपि स।

सर्वकालं तथाभावात् सैव विज्ञप्तिमात्रत।। २५।।

यावद् विज्ञप्तिमात्रत्वे विज्ञानं नावतिष्ठति।

ग्राहद्वयस्यानुशयस्तावन्न विनिवर्तते।। २६।।

विज्ञप्तिमात्रमेवेदमित्यपि ह्ययुपलम्भतः।

स्थापयन्नग्रतः किचिंत् तन्मात्रे नावतिष्ठिते।। २७।।

यदालम्बनं ज्ञानं नैवोपलभते तदा।

स्थितं विज्ञानमात्रेत्वे ग्राह्याभावे तदग्रहात्।। २८।।

अचित्तोऽनुपलम्भोऽसौ ज्ञानं लोकोत्तरं च तत्।

आश्रयस्य परावृत्तिर्द्धिधा दौष्ठुल्यहानितः।। २९।।

स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः।

सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुनेः।। ३०।।

अर्थत्रिंशिकाविज्ञप्तिकारिकाः (अर्थ सहित) :–

आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते।

विज्ञानपरिणामेऽसौ परिणामः स च त्रिधा।। १।।

आत्मा एवं धर्म का उपचार (व्यवहार) जो विविध प्रकार का होता है, वह विज्ञान–परिणाम के अन्तर्गत है। वह परिणाम तीन प्रकार का है।

विपाको मननाख्यश्च विज्ञप्तिर्विषयस्य च।

तत्रालयाख्यं विज्ञानं विपाकः सर्वबीजकम्।। २।।

विपाक, मनन एवं विषयविज्ञप्ति यही तीन परिणाम है। उनमें आलय विज्ञान जो सबका बीज है, उसे विपाक कहते हैं।

असंविदितकोपादिस्थानविज्ञप्तिकं च तत्।

सदा स्पर्शमनस्कारवित्संज्ञाचेतनान्वितम्।। ३।।

असंविदित उपादि स्थानविज्ञप्ति कहलाती है। स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा और चेतना से सर्वदा युक्त रहता है।

उपेक्षा वेदना तत्रानिवृताव्याकृतं च तत्।

तथा स्पर्शादयस्तच्च वर्तते स्रोतसौघवत्।। ४।।

वहाँ उपेक्षा वेदना रहती है, और वह अनिवृताव्याकृत है तथा स्पर्शादि . . . .। वह प्रवाह के रूप में प्रवृत्त होता रहता हैं

तस्य व्यावृत्तिरर्हत्त्वे तदाश्रित्य प्रवर्तते।

तदालम्बं मनोनाम विज्ञानं मननात्मकम्।। ५।।

उसकी व्यावृत्ति अर्हत्व की अवस्था में होती है। उसी के आश्रय से यह प्रवृत्त होता है। उस पर आलम्बित होकर माननात्मक मनोविज्ञान उत्पन्न होता है।

क्लैशैश्चतुर्भिः सहितं निवृताव्याकृतैः सदा।

आत्मदृष्ट्यात्ममोहात्ममानात्मस्नेहसंज्ञितैः।। ६।।

चार निवृताव्याकृत क्लेशों के साथ वह सर्वदा रहता है। आत्मदृष्टि, आत्ममोह, आत्ममान तथा आत्म स्नेह नामक चार क्लेशों से युक्त रहता है।

यत्रजस्तन्मयैरन्यैः स्पर्शाद्यैश्चार्हतो न तत्।

न निरोधसमापत्तौ मार्गे लोकोत्तरे न च।। ७।।

जहाँ जन्म लेता है, उन्हीं के साथ . . . . .। . . . . अन्य स्पर्शादि के साथ भी मोक्ष के अभाव की प्राप्ति नहीं हो सकती है। (क्योंकि) अर्हत् को वह मन नहीं होता है। न वह निरोध समापत्ति की अवस्था में रहता है और न लोकोत्तर मार्ग में ही।

द्वितीय परिणामोऽयं तृतीय. षड्विधस्य या।

विषयस्योपलब्धिः सा कुशलाकुशलाद्वया।। ८।।

यह द्वितीय परिणाम है . . . .। जो छः प्रकार की विषयोपलब्धियाँ है, उन्हीं का नाम तृतीय परिणाम है। . . . . कुशल, अकुशल एवं अद्वय।

सर्वत्रगैर्विनियतैः कुशलैश्चैतसैरसों।

सम्प्रयुक्ता तथा क्लेशैरुपक्लेशैस्त्रिवेदना।। ६।।

वह सर्वत्रग, विनियत, कुशल, क्लेशों, उपक्लेशों—इन चैतसिकों से तथा तीन प्रकार की वेदनाओं से सम्प्रयुक्त है।

आद्या स्पर्शादयश्छन्दाधिमोक्षस्मृतयः सह।

समाधिधीभ्यां नियता. श्रद्धाथ ह्रीरपत्रपा।। १०।।

(इस श्लोक के) प्रारम्भ में (सर्वत्रग शब्द से) स्पर्शादि गृहीत होते हैं। समाधि, धी, छन्द, अधिमोक्ष तथा स्मृति— ये विनियत चैतसिक हैं। श्रद्धा, ह्री, अपत्रपा।

अलोभादित्रयं वीर्य प्रश्रब्धिः साप्रमादिका।

अहिंसा कुशलाः क्लेशा रागप्रतिघमूढयः।। ११।।

अलोभ, अद्वेष, अमोह, वीर्य, प्रश्रब्धि, अप्रमाद तथा अहिंसा— ये ग्यारह धर्म कुशल हैं, यह वाक्य शेष है। (तदनन्तर क्लेशों का उपदेश दिया गया है, अतः उनके विषय में कहते हैं) क्लेश हैं—राग—द्वेष, मोह।

मानदृग्विचिकित्साश्च क्रोधोपनहने पुनः।

भ्रक्षः प्रदाश ईर्ष्याथ मात्सर्य सह मायया।। १२।।

मानदृष्टि विचिकित्सा आदि छः क्लेश कह दिए गये हैं— इनके अनन्तर उदिष्ट होने के कारण उपक्लेश को कहना चाहिए, अतः कहा गया है— क्रोध, उपनाह, भ्रक्ष, प्रदाश, ईर्ष्या, मात्स्र्य, माया . . . . .।

शाठ्यं मदोऽविहिंसा ह्रीरत्रपा स्त्यानमुद्धवः।

आश्रद्धयमथ कौसीद्यं प्रमादो मुषिता स्मृतिः।। १३।।

शाठ्य, मद, विहिसा, अह्रो, अत्रपा, स्त्यान, उद्धव, अश्रद्धा, कौशीद्य, प्रमाद, स्मृतिभ्रष्टता।

विक्षेपोऽसम्प्रजन्यं च कौकृत्यं मिद्धमेव चं।

वितक्रश्च विचारश्चेत्युपक्लेशा द्वये द्विधा।। १४।।

विक्षेप, असप्रजन्य तथा कौकृत्य मिद्ध, वितर्क, विचार– ये दोनो युग्म दो प्रकार के हैं।

पञ्चानां मूलवज्ञाने यथाप्रत्ययमुद्भवः।

विज्ञानानां सह न वा तरंगाणां यथा जले।। १५।।

मूल विज्ञान में कारणों के सानिद्वयक होने से पॉचो विज्ञानों की एक साथ उत्पत्ति हो सकती है और पृथक्–पृथक् भी, यथा जल में तरंगों की।

मनोविज्ञानसम्भूतिः सर्वदासंज्ञिकादृते।

समापत्तिद्वयान्मिद्धान्मूर्च्छनादप्यचित्तकात्।। १६।।

मनोविज्ञान की उत्पत्ति सर्वदा आसंज्ञिक, असांज्ञिकसमापत्ति, निरोधसमापत्ति, अचित्तकमिद्ध और अचित्तकमूर्छा को छोडकर चक्षु आदि विज्ञानों के साथ भी या पृथक् भी होती है।

विज्ञानपरिणामोऽयं विकल्पो यद् विकल्प्यते।

तेन तन्नास्ति तेनेदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम्।। १७।।

जो कुछ विकल्प किया जाता है, वह विज्ञान परिणाम ही है। अतः वे (बाह्य विषयादि) नहीं हैं, सब कुछ विज्ञप्ति मात्र है।

सर्वबीजं हि विज्ञानं परिणामस्तथा तथा।

यात्यन्योऽन्यवशाद् येन विकल्पः स स जायते।। १८।।

सब का बीज विज्ञान है। अन्योन्यवश से उस प्रकार के परिणाम होते हैं और उसी के कारण विकल्प भी उत्पन्न होते हैं।

कर्मणो वासना ग्राहद्वयवासनया सह।

क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद् विपाकं जनयन्ति तत्।। १६।।

ग्राह्यद्वयवासना अर्थात् ग्राह्यग्राहक वासना के साथ कर्मवासना पूर्व आलयविज्ञान के नष्ट होने पर अन्य आलयविज्ञान को उत्पन्न करती हैं

येन येन विकल्पेन यद यद् वस्तु विकल्प्यते।

परिकल्पित एवासौ स्वभावो न स विद्यते।। २०।।

जिस–जिस विकल्प से जिस वस्तु का विकल्प होता है, वह परिकल्पित स्वभाव है। वह वास्तविक नहीं है।

परतन्त्रस्वभावस्तु विकल्पः प्रत्ययोद्भवः।

निष्पन्नस्तस्य पूर्वेण सदा रहितता तु या।। २१।।

निष्पन्न वह इसलिए है कि वह पूर्व अर्थात् परिकल्पित ग्राहकग्राह्यभाव से सर्वदा रहित है। अतः वह (परिनिष्पन्न) परतन्त्र से न भिन्न ही है, न अभिन्न ही।

अतएव स नैवान्यो नानन्यः परतन्त्रतः।

अनित्यतादिवद् वाच्यो नादृष्टेऽस्मिन् स दृश्यते।। २२।।

यदि परतन्त्र ग्राह्यग्राहक भाव से रहित है तो उसका ग्रहण कैसे होता है तथा बिना ग्रहण हुए उसके अस्तित्व का ज्ञान कैसे होता है? अतः कहा गया है कि इसकी बिना ग्रहण हुए उसके अस्तित्व का ज्ञान कैसे होता है? अतः कहा गया है कि इसको बिना देखे उसका दर्शन नही होता है।

त्रिविधस्य स्वभावस्य त्रिविधां निःस्वभावताम्।

सन्धाय सर्वधर्माणां देशिता निःस्वभावता।। २३।।

तीन प्रकार के स्वभाव की तीन प्रकार की निःस्वभावता को देखकर सभी प्रकार के धर्मों की निःस्वभावता का उपदेश दिया गया है।

प्रथमो लक्षणेनैव निःस्वभावोऽपरः पुनः।

न स्वयंम्भाव एतस्येत्परा निःस्वभावता।। २४।।

प्रथम तो लक्षण से निःस्वभाव है, दूसरे का स्वयं भाव नहीं होने के कारण उत्पत्ति निःस्वभाव है।

धर्माणां परमार्थश्च स यतस्तथतापि सः।

सर्वकालं तथाभावात् सैव विज्ञप्तिमात्रता।। २५।।

धर्मो का वही वास्तविक स्वरूप है इसलिए (परिनिष्पन्न मे) परमार्थ निःस्वभावता है। वही तथता है। सभी काल में उसी रूप में बने रहने के कारण (वह तथता) है। वही ही विज्ञप्तिमात्रता है।

यावद् विज्ञप्तिमात्रत्वे विज्ञानं नावतिष्ठति।
ग्राह्द्वयस्यानुशयस्तावन्न विनिवर्तते।। २६।।

जब तक विज्ञान विज्ञप्तिमात्रता में स्थित नहीं होता है, तब तक ग्राह्य और ग्राहक वासना नष्ट नहीं होती है।

विज्ञप्तिमात्रमेवेदमित्यपि ह्युपलम्भतः।
स्थापयन्नग्रत. किंचित् तन्मात्रे नावतिष्ठिते।। २७।।

यह विज्ञप्तिमात्र हैं (ऐसा कहने वाला भी) आगे किसी पदार्थ को रख कर उसकी उपलब्धि करते हुए ही (ऐसा) कहता है। अतः वह विज्ञप्तिमात्रता में स्थित नहीं रहता।

यदालम्बनं ज्ञानं नैवोपलभते तदा।
स्थितं विज्ञानमात्रत्वे ग्राह्याभावे तदग्रहात्।। २८।।

जब विज्ञान आलम्बन का ग्रहण नहीं करता है, उस समय विज्ञप्तिमात्रता में चित्त स्थित हो जाता है क्योंकि ग्राह्यविषय के अभाव में ग्राहकविज्ञान का भी ग्रहण नहीं होता है।

अचित्तोऽनुपलम्भेऽसौ ज्ञानं लोकोत्तरं च तत्।
आश्रयस्य परावृत्तिर्द्विधा दौष्ठुल्यहानितः।। २६।।

चित्त तथा उपलब्धि (दोनो से) रहित अवस्था की प्राप्ति होती है। वही लोकोत्तर ज्ञान है। दो प्रकार के दौष्ठुल्यों की हानि से आश्रय अर्थात् आलय विज्ञान की परावृत्ति हो जाती है।

स एवानस्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः।
सुखो विमुक्तिकायोऽसो धर्माख्योऽयं महामुनेः।। ३०।।

वही अनास्रव धातु है, जो अचिन्त्य कुशल, ध्रुव तथा सुखस्वरूप विमुक्तिकाय है। यही महामुनि का धर्मकाय है।

क्लेशावरण के प्रहाण से श्रावकों का वह वियुक्तिकाय है। वही आश्रयपरावृत्ति लक्षणवाला महामुनि बुद्ध का धर्मकाय भी है। भूमिपारमितादि की भावना से क्लेश तथा ज्ञेयावरण के प्रभाव से,

आश्रयपरावृत्ति के समुदागम से (वह) महामुनि (बुद्ध) का धर्मकाय कहलाता है। संसार के परित्याग से, क्लेशो, का अभाव हो जाने पर सभी धर्मो में व्यापकता की प्राप्ति होने से धर्मकाय कहलाता है महामुनि का (धर्मकाय, ऐसा जो कहा गया है, उसमे महामुनि शब्द से) परामौनेय के योग से भगवान बुद्ध ही (अभिप्रेत) हैं।

अथ त्रिस्वभावनिर्देश-

इसमें कुल ३८ कारिकाएँ (श्लोक) हैं, जो इस प्रकार है–

कल्पितः परतन्त्रश्च परिनिष्पन्न एव च।
त्रयः स्वभावा धीराणां गम्भीरज्ञेयमिष्यते।। १।।
यत् ख्याति परतन्त्रोऽसौ यथा ख्याति स कल्पितः।
प्रत्ययाधीनवृत्तित्वात् कल्पनामात्रभावतः।। २।।
तस्य ख्यातुर्यथाख्यानं या सदाऽविद्यामानता।
ज्ञेयः स परिनिष्पन्नस्वभावोऽनन्यथात्वतः।। ३।।
तत्र किं ख्यात्यसत्कल्पः कथं ख्याति द्वयात्मना।
तस्य का नास्तिता तेन या तत्राऽद्वयधर्मता।। ४।।
असत्कल्पोऽत्र कश्चित्तं यतस्तेन हिं कल्प्यते।
यथा च कल्पयत्यर्थ तथाऽत्यन्तं न विद्यते।। ५।।
तद्वेतुफलभावेन चित्तं द्विविधमिष्यते।
यदालयाख्यं विज्ञानं प्रवृत्त्याख्यं च सप्तधा।। ६।।
संक्लेशवासनाबीजैश्चितत्वाच्चित्तमुच्यते।
चित्तमाद्यं द्वितीयं तु चित्राकारप्रवृत्तितः।। ७।।
समासतोऽभूतकल्पः स चैष त्रिविधो मतः।
वैपाकिकस्तथा नैमित्तिकोऽन्यः प्रातिभासिकः।। ८।।
प्रथमो मूलविज्ञानं तद्विपाकात्मकं यतः।
अन्यः प्रवृत्तिविज्ञानं दृश्यदृग्वित्तिवृत्तितः।। ६।।
सदसत्त्वाद् द्वयैकत्वात् संक्लेशव्यवदानयोः।

लक्षणाभेदतश्चेष्टा स्वभावाना गभीरता।। १०।।

सत्त्वेन गृह्यते यस्मादत्यन्ताभाव एव च।

स्वभाव कल्पितस्तेन सदसल्लक्षणो मत।। ११।

विद्यते भ्रान्तिभावेन यथाख्यानं न विद्यते।

परतन्त्रो यतस्तेन सदसल्लक्षणो मतः।। १२।।

अद्वयत्वेन यच्चास्ति द्वयस्याभाव एव च।

स्वभावस्तेन निष्पन्नः सदसल्लक्षणो मतः।। १३।।

द्वैविध्यात् कल्पितार्थस्य तदसत्त्वैकभावत।

स्वभावः कल्पितो बालैर्द्वयैकत्वात्मको मतः।। १४।।

प्रख्यानाद द्वयभावेन भ्रान्तिमात्रैकभावतः।

स्वभाव. परतन्त्राख्यो द्वयैकत्वात्मको मतः।। १५।।

द्वयाभावस्वभावत्वादद्वयैकस्व भावत।

स्वभाव परिनिष्पन्नो द्वयैकत्वात्मको मत.।। १६।।

कल्पित परतन्त्रश्च ज्ञेयं संक्लेशक्षणम्।

परिनिष्पन्न इष्टस्तु व्यवदानस्य लक्षणम्।। १७।।

असद्द्वयस्वभावत्वात् तदभावस्वभावतः।

स्वभावात् कल्पिताज्ज्ञेयो निष्पन्नोऽभिन्नलक्षणः।। १८।।

अद्वयत्वस्वभावत्वाद् द्वयाभावस्वभावतः।

निष्पन्नात् कल्पितश्चैव विज्ञेयोऽभिन्नलक्षणः।। १९।।

यथाख्यानमसद्भावात् तथाऽसत्त्वस्वभावतः।

स्वभावात् परतन्त्रख्यान्निष्पन्नोऽभिन्नलक्षणः।। २०।।

असद्द्वयस्वभावत्वाद् यथाख्यानास्वभावतः।

निष्पन्नात् परतन्त्रोऽपि विज्ञेयोऽभिन्नलक्षणः।। २१।।

क्रमभेदः स्वभावानां व्यवहाराधिकारतः।

तत्प्रवेशाधिकाराच्च व्युत्पत्त्यर्थं विधीयते।। २२।।

कल्पितो व्यवहारात्मा व्यवहर्त्रात्मकोऽपरः।

व्यवहारसमुच्छेदस्वभावश्चान्य इष्यते।। २३।।

द्वयाभावात्मकः पूर्ण परतन्त्रः प्रविश्यते।

ततः प्रविश्यते तत्र कल्पमात्रमसद्द्वयम्।। २४।।

ततो द्वयाभावभावो निष्पन्नोऽत्र प्रविश्यते।

तथा ह्मसावेव तदा अस्तिनास्तीति चोच्यते।। २५।।

त्रयोऽप्येते स्वभावा हि अद्वयालम्बलक्षणाः।

अभावादतथाभावात् तदभावस्वभावतः।। २६।।

मायाकृतं मन्त्रवशात् ख्याति हस्त्यात्मना यथा।

आकारमात्रं तत्रास्ति हस्ती नास्ति तु सर्वथा। २७।।

स्वभाव. कल्पितो हस्ती परतन्त्रस्तदाकृतिः।

यस्तत्र हस्त्यभावोऽसौ परिनिष्पन्न इष्यते।। २८।।

असत्कल्पस्तथा ख्याति मूलचित्ताद् द्वयात्मना।

द्वयमत्यन्ततो नास्ति तत्रास्त्याकृतिमात्रकम्।। २९।।

मन्त्रवन्मूलविज्ञानं काष्ठवत्तथता मता।

हस्त्याकारवदेष्टव्यो विकल्पो हस्तिवद् द्वयम्।। ३०।।

अर्थतत्त्वप्रतिवेधे युगपल्लक्षणत्रयम्।

परिज्ञा च प्रहाणं च प्राप्तिश्चेष्टा यथाक्रमस्।। ३१।।

परिज्ञाऽनुपलम्भोऽत्र हानिरख्यानमिष्यते।

उपलम्भनिमित्ता तु प्राप्तिः साक्षात्क्रियाडपि सा।। ३२।।

द्वयस्यानुपलम्भेन द्वयाकारो विगच्छति।

विगमात् तस्य निष्पन्नो द्वयाभावोऽधिगम्यते।। ३३।।

हस्तिनोऽनुपलम्भश्च विगमश्च तदाकृतेः।

उपलम्भश्च काष्ठस्य मायायां युगपद् यथा।। ३४।।

विरुद्धधीवारणत्वाद् बुद्धधा वैयर्थ्यदर्शनात्।

ज्ञानन्नमयानुवृत्तेश्च मोक्षापत्तिरयत्नतः।। ३५।।

चित्तमात्रोपलम्भेन ज्ञेयार्थानुपलम्भता।

ज्ञेयार्थानुपलम्भेन स्याच्चित्तानुपलम्भता।। ३६।।

द्वयोरनुपलम्भेन धर्मधातूपलम्भता।

धर्मधातूपलम्भेन स्याद् विभुत्वोपलम्भता।। ३७।।

उपलब्धविभुत्वश्च स्वपरार्थप्रसिद्धित ।

प्राप्नोत्यनुत्तरॉ बोधिं धीमान् कायत्रयात्मिकाम्।। ३८।।

कल्पित– – – – – – – – – – – – – – गम्भीरज्ञेयमिष्यते।। १।।

परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न ये तीन स्वभाव ही सुदृढ प्रज्ञा वाले यथार्थवेत्ताओ के गम्भीर ज्ञेय (जानने योग्य धर्म) होते हैं।

यत्– – – – – – – – – – – – – –कल्पनामात्र भावत।। २।।

जो (घट आदि द्रव्य) ख्यात (प्रतीत) होते हैं, वे परतन्त्र हैं तथा जिस प्रकार (ग्रह्मग्राहकभाव से) ख्यात होते हैं, वे परिकल्पित हैं; क्योंकि परतन्त्र की सत्ता (आत्मलाभ) हेतु–प्रत्ययों के अधीन है और परिकल्पित का अस्तित्व कल्पना से आरोपितमात्र है।

तस्य – – – – – – – – – – – – – – परिनिष्पन्नस्वभावोऽनन्यथात्वत ।। ३।।

ख्याति के अनुरूप उस परिकल्पित की जो सदा अविद्यामानता (अभाव) हैं, वही परिनिष्पन्न स्वभाव है–ऐसा जानना चाहिये; क्योंकि वह (सदा) अविकारी स्वभाव वाला है।

तत्र– – – – – – – – – – – – – –तत्राऽद्वयधर्मता।। ४।।

क्या ख्यात होता है? अभूतपरिकल्प (चित्त–चैतसिक) ख्यात होता है। किस प्रकार ख्यात होता है? ग्राह्य और ग्राहक इन दो रूपों में ख्यात होता है। उस (असत्परिकल्प) की नास्तिता क्या है? उस (विज्ञप्तिमात्र) में जो ग्राह्यग्राहकद्वय का अभाव है, अर्थात् अद्वधर्मता है।

असत्कल्पोऽत्र– – – – – – – – – – विद्यते।। ५।।

यहाँ असत्कल्प कौन है? (त्रेधातुक) चित्त। क्योंकि उसके द्वारा धर्म कल्पित किये जाते हैं। किन्तु उसके द्वारा (धर्म) जिस प्रकार कल्पित किये जाते हैं, उसका अत्यन्त अभाव होता है।

तद्धेतुफलभावेन– – – – – – – – – – – – – –द्विविधमिष्यते ।। ६

हेतु और फल के रूप में वह चित्त दो प्रकार का है। 'आलय' नामक विज्ञान हेतुचित्त है तथा सात प्रकार के 'प्रवृत्ति' नामक विज्ञान फलचित्त हैं।

संक्लेशवासनाबीजैश्चितत्वाच्चित्तमुच्यते– – – – – – – – – – चित्राकारप्रवृत्तितः ।। ७ ।।

प्रथम आलय विज्ञान इसलिये चित्त कहलाता है, क्योंकि वह क्लेश और उनके वासना–बीजों से उपचित या परिपुष्ट होता है तथा सप्तविध प्रवृत्तिविज्ञान इसलिये चित्त कहलाते हैं, क्योंकि उनकी प्रवृत्ति भिन्न–भिन्न आकारों को ग्रहण करते हुये होती है। अर्थात् उनकी चित्राकार प्रवृत्ति होती है।

समासतोऽभूतकल्पः– – – – – – – – – – – – – –प्रातिभासिकैः ।। ८ ।।

संक्षेप में वह अभूतपरिकल्प (समस्त चित्त) इन तीन प्रकारों में संगृहीत हैं, यथा–वैपाकिक, नैमित्तिक एवं प्रातिभासिक।

प्रथमो– – – – – – – – – – – – – –दृश्यदृग्वित्तिवृत्तित. ।। ९ ।।

मूलविज्ञान (आलयविज्ञान) प्रथम अर्थात् वैपाकिक है, क्योंकि वह (कुशल–अकुशलों का) विपाकस्वरूप है तथा प्रवृत्तिविज्ञान नैमित्तिक और प्रातिभासिक हैं, क्योंकि वे अपने विषय (दृश्य) में द्रष्टृत्वेन एवं ज्ञातृत्वेन प्रवृत्त होते हैं।

सदसत्त्वाद्– – – – – – – – – – – – – –गभीरता ।। १० ।।

सत् लक्षण और असत्–लक्षण, द्वधात्मक और एकात्मक, संक्लेशलक्षण और व्यवदानलक्षण तथा उनका अभेद–इन दृष्टियों से उपर्युक्त तीनों स्वभावों की गम्भीरता को जानना चाहिये।

सत्त्वेन– – – – – – – – – – – – – –मतः ।। ११ ।।

परिकल्पित–स्वभाव सत्लक्षण भी है और असत्–लक्षण भी है। क्योंकि उसका सत्त्वेन ग्रहण होता है, इसलिये वह सत्–लक्षण है और क्योंकि उसका अत्यन्ताभाव होता है, इसलिये वह असत्–लक्षण भी है।

विद्यते– – – – – – – – – – – – – –मत। । १२ । ।

परतन्त्र स्वभाव सत्–लक्षण भी है और असत्–लक्षण भी है। क्योंकि वह भ्रान्ति के क्षेत्र में विद्यमान होता है, इसलिये वह सत्–लक्षण है और क्योंकि जैसा उसमें प्रतिभास होता है, वैसा (वस्तुस्थिति) नहीं है, इसलिये वह असत्–लक्षण भी है।

अद्वयत्वेन– – – – – – – – – – – – – –मत । । १३ । ।

परिनिष्पन्न–स्वभाव सत्–लक्षण भी है और असत्–लक्षण भी है। क्योंकि वह अद्वयरूप से विद्यमान है, इसलिये वह सत्लक्षण है और क्योंकि वह द्वयभाव (ग्राह्यग्राहकद्वयभाव) से नहीं है, इसलिये वह असत्–लक्षण भी है।

द्वैविध्यात्– – – – – – – – – – – – – –मत । । १४ । ।

बाल–पृथग्जनों द्वारा कल्पित–स्वभाव द्वधात्मक भी है और एकात्मक भी है। वह द्वधात्मक है; क्योंकि कल्पित अर्थ (ग्राह्य और ग्राहक या सदसत्परिकल्पित भेद से) दो प्रकार के होते हैं तथा वह एकात्मक भी है; क्योंकि वस्तुतः न होना, यही उसका एकमात्र स्वभाव है।

प्रख्यानाद्– – – – – – – – – – – – – –मतः । । १५ । ।

परतन्त्र नामक स्वभाव द्वधात्मक भी है और एकात्मक भी है। वह द्वधात्मक है, क्योंकि वह (ग्राह्य–ग्राहक) द्वय के रूप में (पृथक्त्वेन) भासित होता है तथा वह एकात्मक भी है; क्योंकि भ्रान्त होना, यही उसका एकमात्र स्वभाव है।

द्वयाभावस्वभावत्वादद्वयैकस्वभावतः– – – – – – – – – – – – – –मतः । । १६ । ।

परिनिष्पन्न स्वभाव द्वधात्मक भी है और एकात्मक भी है। वह द्वधात्मक है, क्योकि वह द्वयाभाव (ग्राह्य–ग्राहकाभाव)–स्वभाव है तथा वह एकात्मक भी है; क्योंकि वह अद्वयस्वभाव है।

कल्पितः– – – – – – – – – – – – – –लक्षणम् । । १७ । ।

परिकल्पित और परतन्त्र दोनों संक्लेशलक्षण है–ऐसा जानना चाहिए तथा परिनिष्पन्नलक्षण व्यवदानस्वरूप इष्ट है।

असदद्वयस्वभावत्वात्– – – – – – – – – – – – –निष्पन्नोऽभिननलक्षणः।। १८।।

स्वभावद्वय (ग्राह्य–ग्राहकद्वय) के असत् होने से तथा उसके अभावस्वभाव होने से परिकल्पितस्वभाव से परिनिष्पन्नलक्षण अभिन्नलक्षण ही है (अर्थात् घट से पट की भॉति भिन्न नहीं है)–ऐसा जानना चाहिये।

अद्वयत्वस्वभावत्वाद– – – – – – – – – – – – –विज्ञेयोऽभिन्नलक्षण।। १६।।

अद्वयस्वभाव होने से तथा द्वयाभावस्वभाव होने से परिनिष्पन्न से कल्पितस्वभाव अभिन्न लक्षण है (अर्थात् घट से पट की भॉति भिन्न नही है)–ऐसा जानना चाहिये।

यथाख्यानमसद्भावात्– – – – – – – – – – –परतन्त्राख्यान्निष्पन्नाऽभिन्नलक्षण।। २०।।

ख्याति के अनुरूप असत् होने से तथा उस प्रकार से अभावस्वभाव होने से परतन्त्रस्वभाव से परिनिष्पननस्वभाव अभिन्नलक्षण है।

असद्द्वयस्वभावत्वाद्– – – – – – – – – – – – –विज्ञेयोविज्ञेयोऽभिन्नलक्षणः।। २१।।

द्वयस्वभाव के असत् होने से तथा प्रतीति के अनुरूप स्वभावरहित होने से परिनिष्पन्नस्वभाव से परतन्त्र भी अभिन्नलक्षण है–ऐसा जाना चाहिये।

क्रमभेदः– – – – – – – – – – – – –विधीयते।। २२।।

(उपर्युक्त तीनों) स्वभावों का व्यवहार के अधिकार की दृष्टि से एवं उनमें प्रवेश के अधिकार की दृष्टि से क्रमभेद जानने के लिये प्रतिपादन किया जा रहा है।

कल्पितो– – – – – – – – – – – – –इष्यते।। २३।।

परिकल्पितलक्षण व्यवहारात्मक (व्यवहार्य) है, परतन्त्रलक्षण व्यवहारकारक स्वभाव वाला है तथा परिनिष्पन्नलक्षण (समस्त) व्यवहारों के समुच्छेद स्वभाव का है।

द्वयाभावात्मकः– – – – – – – – – – – – –कल्पमात्रमसद्द्वयम्।। २४।।

द्वय (ग्राह्य–ग्राहक)–अभावात्मक परतन्त्र में प्रवेश पहले होता है। तदनन्तर उस (परतन्त्र) में कल्पितमात्र प्रविष्ट होता है, जिसमें द्वैत (सर्वथा) असद्भूत है।

ततो– – – – – – – – – – – – – –चोच्यते।। २५।।

तदनन्तर उसमें द्वय (ग्राह्य–ग्राहक)–अभावस्वभाव परिनिष्पन्नलक्षण प्रविष्ट होता है। इस तरह उस समय यह (परिनिष्पन्नलक्षण) ही भावाभाव–स्वभाव कहलाता है।

त्रयोऽप्येते– – – – – – – – – – – – – –तदभावस्वभावत.।। २६।।

ये तीनों स्वभाव भी (क्रमशः) असद्भूत होने से, अतथाभूत होने से तथा कल्पिताभावस्वभाव होने से अद्वय और अनालम्बन लक्षण है।

मायाकृतं– – – – – – – – – – – – – –सर्वथा।। २७।।

जिस तरह माया द्वारा निर्मित वस्तु मन्त्र (आदि) के वश से हस्ती (आदि) के रूप में प्रतीत होती है, (फिर भी) वहाँ केवल आकारमात्र ही होता है, हस्ती तो वहॉ सर्वथा (ही) नहीं होता।

स्वभावः– – – – – – – – – – – – – –इष्यते।। २८।।

उपर्युक्त (दृष्टान्त में) हस्ती परिकल्पित स्वभाव है। हस्त्याकृति परतन्त्र–स्वभाव है तथा उस आकृति में हस्ती का जो (वस्तुतः) अभाव है, वह परिनिष्पन्नस्वभाव इष्ट है।

असत्कल्पस्तथा– – – – – – – – – – – – – –तत्रास्त्याकृतिमात्रकम्।। २९।।

मूलचित्त (आलयविज्ञान) से (समुद्भूत) असत्कल्प (प्रवृत्ति–विज्ञान) ग्राह्यग्राहकद्वय के रूप में ख्यात (प्रतिभासित) होते हैं। वहॉ ग्राह्य–ग्राहकद्वय (तो सर्वथा) अत्यन्त असत् हैं, केवल आकारात्मक (विज्ञप्तिमात्रता) ही (विद्यमान) है।

मन्त्रवन्मूलविज्ञानं– – – – – – – – – – – – – –द्वयम्।। ३०।।

आलयविज्ञान मन्त्र के समान है। काष्ठ (आदि सामग्री) के समान तथता (अर्थात् परिनिष्पन्नलक्षण) है, हस्त्याकार के समान विकल्प (अर्थात् चित्त–चैतसिक परतन्त्रलक्षण) है तथा हस्ती के समान ग्राह्यग्राहकद्वय (अर्थात् परिकल्पितलक्षण) है।

अर्थतत्त्वप्रतिवेधे– – – – – – – – – – – – – –यथाक्रमस्।। ३१।।

वस्तु की यथार्थस्थिति (धर्मता) का साक्षात्मकार हो जाने पर तीनों लक्षणों का अवबोध युगपद् होता है। (किन्तु) परिज्ञा, प्रहाण एवं प्राप्ति क्रमशः इष्ट है।

परिज्ञाऽनुपलम्भोऽत्र– – – – – – – – – – – – – –साक्षात्क्रियाऽपि सा।। ३२।।

(ग्राह्य ग्राहकभाव के) अनुपलम्भ का ज्ञान (साक्षात्कार) परिज्ञा है। अख्याति (आरोपिताकार का दिखलाई न पडना ही) प्रहाण है तथा प्राप्ति वह है, जिसका निमित्त उपलम्भ (निरोध या प्रहाण) होता है और वह (प्राप्ति) साक्षात्कार भी है।

द्वयस्यानुपलम्भेन– – – – – – – – – – – – – –द्वयाभावोऽधिगम्यते।। ३३।।

(ग्राह्य–ग्राहक)–द्वय के अनुपलम्भ से द्वैतप्रतिभास (सर्वथा) विलुप्त हो जाता है। द्वैतप्रतिभास का विलोप हो जाने से ग्राह्यग्राहकाभावस्वभाव परिनिष्पननलक्षण अधिगत होता है।

हस्तिनोऽनुपलम्भश्च– – – – – – – – – – – – – –यथा।। ३४।।

(ठीक उसी प्रकार) जैसे माया के विषय में हस्ती का अनुपलम्भ, हस्त्याकृति का विलोप एवं काष्ठ (आदि) की उपलब्धि एक–साथ होती है।

विरुद्धधीवारणत्वाद्– – – – – – – – – – – – – –मोक्षापत्तिरयत्नत।। ३५।।

(प्रतिपक्ष)–बुद्धि द्वारा विपक्षबुद्धि का प्रहाण कर देने और निर्वाहयर्थाता का दर्शन करने से तथा श्रुतमयी, चिन्तामयी और भावनामयी प्रज्ञा का अभ्यास करने से अनायास मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

चित्तमात्रोपलम्भेन– – – – – – – – – – – – – –स्याच्चित्तानुपलम्भता।। ३६।।

चित्तमात्र की उपलब्धि से ज्ञेय अर्थ (बाह्य–ग्राहय) की अनुपलब्धि होती है तथा ज्ञेय अथ के अनुपलम्भ से (ग्राहक) चित्त का भी अनुपलम्भ होता है।

द्वयोरनुपम्भेन– – – – – – – – – – – – – –विभुत्वोपलम्भता।। ३७।।

(ग्राह्य और ग्राहक) · दोनों के अनुपलम्भ से धर्मधातु (शून्यता) का उपलम्भ होता है तथा धर्मधातु के उपलम्भ से (अनेकविध) विभुत्वों की उपलब्धि होती है।

उपलब्धविभुत्वश्च– – – – – – – – – – – – – –कायत्रयात्मिकाम्।। ३८।।

स्वार्थ और परार्थ सम्पत्ति की सिद्धि से विभुत्वप्राप्त बुद्धिमान् बोधिसत्त्व कायत्रयात्मक (धर्मकाय, सम्भोगकाय और निर्माणकाय स्वरूप) अनुत्तर सम्यक्–संबोधि को प्राप्त करता है।

वसुबन्धु के हीनयान (वैभाषिक) के महान ग्रन्थ अभिधर्मकोश के दार्शनिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन करने के अनन्तर अब हम उनके योगाचार विज्ञानवाद से सम्बन्धित महाग्रन्थ 'विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि' में निरुपित दार्शनिक सिद्धान्तो का संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि नामक ग्रन्थ के दो भाग हैं– (प्रकरण) विशंतिका तथा त्रिंशिका।

इस समय विशंतिका का जो संस्कारण मिलता है उसमें २२ कारिकाए पाई जाती हैं किन्तु इसके नाम के अनुसार इसमें बीस ही कारिकाएं होनी चाहिए अतः यह तो ग्रन्थ के नामकरण मे आचार्य से भूल हुई है या ये दोनो कारिकाएं प्रक्षिप्त हैं। इस भ्रम का निवारण करते हुए बौद्ध आचार्यो ने[2] दो तर्क दिए हैं।

पहली कारिका[3] वसुबन्धु कृत विंशतिका की स्ववृत्ति नामक टीका मे पद्य रूप मे नही अपितु गद्य रूप में लिखी है इससे यह प्रतीत होता है कि यह विज्ञप्तिमात्रता की मूलकारिका का अश न होकर स्वहस्त का अंश है और मूलग्रन्थ का प्रारम्भ ग्रन्थ के द्वितीय

'यदि विज्ञप्तिरनथां नियमों देशकालयोः।
सन्तानस्यानियमश्च युक्ता कृत्यक्रियार्न न च।।[4]

से प्रारम्भ हुआ हो। यदि यह व्याख्या मान भी ली जाय तो भी विशंतिका में एक कारिका अधिक होने की समस्या बनी ही रहती है। इस समस्या का हल करते हुए बौद्ध दार्शनिकों ने कहा कि अन्तिम–कारिका ग्रन्थ का अंश न होकर उपसंहार मात्र है अथवा यह मात्र ग्रन्थ समाप्ति का सूचक है अतः इसका 'विशंतिका' नाम सार्थक है।[5]

विशंतिका का प्रतिपाद्य विषय

प्रथम कारिका इस ग्रन्थ का प्रतिज्ञा वाक्य है। इस कारिका द्वारा वसुबन्धु ने यह प्रतिज्ञा की है कि बाहर दिखाई पडने वाले पदार्थो (विषयों) का अस्तित्व नहीं है। समस्त धर्म विज्ञप्तिमात्र हैं।[6] यहाँ 'विज्ञप्ति' शब्द का व्यापक अर्थों में प्रयोग किया गया है जिससे 'चित्त और चैतसिक (चित्त से सम्बन्धित) समस्त धर्मों का बोध होता है।

बाहयार्थवादी दार्शनिकों ने 'विज्ञप्तिमात्रता सिद्धान्त' के विरुद्ध जो चार निम्नलिखित आरोप लगाए हैं उनके अनुसार इस सिद्धान्त के मानने १ देश नियम का अभाव २ काव्यनियम का अभाव ३. सन्तान के अनियम का अभाव तथा ४. अर्थक्रिया का अभाव हो जाएगा।

तीसरी से सातवीं कारिका में स्वप्न और नरक आदि का उदाहरण देकर उपर्युक्त आरोपों का खण्डन किया है।

आठवीं से दसवीं कारिका तक वसुबन्धु ने बाह्यार्थ प्रतिपादक सूत्रों के अभिप्राय को स्पष्ट किया है और बुद्ध वचन से उसका सामंजस्य स्थापित किया है।

ग्यारहवीं से पन्द्रहवी कारिका तक वसुबन्धु ने परमाणुवाद का खण्डन किया है। वसुबन्धु कहते हैं कि यदि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व है तो या तो वे एक अवयवी के रूप में होंगे जैसी वैशेषिकों की मान्यता है या अनेक परमाणु संघात के रूप में हो सकते हैं किन्तु ये तीनों ही रूप होता है। बाह्य वस्तु अनेक परमाणु रूप भी नहीं हो सकता क्योंकि इन्द्रियां द्वारा परमाणु का ग्राह्य नहीं होता हैं। अनेक परमाणुओं का संघात भी वस्तुनहीं हो सकती। यदि मध्यस्थ परमाणु के स्वरूप के विरुद्ध होगी और यदि हम यह स्वीकार करें कि ये समस्त परमाणु में षडंशता (६ भाग) मानना पड़ेगा जो परमाणु के स्वरूप के विरुद्ध होगी और हम यह स्वीकार करें कि ये समस्त परमाणु एक स्थान पर विराजमान् हैं तो यह समस्त विराट् जगत् अणुमात्र (लघुतम) सिद्ध होगा जो इन्द्रियानुभव के विपरीत है क्योंकि इन्द्रियों द्वारा हमें एक अति विस्तृत जगत् की अनुभूति होती है। पुनश्च यदि परमाणु हैं तो उसे सावयव मानना पडेगा और जो सावयव है वह कभी एक द्रव्य नहीं हो सकता।

सोलह से इक्कीसवीं कारिका तक का विवेचन है जिसमें वाहयार्थ की सत्ता अस्वीकार करने पर उनके आक्षेपों का विवेचन किया गया है जो विज्ञप्तिमात्रता के विरुद्ध बाह्यार्थवादियों ने किए हैं।

वाहयार्थवादी दार्शनिक का कथन है कि यदि हम बाह्य वस्तु का अस्तित्व नहीं मानेंगे तो स्मृति की व्याख्या नहीं हो सकती क्योंकि मात्र उसी वस्तु का स्मरण होता है जिसका हमने प्रत्यक्ष किया है।

पुनश्च सज्जन के सम्पर्क मे आने पर कुशलकर्म तथा उसमे उनके सम्पर्क मे आने न पर अकुशल कर्म की उत्पत्ति होती है। यदि बाह्य रूप से ये हैं ही नही तो कुशल और अकुशल कर्म समुपस्थित ही नहीं होंगे। इसीप्रकार सद्धर्म और असद्धर्म की देशना के श्रवण में होने वाले शुभकर्म और अशुभकर्म का भेद भी मिट जाएगा पुनश्च यदि जाग्रत एव स्वप्न एक ही हैं तो स्वप्न मे दिखाए दान का और जाग्रत में दिखाये दान का समान फल होगा। इसी प्रकार स्वप्न में की गयी हत्या और जाग्रत अवस्था में की गयी हत्या और उससे होने वाले दण्ड मे कोई अन्तर नहीं रह जाएगा।

पुनश्च यदि समस्त जगत विज्ञप्तिमात्र है कोई बाह्य वस्तु है ही नहीं तो मरण और उसके लिए निर्धारण दण्ड की व्याख्या कैसे होगी। उदाहरण के लिए बाह्य वस्तु का अस्तित्व न मानने पर हम यह भी नहीं मानेंगे कि कोई मारने वाला है या मरने वाला है। यदि बाह्य वस्तु भेड आदि है ही नही तो बाह्य वस्तु कसाई आदि मारते किसको हैं? ऐसी स्थिति में मरण असंभव हो जाएगा।

पुनश्च परचित्तविदभिज्ञा (दूसरों के चित्त को जानने वाले योगी का ज्ञान) असंभव हो जाएगा। किन्तु दूसरे के चित्त की बात योगी जन लेते हैं। यह बात सही है कि इस कारण यह सिद्धान्त कि बाह्य वस्तु का अभाव है, सही नहीं है।

त्रिंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि का प्रतिपाद्य विषय :-

विंशतिका कारिका का मुख्य विषय बाह्य पदार्थों का खण्डन है इसके विपरीत त्रिंशिका में विज्ञानवाद के सिद्धान्तपक्ष को प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ द्वारा विज्ञानवाद के अनुसार जगत् के अस्तित्व की व्याख्या, मोक्ष का स्वरूप और उसकी प्राप्ति के उपाय दर्शाए गए हैं। इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य नैरात्म्यद्वय (पुदगल नैरात्म्य और धर्म नैरात्म्य) की स्थापना करना है क्योंकि इसके बोध से आत्मदृष्टि (आत्मा का अस्तित्व) का विनाश होता है और आत्मदृष्टि के विनाश से मोक्ष और सर्वज्ञत्व की प्राप्ति होती है।

सत्काय दृष्टि (पुद्गलात्मदृष्टि) समस्त क्लेशों का मूल है। यही क्लेशावरण हैं। धर्मात्म–दृष्टि (संसार के समस्त पदार्थों का अस्तित्व) समस्त ज्ञेयों के यथार्थ ज्ञान में बाधक है और यही अक्लिष्ट, अविद्या और ज्ञेयावरण है।

उपर्युक्त नैरात्म्यद्वय के सम्यक् ज्ञान से आत्मा और जगत् के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है जिसके फलस्वरूप हम मोक्ष और विज्ञता की ओर अग्रसर होते हैं, अतः नैरात्म्य बोध इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है।[10]

भगवान् बुद्ध ने 'मध्यम मार्ग' (मध्यमा प्रतिपत्) का उपदेश किया है यह बात सर्व विदित है। सभी बौद्ध सम्प्रदायो की भॉति विज्ञानवाद भी मध्यममार्गी है। विज्ञानवाद के अनुसार बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार करना जैसा सौत्रान्तिक आदि बाह्यवादी दार्शनिक मानते हैं, शाश्वत अन्त हैं तथा बाह्यार्थ की भॉति विज्ञान की भी सत्ता न स्वीकार करना जैसा कि माध्यमिक मानते है उच्छेद–अन्त है। इन दोनों अन्तों का परिहार करके विज्ञान की स्थिति को मध्य से स्थापित करना भी इस ग्रन्थ का उद्देश्य है।[11]

इस प्रकार 'संवृतिसत्य और परमार्थसत्य' इन दो सत्यो की स्थापना करना समस्त बौद्ध सम्प्रदायों का लक्ष्य है। वसुबन्धु ने भी इन ग्रन्थों में विज्ञानवाद के अनुसार दो सत्यो की स्थापना की है। माध्यमिकों के अनुसार जैसे सभी धर्मो की परमार्थ निःस्वभावता परमार्थसत्य होती है और इसीलिए समस्त धर्म प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं उसी प्रकार विज्ञानवाद में भी सभी धर्मों की बाह्यार्थ शून्यता परमार्थ सत्य होती है और इसीलिए समस्त धर्म विज्ञप्तिमात्र हैं। विज्ञप्तिमात्र सभी धर्मों का अस्तित्व होता है। इस रूप में जीव, जन्तु, रूप, शब्द, इहलोक, आदि सभी होते हैं। किन्तु आलय विज्ञान या चित्त के परिणाम के रूप में इनका अस्तित्व होता है, बाह्यरूप में नहीं जैसा पृथग्जनों को कल्पनावश उन्हें दिखाई पडता है।

परिणाम शब्द का अर्थ भी सांख्य के परिणाम शब्द से भिन्न है। सांख्य मे कारण बिना नष्ट हुए कार्य के रूप में परिणत हो जाता है किन्तु प्रतीत्यसमुत्पाद के अर्थ में यहॉ कारण का प्रयोग है।[12] जिसके अनुसार कारणक्षण के निरोध में कार्य कारण से सर्वथा भिन्न होता है। इसे ही अन्यथात्व कहते हैं जो परिणाम शब्द का पर्यायवाची है।[13]

बाह्यार्थवादियों के अनुसार उपचार के लिए भी आत्मा और बाह्यार्थ का होना जरुरी है क्योंकि उपचार तभी होता है जब मुख्य पदार्थ तत्सदृश अन्य धर्म और दोनों में रहने वाला साधारण धर्म अर्थात् 'सादृश्य' विद्यमान होता है। विज्ञानवादियों के अनुसार उपचार का उपर्युक्त अर्थ सही

नहीं है। वस्तुतः शब्द और कल्पना वस्तु में उन गुणों को आरोपित करते हैं जो उस वस्तु में नहीं है और उन अविद्यमान् गुणों का ग्रहण करना ही उपचार कहलाता है।

जिस विज्ञान परिणाम में अनेक प्रकार के आत्मा और बाह्यार्थो का आरोपण होता है वह तीन प्रकार का है–

१. आलय विज्ञान २. क्लिष्टमनोविज्ञान और ३. प्रवृत्ति विज्ञान।

(१) आलय विज्ञान

समस्त सांक्लेशिक और व्यवदानिक धर्मों की वासनाओं या बीजों का आश्रय होने से यह 'सर्वबीजक या आधारविज्ञान' कहलाता है सभी धर्म कार्यत्वेन इसमें स्थित होते हैं अथवा यह स्वयं सभी धर्मो में कारणत्वेन स्थित होता है इसलिए यह आलय कहलाता है। जानता है इसलिए 'विज्ञान'[१४] कहलाता है। समस्त धातु,[१५] गति,[१६] योनि[१७] एवं जातियों[१८] में यह कुशल, अकुशल कर्मों के विपाक के रूप में उत्पन्न होता है इसलिए यह विपाक विज्ञान कहलाता है।

समस्त भाजनलोक, सत्वलोक और वासनाएं आलय विज्ञान के आलम्बन (विषय) हैं। ये आलम्बन या विषय आलय विज्ञान में प्रतिपादित होते हैं। किन्तु यह इनका स्पष्ट रूप से परिच्छेद नहीं कर पाता इसलिए यह अपरिच्छिन्नालम्बन तथा अपरिच्छिन्नाकार कहलाता है।

क्लेशावरण एवं ज्ञेयावरण दोनों में इसका ग्रहण नहीं होता इसलिए यह अनिवृत कहलाता है तथा कुशल एवं अकुशल दोनों में गृहीत नहीं होता इसलिए यह अव्याकृत कहलाता है। स्पर्श, मनस्कर, वेदना, संज्ञा और चेतना ये पाँच सर्वत्रग चैतसिक आलय से सदा सम्प्रयुक्त होते हैं।[१९]

आलय विज्ञान तब तक निरन्तर (अविच्छिन्न रूप से) प्रवाहित होता रहता है जब तक संसार की निवृत्ति नहीं होती। आमतौर पर अर्हत् की अवस्था में या अष्टभूमि प्राप्त अवैवर्तिक बोधिसत्व की अवस्था में उसकी निवृत्ति हो जाती है किन्तु इन दोनों अवस्थाओं में उसका विपाक विज्ञान तब तक बना रहता है जब तक वह जीवित रहता है। किन्तु अर्हत् के रुपाधिशेष निर्वाण और उपर्युक्त बोधिसत्व के दशमभूमि की वज्रोपम समाधि की अवस्था में उसकी समाप्ति (व्यावृत्ति) हो जाती है।[२०]

(२) क्लिष्ट मनोविज्ञान

क्लिष्ट मनोविज्ञान मननात्मक है। आलय विज्ञान इसका आश्रय और आलम्बन (विषय) दोनों ही है। आश्रय इसलिए है कि क्लिष्ट मनोविज्ञान की उत्पादक वासना आलय विज्ञान में ही रहती है। परिपाक (परिपक्व) होने पर उसी से क्लिष्ट मनोविज्ञान की उत्पत्ति होती है और यह क्लिष्ट मनोविज्ञान का आलम्बन इसलिए है कि सत्काय दृष्टि (आत्मा का अस्तित्व मानने के कारण) के कारण आलयविज्ञान को ही व्यक्ति आत्मा मान बैठता है। आलय विज्ञान को आलम्बन (आधार) बनाकर व्यक्ति उसमें आत्मा के अस्तित्व का अभिनिवेश (प्रवेश) करता है। इसे मनस भी कहते हैं क्योंकि इसके द्वारा ही प्रवृत्तिविज्ञानों और आलविज्ञान में व्यवच्छेद (भेद) किया जाता है।[२१]

क्लिष्ट मनोविज्ञान निवृत्त एवं अव्याकृत दोनों होता है। निवृत्त इसलिए कि यह आत्मदृष्टि आदि क्लेशों से मलिन या दूषित होता है। अव्याकृत (अविभक्त) इसलिए कि कुशल या अकुशल में इसका विभाजन नहीं किया जा सकता। यह कुशल, अकुशल सभी चित्तों के साथ सदा प्रवृत्त होता है। इसके साथ स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा, चेतना इन पाँच सर्वत्रग चैतसिकों के अतिरिक्त आत्मदृष्टि, अविद्या (मोह) मान और राग ये चार क्लेश चैतसिक भी सदा सम्प्रयुक्त (संयुक्त) रहते है।

(३) प्रवृत्ति विज्ञान

रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य एवं धर्म नामक छः विषयों को आलम्बन बनाने वाले चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान एवं मनोविज्ञान नामक छः विज्ञान 'प्रवृत्तिविज्ञान' कहलाते हैं। छः प्रवृत्ति विज्ञान और उनके रूपादि छः विषय तृतीय विज्ञान परिणाम के अन्तर्गत गृहीत होते हैं। प्रवृत्ति विज्ञान कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत तीनों होते हैं। वे जब अलोभादि कुशल चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं, तब कुशल, जब लोभादि अकुशल चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं, तब अकुशल तथा जब न कुशल चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं और न अकुशल चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते है, अपितु अन्यविध चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते है, तब वे अव्याकृत कहलाते हैं। सुख, दुःख एवं उपेक्षा तीनो वेदनायें इनसे सम्प्रयुक्त होती हैं तथा पाँच सर्वत्रग, पॉच

विनियत, ग्यारह कुशल, छः क्लेश, बीस उपक्लेश एवं चार अनियत– इस प्रकार कुल ५१ चैतसिक इनसे सम्प्रयुक्त होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के अतिरिक्त प्रवृत्ति विज्ञान का आगे विवेचन और विशद ढग से किया गया है।

अनधिष्ठित मूलविज्ञान से सकल जगत् की प्रवृत्ति

आलयविज्ञान में समस्त जगत् के बीज निहित होते हैं। सभी विज्ञान एवं आलयविज्ञान का एक दूसरे की अपेक्षा से उस प्रकार का परिणाम हुआ करता है अर्थात् वे परस्पर एक दूसरे के कारण होते हैं। पूर्वावस्था को त्याग कर अन्य अवस्था को प्राप्त होना 'परिणाम' है अर्थात् बीजावस्था को त्यागकर फलावस्था को प्राप्त करना परिणाम है।

आलयविज्ञान के कारण चक्षुरादिविज्ञान उत्पन्न होते हैं और चक्षुरादिविज्ञान के कारण आलयविज्ञान उत्पन्न हुआ करता है। चक्षुरादिविज्ञान आलयविज्ञान में वासनायें स्थापित करते हैं, जिससे अनागत काल में पुनः चक्षुरादिविज्ञान उत्पन्न होते हैं। इतना ही नहीं, इन चक्षुरादिविज्ञानों द्वारा आलयविज्ञान में ऐसी भी वासनायें स्थापित की जाती हैं। आलयविज्ञान सर्वविध वासनाओं का आधार होता है इसलिये वह चक्षुरादिविज्ञानों का हेतु भी होता है। इस तरह अन्योन्यवश सकल जगत् या विकल्पों की प्रवृत्ति हुआ करती है। इसके लिए किसी ईश्वर, महेश्वरादि अधिष्ठाता की आवश्यकता नहीं होती है।[२२]

विज्ञप्तिमात्रता के आधार पर पूर्वापर जन्म की सिद्धि

वर्तमान आलयविज्ञान में अनेकविध वासनायें निहिंत होती हैं। पुनर्जन्म का आक्षेप करने में उनमें से कर्म वासनाये प्रधान होती हैं। इस कार्य में ग्राह्यग्राहकवासना उनकी सहायक होती है। जिस प्रकार हाथ की ताकत एवं धनुष आदि मिलकर बाण का प्रक्षेप करते हैं, उसी प्रकार ग्राह्यग्राहकद्वयवासना एवं कर्मवासना मिलकर पुनर्जन्म को सिद्ध करती हैं। फलस्वरूप पुनः पुनः जन्म आविर्भूत होते रहते हैं। पूर्ववासनाओं द्वारा प्रक्षिप्त विपाकविज्ञान के निरुद्ध होने पर तत्क्षण दूसरा विपाक विज्ञान उत्पन्न होता है, जो दूसरी पूर्ववासनाओं द्वारा आक्षिप्त होता है। वस्तुतः

आलयविज्ञान ही जन्मग्रहण करता है और च्युति को प्राप्त होता है। फलत. आत्मा–ईश्वर आदि के न होने पर भी आलयविज्ञान और वासनाओं के आधार पर पुनर्जन्म भलीभाँति सिद्ध हो जाता है।[23]

तीनो लक्षणों का प्रतिपादन

समस्त धर्म तीन स्वभावों में संगृहीत हो जाते हैं। ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो इनमें संगृहीत न होता हो। वे तीन स्वभाव है– **परिकल्पितलक्षण, परतन्त्रलक्षण एवं परिनिष्पन्नलक्षण।** ये तीनो लक्षण प्रत्येक धर्म में विद्यमान होते हैं।

स्वग्राहक कल्पना द्वारा आरोपित होना, परिकल्पित स्वभाव का लक्षण है। रूपादि अचेतन धर्मों में तथा इन्द्रिय, विज्ञान आदि आन्तरिक धर्मों में विकल्पों (तद्ग्राहक कल्पनाओं) द्वारा जो वाह्यार्थत्व आरोपित होता है, वह 'परिकल्पित लक्षण' हैं। रूप से लेकर बुद्ध धर्मों तक सभी में जो बाह्यार्थ आरोपित होता है, वह 'परिकल्पित लक्षण' हैं। रूप से लेकर बुद्धधर्मों तक सभी में बाह्यार्थत्व का आरोप होता है या ग्राह्यग्राहकद्वैत का आरोप हुआ करता हैं वह बाह्यार्थरोप ही उन–उन धर्मों का परिकल्पित लक्षण है, जिसका प्रतिषेध (अभाव) परिनिष्पन्न लक्षण होता है। यहाँ जिस परिकल्पितलक्षण का प्रतिवादन किया जा रहा है, वह परिनिष्पन्नलक्षण का प्रतिषेध्य या धर्मनैरात्म्य का प्रतिषेध्य है। सामान्यतया सभी परिकल्पित लक्षण परिनिष्पन्नलक्षण के प्रतिषेध्य नहीं हुआ करते। उदाहरणार्थ, आकाशादि भी परिकल्पित लक्षण हैं, किन्तु वे सर्वथा अलीक नहीं होते, अतः उनका अभाव परिनिष्पन्न लक्षण नही है।

तात्पर्य यह है कि परिकल्पित भी द्विविध होते हैं, यथा– सत्यपरिकल्पित एवं असत्परिकल्पित। रूपादि धर्मों में विद्यमान अभिधेयत्व, अभिलाप्यत्व एवं आकाश आदि धर्म सत्परिकल्पित हैं, क्योंकि इनका व्यवहारतः अस्तित्व होता है। बाह्यार्थता, अभिधेयस्वलक्षणत्व पुद्गलात्मा, खुपुष्प, शशश्रृंग आदि असत्परिकल्पित हैं क्योंकि इनका व्यवहारतः भी अस्तित्व नहीं होता। शास्त्रों में केवल बाह्यार्थत्व एवं अभिधेयस्वलक्षणत्व का ही मुख्यतः उल्लेख मिलता है, क्योंकि ये ही परिनिष्पन्नलक्षण या धर्मनैरात्म्य के प्रतिषेध्य होते हैं। जो परिकल्पित लक्षण हैं, उनका कथमपि अस्तित्व नहीं होता।[24]

हेतुप्रत्ययों से उत्पन्न होना, परतन्त्र स्वभाव का लक्षण है। समस्त चित्त चैतसिक एव उनमें प्रतिभासित रूपादि धर्म परतन्त्र स्वभाव का लक्षण है। समस्त चित्त चैतसिक एवं उनमें प्रतिभासित रूपादि धर्म परतन्त्र लक्षण हैं। उदाहरणार्थ रूप एवं रुपज्ञ चक्षुर्विज्ञान दोनो परतन्त्रलक्षण हैं और वे दोनों स्वभावतः अभिन्न होते हैं क्योंकि दोनों एक ही बीज के फल हैं, एक ही काल में उत्पन्न होते हैं और एक ही काल में निरुद्ध होते हैं।

परतन्त्र भी द्विविध है, यथा– अशुद्ध परतन्त्र एवं शुद्ध परतन्त्र। समस्त सांसारिक वस्तुयें, जिन पर कर्म एवं क्लेशों का प्रभाव पड़ता है, अशुद्ध परतन्त्र हैं। आर्यों का समाहित ज्ञान, सर्वज्ञज्ञान, बुद्ध के कायवाक्य, क्षेत्र, शुद्ध परतन्त्र कहलाते हैं। परतन्त्र इसलिये कहलाता है क्योंकि वह अपने से भिन्न हेतु–प्रत्ययों के अधीन होता है अर्थात् उनसे उत्पन्न होता है। रूपादि समस्त संस्कृत धर्म आलयविज्ञान एवं वासनाओं के फल हैं, अतः उनका उत्पाद हेतु–प्रत्ययों के अधीन है। फलतः वे परतन्त्र लक्षण होते हैं। रूपादि परतन्त्र लक्षण परमार्थसत् होते हैं।[२५]

ऊपर कहा गया है कि रूपादि परतन्त्र धर्मों में आरोपित बाह्यार्थत्व एवं अभिधेयस्वलक्षणत्व परिकल्पित लक्षण हैं और जो नितान्त असत्स्वभाव हैं। इस तरह परतन्त्र धर्मों में परिकल्पितलक्षण की वस्तुतः अविद्यमानता या रहितता परिनिष्पन्नलक्षण है और विज्ञानवादी शास्त्रों में यही धर्मधातु, तथता, भूतकोटि, परमार्थसत्य आदि शब्दों द्वारा निर्दिष्ट है।[२६] यह परतन्त्र से न तो स्वभावतः भिन्न है और न व्यावृत्तितः अभिन्न। यदि बाह्यार्थ से रहितता (परिनिष्पन्नलक्षण) रूपादि परतन्त्र से भिन्न होगी तो रूप बाह्यार्थ से शून्य है, यह न बन सकेगा। यदि अभिन्न होगी तो जैसे बाह्यार्थशून्यता विशुद्धि मार्ग का आलम्बन होती है, वैसे परतन्त्र भी उसका आलम्बन होने लगेगा अथवा जैसे रूपादि धर्म सांक्लेशिक होते हैं, वैसे शून्यता भी सास्रव होने लगेगी। इस तरह परिनिष्पन्न परतन्त्र से उसी प्रकार से भिन्न है और न अभिन्न, जैसे रूपादि धर्मों की अनित्यता न उनसे भिन्न होती है और न अभिन्न।[२७]

दर्शनमार्ग की अवस्था से शून्यता का साक्षात्कार प्रारम्भ होता है। शून्यता का साक्षात्कार करने वाले ज्ञान को समाहित ज्ञान कहते हैं। समाहित ज्ञान के अनन्तर पृष्ठलब्ध ज्ञान उत्पन्न होता है। इस अवस्था में परतन्त्रता या संवृतिसत्यता का साक्षात्कार हुआ करता है अर्थात् इस अवस्था में समस्त धर्म मायावत् या स्वप्नवत् दृष्टिगोचर होते हैं। विज्ञानवाद एवं माध्यमिक दोनों मतों में

परमार्थसत्य का साक्षात्कार पहले होता है, तदनन्तर संवृत्तिसत्य का साक्षात्कार होता है। दर्शनमार्ग से पूर्व सम्भारमार्ग एवं प्रयोगमार्ग होते हैं। ये पृथग्जनमार्ग हैं। इस अवस्था में परमार्थसत्य एवं सवृत्तिसत्य का यद्यपि ज्ञान होता है, तथापि उनका साक्षात्कार नहीं होता। साक्षात्कार केवल आर्यावस्था में ही सम्भव है।

निःस्वभावताविषयक सूत्रों का अभिप्राय

ऊपर कहा गया है कि परतन्त्र द्रव्यतः सत् है। इसी वजह से उसमें परिकल्पित लक्षण का आरोपण हो पाता है और परिनिष्पन्न की व्यवस्था हो पाती है। यदि परतन्त्र की द्रव्यसत्ता न मानी जाएगी तो तीनों लक्षणों का अपवाद हो जायेगा। किन्तु प्रश्न है कि यदि परतन्त्र की द्रव्यसत्ता है तो प्रज्ञापारमितादि सूत्रों में जो समस्त धर्मों को निःस्वभाव कहा गया है, उससे केसे विरोध न होगा? अर्थात् अवश्य विरोध होगा।

विज्ञानवादियों का कहना है कि सूत्रविरोध बिल्कुल नहीं है। वस्तुतः निःस्वभावताप्रतिपादक सूत्र नीतार्थ नहीं है, अपितु नेयार्थ हैं। अतः उनका अर्थ यथाशब्द स्वीकार नहीं करना चाहिये, अपितु उनका अभिप्राय समझाने का प्रयास करना चाहिए। परिकल्पित, परतन्त्र एवं परिनिष्पन्न तीनों में अपने–अपने ढंग की निःस्वभावता रहती है, इस अभिप्राय से भगवान् उन सूत्रों में समस्त धर्मों को निःस्वभाव कहता है।[२८] यथा– परिकल्पित लक्षणनिःस्वभाव है, परतन्त्र उत्पत्तिनिःस्वभाव है तथा परिनिष्पन्न परमार्थनिःस्वभाव है।

परिकल्पितस्वभाव धर्मों का स्वलक्षणतः अस्तित्व नहीं होता, क्योंकि वे कल्पना और संकेतों द्वारा आरोपितमात्र होते हैं। फलतः वे लक्षणनिःस्वभाव कहे गये हैं। परतन्त्रस्वभाव धर्म हेतु–प्रत्ययों से उत्पन्न होते हैं, उनमें स्वतः उत्पाद का सामर्थ्य नहीं है, अतः वे उत्पत्तिनिःस्वभाव कहे गये हैं अथवा वे जिस प्रकार (बाह्यार्थत्वेन) गृहीत होते हैं, उस प्रकार उनका उत्पाद नहीं होता, इसलिये वे उत्पत्तिनिःस्वभाव कहलाते हैं। परिनिष्पन्नलक्षण परमार्थ निःस्वभाव है। आर्यों का समाहित ज्ञान 'परम' कहलाता है। यह (परिनिष्पन्न) उस ज्ञान का विषय होता है, अतः परमार्थ कहलाता है, साथ ही यह धर्मात्मा से रहितता (धर्मनैरात्म्य) मात्र होता है, इसलिये परमार्थनिःस्वभाव कहा गया है अर्थात् यह योगि–प्रत्यक्ष द्वारा धर्मशून्यता के रूप में गृहीत होता है, इसकी द्रव्यसत्ता नहीं होती, अतः यह निःस्वभाव है। यही परमार्थसत्य है, धर्मो की धर्मता है और तथता भी है।[२९] विज्ञप्तिमात्रता

परिनिष्पन्नलक्षण से स्वभावतः भिन्न नहीं है, परन्तु उनके ज्ञान में क्रम होता है। आर्यों के समाहित ज्ञान में विषय विषयी द्वैत का भान बिल्कुल नहीं होता। वह ज्ञान शून्यता में प्रविष्ट की भाँति या शून्यता के साथ एकरस अनुभूत होता है। आचार्य वसुबन्धु ने यह बात 'सैव विज्ञप्ति मात्रता'[30] द्वारा प्रतिपादित की है।

बाह्यार्थाभाव का हेतु ग्राह्यद्वयानुशय

सामान्यतया जीव जब रूप, पटादि का अवलोकन करता है, उस समय वह उन्हें बाह्यार्थ के रूप में प्रतीत होता है। इसका कारण जीवों के आलयविज्ञान में स्थित ग्राह्यग्राहकद्वयवासना है, जो पूर्वापूर्व धर्मात्मदृष्टि द्वारा आलयविज्ञान में स्थापित की गई है। जब तक योगी का ज्ञान विज्ञप्तिमात्रता में स्थापित नही होता, तब तक उक्त वासना निवृत्त नहीं होती। यहाँ विज्ञप्तिमात्रता का तात्पर्य निर्बाह्यार्थता या शून्यता से है। आर्यों का समाहित ज्ञान विज्ञप्तिमात्रता में स्थित होता है, किन्तु पृष्ठलब्धावस्थ में तो वासनायें सर्वदा के लिये सर्वथा विनष्ट हो जाती हैं। इन अवस्थाओं को छोड़कर अन्य सभी अवस्थाओं में बाह्यार्थाभाव या ग्राह्यग्राहकभास होता रहता है।[31]

क्षान्ति प्रयोगमार्ग की अवस्था में ज्ञान का स्वरूप

क्षान्ति नामक प्रयोगमार्ग की अवस्था में विज्ञप्तिमात्रता के ज्ञान की शक्ति अधिकतम रहती है। उस समय बाह्य ग्राह्याभास सर्वथा विलुप्त हो जाता है, 'समस्त धर्म विज्ञान के परिणाममात्र हैं', केवल इस प्रकार का ज्ञान ही रहता है। उस ज्ञान में बाह्य ग्राह्य के प्रति किचिंत् मात्र भी अभिनिवेश नहीं रहता, उसे समस्त धर्म चित्त के अंश के रूप में दिखलाई पडते हैं। इतना होने पर भी वह ज्ञान शून्यता में अवस्थित नहीं है क्योंकि यद्यपि उस ज्ञान द्वारा बाह्य ग्राह्य का प्रतिषेध कर दिया गया है, तथापि अभी बाह्य ग्राहक का प्रतिषेध नहीं किया गया है। फलतः उस ज्ञान के सम्मुख (विज्ञप्तिमात्र) अवशिष्ट नहीं रह जाता है इसलिये वह शून्यतामात्र में प्रतिष्ठित नहीं है। जब तक बाह्य या आध्यात्मिक कुछ भी आलम्बन ज्ञान के सम्मुख उपस्थित रहता है तब तक वह ज्ञान निरालम्बन नहीं कहा जा सकता है। निष्कर्ष यह है कि विज्ञप्तिमात्र को जानने वाला ज्ञान शून्यता का ज्ञान नहीं है।[32]

शून्यता के साक्षात्कार की अवस्था

जिस समय योगी का ज्ञान किसी साधन धर्म का आलम्बन नहीं करता, अपितु केवल बाह्यार्थ से रहिततामात्र का साक्षात्कार करता है, उस समय वह शून्यता में अवस्थित कहलता है क्योंकि उस ज्ञान के सम्मुख बाह्य ग्राहय का अभावमात्र है और बाह्य ग्राह्य का अभाव होने से वहाँ बाह्य ग्राहक का भास भी सम्भव नहीं है। फलतः उस समय योगी का ज्ञान स्वचित्त धर्मता में प्रतिष्ठित होता है अर्थात् योगी का चित्त अपनी शून्यता में प्रतिष्ठित होता है और यही शून्यता समस्त शून्यताओं में प्रधान या श्रेष्ठ होती है।[33]

कहने का आशय यह है कि बाह्य ग्राह्य की शून्यता का ज्ञान हो जाने पर ग्राहक की शून्यता का ज्ञान भी हो जाया करता है। यदि ग्राह्य के प्रति वाह्यार्थ दृष्टि होती है तो ग्राहक के प्रति बाह्यार्थ दृष्टि भी अवश्यमेव होती है। ग्राह्य वस्तुओं के प्रति जब बाह्यार्थशून्यता का ज्ञान हो जाता है, तब ग्राहय के प्रति बाह्यार्थशून्यता का ज्ञान भी अवश्यमेव हो जाता है। ऐसा नहीं हो सकता कि बाह्य की बाह्यार्थशून्यता का ज्ञान न हो अर्थात् रूपादि ग्राह्य वस्तुओं की बाह्यार्थशून्यता का ज्ञान युगपद् होता है। आचार्य धर्मकीर्ति ने भी यह बात प्रमाणवार्तिक में कही हैं, यथा–

> तत्रैकस्याप्यभावेन द्वयमप्यवहीयते।
> तस्मात्तदेव तस्यापि तत्वं या द्वयशून्यता।।[34]

ग्राह्य एवं ग्राहक दोनों की समानरूप से बाह्यार्थशून्यता के अवबोध से लोकोत्तर ज्ञान का उत्पाद होता है, जो निर्विकिल्पक होता है, एवं स्वचित्त धर्मता में स्थित होता है।

अभिसमयक्रम एवं फलावस्था

बाह्यार्थशून्यता का साक्षात्कार हो जाने पर 'अचित्त' एवं 'अनुपलम्भ' की अवस्था आती है। यह दर्शनमार्ग की अवस्था है। आगे और अभ्यास करने पर भावनामार्ग की अवस्था में द्विविध दौष्ठुल्यों (क्लेशावरण एव ज्ञेयावरण की वासनाओं) का प्रहाण होता है और आश्रयपरावृत्ति आदि फलों की प्राप्ति होती है। यह सब महामुनि का धर्मकाय है।

सक्षेप में अचित्तक अनुपलम्भ एवं लोकोत्तर ज्ञानावस्था दर्शनमार्गावस्था है। द्विविध दौष्ठुल्यों के प्रहाण द्वारा आश्रयपरावृत्ति की अवस्था भावनामार्ग की अवस्था है। अनास्रव, अचिन्त्य, कुशल, ध्रुव, सुख और विमुक्तिकाय आदि की प्राप्ति की अवस्था फलावस्था है। इन सबके सामर्थ्य से सम्भारमार्ग एवं प्रयोगमार्ग से दो पृथग्जन मार्ग भी अवगत हो जाते हैं। इन समस्त बातों का आचार्य वसुबन्धु ने ग्रन्थ के अन्त में सूत्ररूप में उपसंहार के रूप में प्रदर्शन किया है–

अचित्तोऽनुपलम्भोऽसौ ज्ञानं लोकोत्तरं च तत्।
आश्रयस्य परावृत्तिर्द्विधा दौष्ठुल्यहानितः।।
स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुनेः।।[३५]

संदर्भ

१. विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि प्रकरण द्वयम्, पृ० ६५
२. विज्ञप्तिमात्रमेवैतद्सदर्थावभासनात्। वही, पृ० ६५
३. यथा तैमिरिकस्यात्केशचन्द्रादिदर्शनम्। विशंतिका कारिका, १
४. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि प्रकरण द्वयम्, पृ० ६५
५. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, विशंतिका कारिका, १
६. विशंतिका कारिका, २
७. नस्त्यदेकं न चानेकं विषयः परमाणुशः।
   न च ते संहता यस्मात् परमाणुर्न सिध्यति।। विशंतिका कारिका, १
८. वही, १२
९. वही, १४
१०. विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि, पृ० ७४
११. वही, सिद्धि, पृ० ७५
१२. प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वं पुनर्विज्ञानस्य परिणाम शब्देन ज्ञापितम्–त्रिंशिका भाष्य, पृ० १०४
१३. कोऽयं परिणामो नाम? अन्यथात्वम्। कारणक्षण निरोध समकालः कारणक्षणविलक्षण· कार्यस्यात्मलक्षणपरिणाम.। त्रिंशिका भाष्य, पृ० ६७
१४. तत्र सांक्लेशिक। वही, पृ० ३६
१५. काम धातु, रुपधातु, अरुपधातु। वही, पृ० ४०
१६. देव, असुर, मनुष्य, तिर्यक, प्रेत एवं नरक ये छ' गतियों हैं–असुर को छोड़कर पॉच गतियाँ भी मानी जाती हैं नरकप्रेततिर्यश्चो मनुष्याः षडादिवौकसः। अभि० कोश, ३.१
१७. जरायुज, अण्डज, संस्वेदज तथा औपपादुक ये चार योनियाँ हैं

१८ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र ये चार जातियाँ है

१६. असंविदितकोपादिस्थानविज्ञप्तिक च तत्
सदा स्पर्शमनस्कारवित्संज्ञाचेतनान्वितम्।। विज्ञप्ति मात्रता सिद्धि, पृ० ७८

२०. उपेक्षा वेदना तत्रानिर्वृताव्याकृत च तत् तथा स्पर्शादय–त्रिंशिका, ३.४

२१ वच्च वर्तते स्रोतऔद्यवत्। तस्य न्यावृतिरहत्वे–त्रिंशिका, ४.५

२२. तदाश्रित्य प्रवर्तते। तदालम्बन मनोनाम् विज्ञानं मननात्यकम्–त्रिंशिका, ५

२३. सर्वबीजं हि विज्ञानं परिणामस्तथा तथा।
यात्यन्योन्यवशात् येन विकल्प स स जायते।। द्र० त्रि० कारिका १८, पृ० २६६

२४. कर्मणो वासना ग्राहद्वयवासनया सह।
क्षीणे पूर्व विपाकेऽन्यद् विपाक जनयन्ति तत्।। द्र०, त्रि०, का० १६, पृ० २७३

२५. येन–येन विकल्पेन यद्–यद् वस्तु विकल्प्यते।
परिकल्पित एवासौ स्वभावो न स विद्यते।। द्र० त्रि० का० २०, पृ० ३०१

२६. परतन्त्रस्वभावस्तु विकल्पः प्रत्ययोद्भवः। वही, का० २१, पृ० ३०४

२७. निष्पन्नस्तस्य पूर्वेण सदा रहितता तु या। वही, का० २१, पृ० ३०८

२८. अतएव स नैवान्यो नानन्यः परतन्त्रतः। वही, का० २२, पृ० ३१७।

२६. त्रिविधस्य स्वभावस्य त्रिविधां निःस्वभावताम्।
सन्धाय सर्वधर्माणां देशिता निःस्वभावता।। वही, का० २३, पृ० ३२७

३०. प्रथमो लक्षणेनैव निःस्वभावोऽपरा पुनः।
न स्वयंभाव एतस्येत्यपरा निःस्वभावता।। त्रि० का० २४, पृ० ३२६

३१. द्र० त्रिं० का० २५, पृ० ३३५

३२. यावद् विज्ञप्तिमात्रत्वे विज्ञानं नावतिष्ठति।
ग्राहद्वयस्यानुशयस्तावन्न विनिवर्तते। त्रिं० का० २६, पृ० ३३६।

३३. विज्ञप्तिमात्रमेवेदभित्यपि हयुपलम्भतः।
स्थापयन्नग्रतः किञ्चित् तन्मात्र नावतिष्ठते।। वही, का० २६, पृ० ३४२।

३४. यदात्वालम्बनं ज्ञानं नैवोपलभते तदा।
स्थितं विज्ञप्तिमात्रत्वे ग्राह्याभावे तदग्रहात्।। द्र० त्रि० का० २८, पृ० ३४७

३५. द्र०–प्रमाणवार्तिक (प्रत्यक्षपरिच्छेद) पृ० १६४।

अध्याय ६

वसुबन्धु के योगाचार विज्ञानवाद के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन

१. विज्ञप्तिमात्रता का स्वरूप

वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रता (विंशतिका, त्रिंशिका) को मूल रूप में अर्थ सहित प्रस्तुत करने के बाद अब हम विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि में निहित तत्व के स्वरूप का निरूपण करेंगे–

विज्ञानवाद प्रत्ययवादी दर्शन है। विज्ञानवादी दार्शनिक विज्ञान, चित्त, चित्तमात्र अथवा विज्ञप्तिमात्रता को परमतत्व मानते हैं। उनके अनुसार बाह्य जगत् का अस्तित्व नहीं है। जगत् की वस्तुएं हमारी चेतना की प्रतिमाएं हैं, जिन्हें हम अनादि– वासना से ग्रस्त होने के कारण सत्य मान बैठे है। उनके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण हम उनके प्रति राग एवं द्वेष की भावना से प्रेरित होते हैं। यही राग–द्वेषादि हमारे समस्त दुःखों के मूल हैं। इसी के वशीभूत होने के कारण हम भवचक्र में निरन्तर भटक रहे हैं। इस भवचक्र से मुक्ति मिल सकती है। यदि हमें यह ज्ञान हो जाय कि वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है। वे हमारे चित्त की सृष्टि हैं, इस प्रकार के ज्ञान से ही मुक्ति सम्भव है।[1]

यद्यपि विज्ञानवाद का मूल हमें सर्वप्रथम बुद्धवचन[2] में मिलता है और इसके अनेक प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन सद्धर्मलंकावतारसूत्र, सन्धिनिर्मोचनसूत्र, दसभूमिकसूत्र एवं अन्य महायानसूत्रों एवं अश्वघोष के महायानश्रद्धोत्पाद में किया गया है। किन्तु अब तक जिस विज्ञानवाद का प्रतिपादन किया गया था, उसे शुद्धरूपेण विज्ञानवाद नहीं कहा जा सकता है। उसमें शून्यवाद के अनेक सिद्धान्तों का प्रभाव है। विज्ञानवाद को विशुद्ध रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय सर्वप्रथम मैत्रेयनाथ को है, जिन्होंने शून्यवाद से अलग कर उसे एक नई विचारधारा के रूप में रखने का प्रयत्न किया।

असंग ने 'महायान सूत्रलंकार' में स्पष्ट शब्दों में योगाचार विज्ञानवाद का प्रतिपादन किया, फिर नागार्जुन की भाँति कहते है कि परम–सत् तत्वत' अद्वय है। उसे सद्, असत्, असदसत् एवं सदसत्विलक्षण कुछ भी नहीं कहा जा सकता।[3]

इस प्रकार नागार्जुन की भॉति वे यह भी कहते हैं कि पारमार्थिक दृष्टि से संसार एवं निर्वाण में कोई भेद नहीं है। केवल साधारण लोगों को सत्कर्म की प्रेरणा देने के लिए जन्म के अन्त एवं निर्वाण की प्राप्ति की देशना दी जाती है।[4] किन्तु वे यहीं नहीं रूकते। वे नागार्जुन को छोडकर आगे बढते हैं और बहुत ही सावधानी से नागार्जुन एवं अपने दर्शन के अन्तर को स्पष्ट करते हैं। यद्यपि वे व्यक्तिगत आत्मा या जीवात्मा का खण्डन करते है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि उन्होंने निरपेक्ष आत्मा या परमात्मा का खण्डन किया हैं, उनके महायानसूत्रालंकार से अनेक कारिकाएं उद्धृत की जा सकती हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि उन्होंने जिस आत्मा का खण्डन किया है, वह जीवात्मा है, न कि परमात्मा। वे स्पष्टरूपेण कहते हैं कि जो लोग पुद्गल–नैरात्म्य को भलीभॉति समझा कर सही रास्ते पर आ गये है उन्हें विशुद्ध शून्यता में भी शुद्धात्मन (महात्मन्) का दर्शन होता है, और वे महात्मन् के साथ एकाकार हो जाते हैं। उन्होंने न केवल जीवात्मन् एवं महात्मन् का अलग–अलग वर्णन किया है अपितु उनके पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या करने का भी प्रयत्न किया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार छोटी–छोटी नदियाँ अकेली बहती रहने पर स्वल्प जलवाली रहती है, किन्तु समुद्र में मिलने पर उनकी लघुता समाप्त हो जाती है एवं उसी प्रकार जब तक जीवात्माओं का पृथक् अस्तित्व है वे जरामरण आदि भवदुःख से पीड़ित हैं और कभी–कभी स्वल्पानन्द का अनुभव कर लेती हैं, किन्तु ज्योंहि वे महात्मन में विलीन हो जाती हैं, उनका अहं–मम का क्षुद्र संसार समाप्त हो जाता है और वे निरपेक्ष का गौरव प्राप्त कर लेती हैं।[5]

असंग के अनुसार माहत्मन् अथवा परमार्थसत् स्वयं प्रकाश, प्रकृति–प्रभास्वर, स्वभाव से ही विशुद्ध एवं निर्मल है। किन्तु हमारे अज्ञान के कारण दूषित सा प्रतीत होता है। यही चित्त, धर्मधातु, बुद्धता एवं तथता है। इसकी अनुभूति उस समय होती है जब साधक आत्मा एवं दृश्यजगत् दोनों को मिथ्या समझने लगता है। साधक की इस अनुभूति के परिणामस्वरूप उसके सविकल्पक चित्त का भी अन्त हो जाता है क्योंकि ज्ञाता एवं ज्ञेय का द्वैत अनिवार्य है।[6] अतः ज्ञेय के अन्त होने पर

ज्ञाता की कोटि का भी अन्त हो जाता है। उसके ज्ञाता एवं ज्ञेय, ग्राहक एवं ग्राह्य से ऊपर उठने पर उसे धर्मधातु का दर्शन होता है जो द्वैत एवं प्रपंच से परे अनिर्वचनीय परमतत्व है। यह शाश्वत, दिव्य, नित्य, चिरन्तन, परमार्थ, सर्वव्यापी दुःखनिरोध एवं निर्वाण रूप है। इसका ज्ञान शुष्क, नियत एवं संवृत तर्क द्वारा कैसे हो सकता है? इसका ज्ञान तो केवल आर्यज्ञान द्वारा ही सम्भव है, जो सुविशुद्ध ध्यान की चतुर्थ भूमि पर आविर्भूत होता है।[७]

प्रश्न उठता है कि यदि आत्मा एवं दृश्य जगत मिथ्या है तो बुद्ध ने इनकी सत्ता का उपदेश क्यों दिया? क्या बुद्ध की देशना भी असत्य है? असंग का कथन है कि सामान्य जन का चिन्तन ज्ञाता एवं ज्ञेय के द्वित्व पर ही आधारित है। अतः उन्हें तत्व का ज्ञान उनकी क्षमता के अनुसार ही कराया जाता है। वस्तुतः यह बुद्ध का उपाय कौशल है, जिसके द्वारा वे अज्ञ जनों को भी परमसत्व का साक्षात्कार कराते हैं। जिस प्रकार किसी बालक को उँगली की सहायता से चन्द्रमा का दर्शन कराया जाता है उसी प्रकार बुद्ध ने बाह्य वस्तुओं की सहायता से तत्व का दर्शन कराने का प्रयत्न किया है, यद्यपि बाह्य वस्तुएं परमतत्व नहीं है।[८]

यद्यपि असंग ने चित्त, धर्मधातु अथवा परमार्थ का मनोहारी वर्णन किया है जिसे पढकर मन आत्मविभोर हो उठता है किन्तु उनके निरूपण की सबसे बड़ी कमी उसकी तर्कहीनता है। उन्होंने परमतत्व की प्रतिष्ठा तर्क के आधार पर नहीं की। उनकी इस कमी को उनके अनुज वसुबन्धु ने पूरा किया। उन्होंने असंग के चित्त या महात्मन् को नागार्जुन के प्रभाव से पूर्णरूप से मुक्त कर विशुद्ध तार्किक आधार पर सिद्ध कर यह घोषित किया कि वह शून्यता का भी अधिष्ठान है।[९] उनके महान् भाष्यकार स्थिरमति का तो यहॉ तक कथन है कि शून्यवाद का खण्डन करने के लिए ही उन्होंने त्रिंशिका की रचना की।

उन्होंने असंग दर्शन के जीवात्मन् एवं महात्मन् के द्वैत का खण्डन कर स्पष्ट शब्दों में विज्ञप्तिमात्रता की निरपेक्ष सत्ता प्रतिपादित की और कहा कि दृश्य जगत मिथ्या है। यह हमारे मन की सृष्टि है। विज्ञप्तिमात्रता ही एकमात्र सत् है। जिस प्रकार हिरण को मरुस्थल में जल दिखलाई पड़ता है और नेत्र के रोगी को अपने सामने बालों का गुच्छा दिखाई पड़ता है, तब कि न तो वहाँ जल है और न बालों का गुच्छा है[१०] उसी प्रकार अज्ञान के कारण लोगों को दृश्य जगत का अस्तित्व नहीं दिखलायी पड़ता है।

प्रश्न उठता है कि दृश्य जगत् जिसका ज्ञान हमें निरन्तर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता रहता है, उसे असत्य कैसे माना जाय? और विज्ञप्तिमात्रता को जिसका हमें कभी भी साक्षात्कार नही होता, उसे सत्य कैसे माना जाय? क्या यह कहना उचित नहीं कि विज्ञप्तिमात्रता स्वयं असत् है?

वसुबन्धु का कथन है कि दृश्य जगत मिथ्या है अथवा बाह्य विषयों का अस्तित्व नहीं है, का तात्पर्य यह है कि सविकल्प बुद्धि की कोटियों द्वारा निर्मित जगत तत्वतः सत् नहीं है। विज्ञप्तिमात्रता या धर्मनैरात्म्य का सिद्धान्त सविकल्प बुद्धि द्वारा कल्पित कर्ता एवं कर्म, ग्राहक एवं ग्राह्य द्रष्टा एवं दृश्य के द्वन्द पर अधिष्ठित जगत का खण्डन करता है न कि विशुद्ध निर्विकल्प विज्ञप्तिमात्रता का। यह कल्पित जीवात्मा का खण्डन करता है न कि परमतत्व विज्ञप्तिमात्रता का, जो बुद्ध जनों द्वारा समाधि में अनुभूत होती है। विज्ञप्तिमात्रता स्वयंसिद्ध एवं स्वयंप्रकाश एवं समस्त जगत का आधार है, उसका खण्डन बदतोव्याघात है। समस्त जगत का खण्डन खण्डनकर्त्ता के अस्तित्व पर निर्भर है न कि उसके अपवाद पर, बुद्धि की समस्त धारणाएं, खण्डन, मण्डन, निषेध, विधान इसके अस्तित्व पर ही आधारित है, इसके अभाव में नही।

वसुबन्धु का यह सिद्धान्त देकार्त के 'काजितो अर्गो सम' एवं सन्त आगस्टाइन के 'सुफलोट सुम' का स्मरण कराता है। जिसके अनुसार चिन्तक एवं धोखा खाने वाले का अनस्तित्व बदतोव्याघात है।

वसुबन्धु ने न केवल विज्ञप्तिमात्रता को एकमात्र सत् के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है, अपितु एक सच्चे दार्शनिक की भाँति अपने निरपेक्ष सत् से बाह्य–जगत्, मनोजगत एवं आलयविज्ञान की उद्भावना भी की है। उनके अनुसार सब कुछ विज्ञप्तिमात्रता का ही परिणाम है।[11]

उन्होंने अपने विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि नामक ग्रन्थ द्वारा उन दार्शनिकों को भी निरुत्तर किया, जो विज्ञानवाद का यह कहकर परिहास कर रहे थे कि इस दर्शन के अनुसार परमार्थ, जगत, निर्वाण एवं समस्त प्रकार का ज्ञान असंभव है। जब जगत का ही अस्तित्व नहीं, ज्ञेय का ही भाव नहीं, तो ज्ञान का प्रश्न ही नहीं उठता। वसुबन्धु के अनुसार इस प्रकार की आलोचना आलोचकों के अज्ञान का परिणाम है। जब तक लोग अविद्याग्रस्त हैं, जगत का अस्तित्व ज्यों का त्यों बना रहेगा! अतः अज्ञान की असम्भावना का प्रश्न ही नहीं, किन्तु निर्विकल्प आर्य ज्ञान की अनुभूति के बाद

जगत् का वास्तविक रूप हमारे सामने आएगा और उस अवस्था में हम अमला–प्रज्ञा से पूर्ण होंगे। अतः किसी भी अवस्था में ज्ञान के अभाव का प्रश्न नहीं उठता।

यद्यपि वसुबन्धु ने तर्क के माध्यम से विज्ञप्तिमात्रता का निरपेक्ष सत् सिद्ध करने का प्रयत्न किया है किन्तु विज्ञप्तिमात्रता मात्र तर्क का विषय है, ऐसा वे नहीं मानते। वे हेगेल के "सत् बौद्धिक और बौद्धिक सत् है" के कथन में विश्वास नहीं करते वे स्पष्टरूपेण मत व्यक्त करते हें कि यद्यपि मैंने तर्क के सहारे विज्ञप्तिमात्रता को सिद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु इसका वास्तविक अर्थ तर्कातीत है। यह अनिर्वचनीय है एवं इसकी अनुभूति समाधि में ही हो सकती है।[१२] वे यहॉ तक कहते है कि इसे हम परमसत् भी नहीं कह सकते क्योंकि इस प्रकार का वर्णन भी अनिर्वचनीय को वाणी के बन्धन में बाँधने का मिथ्या प्रयास है।

वसुबन्धु ने विज्ञप्तिमात्रता का जिस रूप में वर्णन किया है, वह लंकावतार के चित्तमात्र अथवा चित्त से काफी मिलता है, फिर भी दोनों में मौलिक भेद है। लंकावतार के प्रणेता ने आलयविज्ञान एवं चित्तको पर्यायवाची माना है जबकि वसुबन्धु के अनुसार यह विज्ञप्तिमात्रता से उद्‌भूत होता है।

वसुबन्धु के विज्ञप्तिमात्रता विषयक वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे विज्ञप्तिमात्रता को नित्य मानते थे, किन्तु इस प्रकार की कल्पना बौद्ध धर्म के मूलरूप से विपरीत है, जिसके अनुसार सब कुछ क्षणिक है।

विज्ञप्तिमात्रता नित्य है कि अनित्य, इस विषय पर विद्वानों में मतवैभिन्य है। प्रो० विधुशेखर भट्टाचार्य का मत है कि यह नित्य एवं प्रवाहमय है किन्तु प्रो० ई० जे० थामस इसे कूटस्थ नित्य मानते हैं। ई० जे० थामस के मत की पुष्टि वसुबन्धु के कथन से भी होती है जिसके अनुसार अर्हत् का पद प्राप्त कर लेने पर भवचक्र का प्रवाह सूख जाता है और विज्ञप्तिमात्रता की अनुभूति होती है, जो शाश्वत् है।[१३]

दिङ्नाग के आगमन से विज्ञानवाद के स्वरूप का एक नया मोड़ मिला और वह स्वतन्त्रविज्ञानवाद के रूप में प्रतिष्ठापित हुआ। यद्यपि वे विज्ञप्तिमात्रता या विशुद्ध चित्त को ही निरपेक्ष सत् के रूप में चित्रित करते है किन्तु क्षणभंगवाद के सार्वभौम प्रयोग से उन्होंने उसके

स्वभाव को पूर्णरूप से बदल दिया। यद्यपि उन्होंने बाह्य रूप से सदैव वसुबन्धु के सिद्धान्त का समर्थन किया किन्तु विज्ञानवाद का निरुपण उन्होंने वसुबन्धु के प्रति श्रद्धा के कारण नहीं किया। वे तर्क के कारण वैसा करने को बाध्य थे। दिङ्नांग के अनुसार बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व नही है वे प्रत्ययमात्र हैं। जो बाह्य वस्तुओं यथा कुर्सी, मेज, पत्थर आदि के रूप में अवभाषित होती है।[१४]

वस्तुओं के अस्तित्व का खण्डन करते हुए वे कहते हैं कि वस्तुओ के विषय में दो ही प्रकार से सोचा जा सकता है– या तो वे अणु हैं या अणुओं का संघात। पुनश्च ज्ञान के दो साधन हैं– प्रत्यय एवं अनुमान।

धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के विषयिनिष्ठ विज्ञानवाद को विषयनिष्ठ विज्ञानवाद का रूप दिया। उन्होंने 'अर्थक्रियाकारित्व'[१५] को सत् का लक्षण माना। धर्मकीर्ति के अनुसार यह परमसत् विज्ञप्ति या बुद्ध्यात्मा है। इसी के कारण जगत् की प्रतीति होती है। यही ग्राह्य एवं ग्राहक का रूप धारण कर जगत की वस्तुओं के रूप में दिखाई पड़ता है।[१६]

धर्मकीर्ति के उपर्युक्त वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कोई अद्वैतवादी विज्ञान की शब्दावली में आत्मा के स्वरूप का निरूपण कर रहा हो, किन्तु धर्मकीर्ति अद्वैतवादियों से अपने विचार के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहते है कि यह सत् क्षणिक है। इसे नित्य एव शाश्वत् मानना भ्रम है क्योंकि नित्य एवं शाश्वत वस्तु से किसी वस्तु की उत्पत्ति सम्भव नहीं।

दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति की भॉति शान्तरक्षित एवं कमलशील ने भी परमार्थ को अर्थक्रियाकारी एवं क्षणिक माना है। इसे उन्होंने विशुद्ध विज्ञप्तिमात्रता एवं विशुद्धात्मा की संज्ञा से भी अभिहित किया, और उसके ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान कहा।[१७] इसकी अनुभूति तब होती है, जब व्यक्ति का मन सभी दोषों से निर्मल एवं शुद्ध हो जाता है, उसे यह अच्छी तरह समझ में आ जाता है कि बाह्य विषयों का अस्तित्व कोरा भ्रम है। यह केवल विशुद्धात्मा का ज्ञेय पक्ष है। जिन्हें हम अज्ञान के कारण बाह्य एवं वास्तविक समझते हैं। शान्तरक्षित स्पष्ट शब्दों में घोषित करते हैं कि असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति आदि आचार्यों ने विज्ञप्तिमात्रत को एकमात्र सत् माना है। परमार्थ के निरुपण से हम उन्हीं आचार्यों का अनुसरण कर रहे हैं।[१८]

इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्त योगाचार दर्शन के इतिहास में एक ही विचारधारा अविच्छिन्न रूपेण प्रवाहित हो रही है, और वह यह कि चित्तमात्र, विज्ञप्तिमात्रता, महात्मन् या विशुद्धात्मन् ही एक मात्र सत् है, जो अनिर्वचनीय एवं तर्कातीत है। इसकी अनुभूति आर्यज्ञान के उदय होने पर ही सम्भव है। इससे यह भी पता चलता है कि बौद्धदर्शन एवं वैदिक दर्शन मे वैसा विकराल संघर्ष नहीं था, जैसा पाश्चात्य[19] इतिहासकारों ने निरूपित करने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः ये दोनों ही आध्यात्मिक दर्शन है जो योग, तप एवं ज्ञान द्वारा मन के पवित्रीकरण पर जोर देते है, और यह मानते हैं कि रागद्वेषविवर्जित शुद्ध मन द्वारा ही उस परमतत्व की अनुभूति होती है, जो आत्मा है। बौद्ध एवं अद्वैतवेदान्ती दार्शनिक भी इस तथ्य से अवगत है। अद्वैतवेदान्ती दार्शनिक से कहते हैं कि हमारा आपका तो एक ही दर्शन है, केवल आप अपनी थोडी सी भूल सुधार लें, और परमतत्व को अनित्य कहना बन्द कर दें! इसी प्रकार योगाचार दार्शनिक भी अद्वैतवादी दार्शनिक से कहते हैं कि हमारा एवं आपका तो एक ही सिद्धान्त है केवल आप अपनी थोडी सी भूल सुधार लें, और यह कहना बन्द कर दें, कि परमतत्व नित्य है।[20]

विज्ञप्तिमात्रता पर आपत्तियाँ एवं उनका परिहार

वस्तुवादियों ने विज्ञप्तिमात्रता पर कुछ गम्भीर आलोचनाओं का अधिरोपण किया है–

यदि जगत के विषय स्वप्न के विषयों की भाँति भ्रमात्मक हैं तो हमारे उस इन्द्रियानुभविक जगत् की क्या स्थिति होगी जो देश एवं काल के कठोर नियमों से संचालित है?[21] क्या बात है कि सभी वस्तुएँ एक निश्चित मार्ग का ही अनुसरण करती हैं? हम एक विशेष वस्तु को एक विशेष समय और विशेष स्थान पर पाते हैं। चक्षु केवल रंग का ही दर्शन अवबोध करती है न कि ध्वनि का। इन सभी वस्तुओं का सभी व्यक्तियों द्वारा समान ढंग से ही अवबोध होता है न कि असमान ढंग से। यदि इस प्रकार के प्रतिनिधान किसी व्यक्ति विशेष के ही मन की उपज हैं तो वे उस रूप में केवल उसी व्यक्ति द्वारा अवबोधित होने चाहिए न कि अन्य व्यक्तियों द्वारा क्योंकि किसी व्यक्ति के मन का विचार किसी अन्य व्यक्ति को नहीं ज्ञात हो सकता। पुनश्च यदि ये आदर्श ही हैं तब तो इन्हें अस्तित्व ही नहीं मानते तो बाह्य विषयों से उद्भूत परिणामों की व्याख्या कैसे करेंगे? उदाहरणार्थ काल्पनिक यातना किसी के शरीर को चोट नहीं पहुँचाती। चोट तो वास्तविक आत्मा से

ही पहुँचती है। पुनः स्वप्न के विषयों का अवसीमन होता है। वे हमारी सामान्य चेतना द्वारा बोधित होते है किन्तु जागृतावस्था के विषय पट, गो इत्यादि किसी भी अवस्था में बाधित नहीं होते।[२२]

जाग्रतावस्था अनुभव की वास्तविकता स्वप्न के विषयों के अवसीमन का आधार है। यदि यह स्वयं ही स्वप्न के विषयों के सदृश अवास्तविक हों तो ज्ञान ही नहीं हो सकता। पुन· स्वप्न के विषय स्मृत जन्य हैं। किन्तु जागरणावस्था के विषय अव्यवहित चेतना प्रत्यक्ष के परिणाम हैं जिनका अन्तर प्रत्येक व्यक्ति को विदित है क्योंकि स्मृति विषय की अनुपस्थिति एवं प्रत्यक्ष विषय की उपस्थिति पर आधारित है। उदाहरणार्थ, जब कोई अनुपस्थिति पुत्र की याद करता है तो वह अपने पुत्र को नहीं देखता किन्तु उसे देखने की इच्छा करता है।

इस प्रकार दोनों में मौलिक भेद है। अतः जागृतअवस्था के अनुभव को इनकार करना प्रत्यक्ष को ही अस्वीकार करना है जिसे कोई भी ईमानदार व्यक्ति नहीं कर सकता। बिना प्रत्यक्ष के स्मृति ही असम्भव हो जाएगी किन्तु इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि वह देखी गई वस्तु का स्मरण नहीं करता। पुनः जाग्रतावस्था के विषय नैतिक नियमों से आबद्ध हैं किन्तु स्वप्न के विषय नैतिक नियमों से आबद्ध नहीं है।[२३] स्वप्न के विषय व्यक्तिगत है। वे स्वप्नद्रष्टा के गुणधर्म या सम्पत्ति हैं। दूसरे व्यक्तियों को उनकी झलक तक नहीं मिल सकती किन्तु जाग्रतावस्था के विषय सार्वजनिक हैं। वे सभी संज्ञाताओं के गुणधर्म या सम्पत्ति हैं। उदाहरणार्थ– हम गाय, वृक्ष या अन्य वस्तु लें। यह सभी संज्ञाताओं के लिए एक ही हैं। किन्तु स्वप्न में देखी गई गाय, वृक्ष या अन्य वस्तु सभी स्वप्नद्रष्टाओं के लिए ही नहीं है क्योंकि सभी स्वप्नदृष्टा इन वस्तुओं को एक साथ ही समय और एक ही स्थान पर नहीं देख सकते हैं। यदि स्वप्न एवं जागरण के विषय एक ही धरातल पर रखे गये तो सर्वजनिक अनुभव से पूर्ण इन्द्रियानुभविक जगत का अस्तित्व असम्भव हो जाएगा। अतः इन दोनों के बीच इतना स्पष्ट अन्तर होने पर भी बुद्धिमानी का कार्य नहीं है।[२४]

योगाचार के अनुसार उपर्युक्त आक्षेप निराधार है। स्वप्न में भी, जहाँ कि बाह्य विषय का सर्वथा अभाव है, हम एक विशिष्ट वस्तु को एक विशिष्ट स्थान एवं समय पर ही पाते हैं।[२५] हम देखते हैं कि जगत की सभी वस्तुयें एक निश्चित नियम का अनुसरण करती हैं। वर्षा केवल वर्षा ऋतु में ही दिखाई पड़ती है। उपवन एवं शस्यश्यामल क्षेत्रों का दर्शन केवल मैदानों में ही होता है, मरभूमि में नहीं। स्वप्न में भी नहीं। स्वप्न में भी सिंह की ही दहाड़ लोगों को भयभीत करती है, न

कि गाय की मध्यम आवाज। मित्र के प्रति प्रेम एवं शत्रु के प्रति घृणा स्वप्न में देखी जाती है। विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त हमारे इन्द्रियानुभविक जगत की सत्ता को तनिक भी ऑच नहीं पहुँचाता जब तक कि हम अनादि वासना से ग्रसित हैं।[26] किन्तु ज्यो ही निर्विकल्प लोकोत्तर ज्ञान या आर्य ज्ञान की अनुभूति होती है त्योंहिं वाह्य–जगत की सत्ता अपने समस्त विविध मनोहारी एवं दु:खद दृश्यों के साथ समाप्त हो जाती है। जगत स्वप्न के विषय के सदृश केवल उसी व्यक्ति के लिए है जिसने इन्द्रियनिग्रह आत्मसंयम तथा आर्यज्ञान द्वारा यह अच्छी तरह समझ लिया है कि कोई भी वस्तु विषयनिष्ठ नहीं है या सभी वस्तु मानसिक सृष्टि के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

यह तर्क कि "नैतिक नियम जाग्रत एवं स्वप्नावस्था के भेद को सिद्ध करते हैं" अमान्य है। नैतिक नियमों का अतिक्रमण जाग्रतावस्था में भी देखा जाता हैं हम देखते हैं कि लोग झूठ बोलते हैं, हत्या करते हैं, व्यभिचार करते हैं तथा ऐसे ही अन्य अनैतिक कार्य करते हैं। अन्तिम आपत्ति भी गंभीर नहीं है। यह सत्य है कि सामान्य जगत का सर्वथा अभाव है। जगत अनन्त एवं असंख्य है।[27] प्रत्येक व्यक्ति का अपना अनुभव है और अपना जगत है। जगत की एकता का भान केवल इसलिये होता है कि हम अन्य व्यक्तियों के अनुभवों के अन्तर की उपेक्षा कर देते हैं। चूँकि एक व्यक्ति अपने शरीर की परिधि को पार कर अन्य व्यक्तियों के जगत का दर्शन नहीं कर सकता। अत: भिन्न लोगों द्वारा अनुभूत जगत् का अन्तर दिखाई नहीं पड़ता।[28] जगत् की एकता एवं सम्बद्धता की तुलना केवल रोग से पीड़ित दो व्यक्तियों द्वारा पीत शंख के अवबोध से की जा सकती है। यद्यपि उन दोनों व्यक्तियों का अवबोध भ्रमपूर्ण है तथापि एक ही रोग से पीडित होने के कारण उनके अवबोध में एकता और संबद्धता है।[29] बाह्यार्थवादी एक अन्य आपत्ति उठाता है। यदि हम यह मानते हैं कि केवल प्रत्यय ही सत् है तो हमारे लिए यह सिद्ध करना असम्भव होगा कि हम निर्दिष्ट फल कैसे प्राप्त करते हैं। केवल प्रत्यय न तो हमारी प्यास बुझा सकते हैं और न हमारी भूख मिटा सकते हैं। किसी वस्तु को सत् तभी माना जा सकता है जब वह निर्दिष्ट फल को प्राप्त करने में समर्थ हो।[30]

अतः योगाचार सिद्धान्त के अनुसार उस आनुभविक जगत् का अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा जिसके बचाव के प्रति इतना जागरूक है और जिसके अस्तित्व को वह किसी भी हालत में समाप्त नहीं करना चाहता।[31]

योगाचार दार्शनिक यह सिद्ध करते हैं कि प्रत्ययों में निर्दिष्ट फल को उत्पन्न करने की क्षमता होती हैं, स्वप्नदोष का अनुभव हम सभी करते हैं। भ्रमजन्य सर्प प्रायः मृत्यु का कारण होता है फिर 'कार्यक्षमता' स्वयं भी एक प्रत्यय ही तो है जो अनादि वासनाजन्य है और जो एक मानस अन्तर्वस्तु का अवबोध विषयनिष्ठ रूप में करती है।[32] इस प्रकार कार्यकलाप किसी भी प्रकार अवरुद्ध नहीं होता।

वस्तुवादी प्रत्ययवादी सिद्धान्त पर आक्षेप करते हुए कहता है कि यह सिद्धान्त भ्रममूलक संज्ञानों की व्याख्या नहीं कर सकता। अनुभवातीत भ्रम का भी तो एक वास्तविक आधार होना चाहिए। बिना बाह्य विषय के भ्रम सम्भव नहीं है। सभी भ्रममूलक संज्ञानों के लिए बाह्य विषय का अस्तित्व एक अपरिहार्य पूर्ववर्ती शर्त (उपाधि) है।[33] उदाहरणार्थ, हम रज्जु–सर्प भ्रम को लें। भ्रमात्मक सर्प का कारण रस्सी है। यह संज्ञान भ्रम है किन्तु रस्सी एवं सर्प स्वतः भ्रम नहीं हैं। वे वास्तविक बाह्य विषय हैं जिनका दैनिक जीवन में हमने बहुत बार अनुभव किया है।[34] वह व्यक्ति जिसने साँप कभी भी नहीं देखा रस्सी के टुकडे में सॉप का भ्रम कभी भी नहीं कर सकता।[35]

योगाचार दर्शन के अनुसार वस्तुवादियों का यह तर्क युक्ति युक्त नहीं है। यह स्वीकार किया जा सकता है कि भ्रमात्मक सॉप रस्सी के टुकड़े में समारोपित किया गया है किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यह समारोपण एक मानसिक क्रिया है। इंस प्रकार हम देखते हैं कि आदर्शवाद की नींव उपर्युक्त आक्षेप से तनिक भी नहीं हिलती है। जहाँ तक प्रत्ययों के कारण का सम्बन्ध है उनके प्रत्ययात्मक[36] होने पर भी हमारे अनुभव ज्यों के त्यों बने रह सकते हैं क्योंकि इन प्रत्ययों के कारण अन्य प्रत्यय हो सकते हैं।[37]

वस्तुवादियों ने विज्ञप्तिमात्रता के सिद्धान्त पर कुछ अन्य आपत्तियॉ उठाई हैं जिसका योगाचार दार्शनिक ने समुचित ढंग से खण्डन किया है।

प्रथम, विज्ञप्तिमात्रता सिद्धान्त से स्मृति प्रक्रिया की व्याख्या नहीं की जा सकती है क्योंकि इसके लिए किसी विषय के भूतकालिक प्रत्यक्ष की आवश्यकता पड़ती है। जब विषय ही नहीं तो उसकी स्मृति का प्रश्न कहाँ से उठेगा। किन्तु इस प्रकार का अभिकथन हमारे दैनिक अनुभव से असम्बद्ध है क्योंकि यहाँ हम अतीत में देखे गये विषयों का स्मरण करते हैं किन्तु स्मृति की व्याख्या

वस्तुवादी दर्शन के लिए तो और भी जटिल समस्या है। वस्तुवादी के अनुसार चित्त निराकार है। विषय इसके सामने आते एवं जाते हैं। वे इस पर किसी भी प्रकार की छाप नहीं छोडते।

अब प्रश्न उठता है कि हम कैसे जानते हैं कि अतीत में भी यही विषय देखा गया था जिसे हम आज देख रहे हैं। वस्तुवादी यह तो कह नहीं सकता कि वह अतीत काल में देखा गया था क्योंकि उसके अनुसार विषय एक निश्चेतन वस्तु है जो इस प्रकार की सूचना देने में असमर्थ है। न तो यह ही कहा जा सकता है कि चित्त अपने पूर्ववर्ती संज्ञानों की स्मृति सँजोए रखता है क्योंकि बाह्यार्थवाद के अनुसार चित्त शुद्ध एवं निराकार वस्तु है।[३८] न तो यह ही कहा जा सकता है कि अतीत काल में जिस विषय का अवबोध किया गया था वह ही स्मृति का विषय है क्योंकि बिना वास्तविक रूप में उपस्थित हुए अतीत काल में देखा गया विषय चित्त के सामने वर्तमान काल में उपस्थित नहीं हो सकता।[३९] अतः स्मृति की सन्तोषजनक व्याख्या तभी हो सकती है जब हम स्वीकार करें कि चित्त साकार है। उसमें प्रतिभास विद्यमान हैं। वह इन प्रतिभासों को अनुकूल परिस्थितियों में बाहर प्रक्षिप्त करता है।[४०]

द्वितीय, वस्तुवादी के अनुसार स्वप्नों की उत्पत्ति विज्ञप्तिमात्रता के सिद्धान्त के अनुसार नहीं की जा सकती क्योंकि स्वप्न विषयों पर आधारित है और विषयों की सत्ता विज्ञप्तिमात्रता के अनुसार है ही नहीं। यद्यपि स्वप्न भ्रमात्मक है और जाग्रत अनुभव द्वारा अवसीमित कर दिये जाते हैं किन्तु फिर भी वे विषयनिष्ठ सत्ता पर आधारित हैं। इन विषयों के अभाव में स्वप्न हो ही नहीं सकते।[४१] हम स्वप्न में भी जाग्रत अवस्था के ही विषय देखते हैं। भेद केवल व्यवस्था का रहता है। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि जाग्रत अवस्था के विषय कठोर नियमों से संचालित होते हैं जबकि स्वप्न के विषय एक नये परिवेश के अन्दर स्थित हैं। कोई नहीं कह सकता कि हमारे स्वप्न पूर्णरूप से विलक्षण हैं और एक बिल्कुल अनोखी घटना प्रस्तुत करते हैं।[४२] अतः स्वप्नजगत के विषयनिष्ठ स्वभाव से इन्कार नहीं किया जा सकता। योगाचार मतानुसार स्वप्न जगत पूर्णरूपेण विषयिनिष्ठ है। यह हमारी मानस रचना है। इसकी उत्पत्ति तब होती है जब इन्द्रियाँ विषयों के सम्पर्क में नहीं होतीं। उदाहरणार्थ, भ्रमात्मक संज्ञान अर्थात् साँप का आधार एक विषय अर्थात् रस्सी के टुकड़े में है। यह एक आभासमय जगत् को प्रस्तुत करता है जो भ्रमजन्य सर्प के हटते ही नष्ट हो जाता है। किन्तु स्वप्न जगत् के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। यह अपने नियमों द्वारा

संचालित होता है और दृश्य जगत से पूर्णरूप से समता रखता है। स्वप्न जगत् विषयनिष्ठ जगत पर आधारित सा प्रतीत होता है किन्तु वस्तुतः विषयों का सर्वथा अभाव है। केवल विषयनिष्ठ का प्रत्ययमात्र है[४४] जो अनादिवासनाजन्य है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चित्त दृश्य जगत की सृष्टि ही नहीं कर सकता किन्तु उसे विषयनिष्ठ रूप में प्रदर्शित भी कर सकता है। अतः विषयनिष्ठता बाह्य विषयों के कारण नहीं है। यह चित्त की ही एक विशेषता है।[४५]

तृतीय, वस्तुवादी के अनुसार विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त अहंमात्रवाद में समाप्त हो जाता है। योगाचार अनुभवातीत दृष्टिकोण से विचार करने पर निखिल ब्रह्माण्ड विज्ञप्तिमात्रता का विक्षेप मात्र है। अतः पृथक् मनो की पृथक सत्ता का प्रश्न ही नहीं उठता। सभी पृथक् मन एक ही सत्ता के विक्षेप हैं। ये समुद्र की लहरों के समान हैं जो अज्ञानरूपी वायु से उत्पन्न होते हैं। किन्तु इनके आनुभविक अस्तित्व को कभी चुनौती नहीं दी गई। जिस प्रकार एक वस्तुवादी यह सोचकर अनुमान लगा सकता है कि चूँकि वह अव्यवहित रूप से यह अनुभव करता है कि उसकी वाणी एवं चाल उसकी इच्छा द्वारा संचालित होते हैं इसी प्रकार इतर वाणी एवं चाल भी जिसका कि वह प्रेक्षण करता है, इतर इच्छा द्वारा संचालित होने चाहिए।[४६]

इसी प्रकार योगाचार भी अन्य मनों के अस्तित्व का अनुमान लगा सकता है। हमारी इच्छा से उद्भूत होने वाली वाणी एवं चाल के प्रतिनिधान उन प्रतिनिधानों से भिन्न हैं जो हमारी इच्छा से नहीं उद्भूत होते। प्रथम प्रकार के प्रतिनिधान 'वह जाता है' 'वह बोलता है' इत्यादि इस रूप में प्रगट होता हैं। अतः इससे यह निरूपित हो जाता है कि दोनों के कारण पृथक्–पृथक् हैं। यह कारण एक इतर अच्छा ही है।

वस्तुवादी यह आपत्ति करता है कि योगाचारानुसार चित्त या मन के अतिरिक्त किसी भी सत्ता का अस्तित्व नहीं है अतः इतर इच्छा द्वारा दूसरे प्रकार के प्रतिनिधानों का अनुमान करना युक्तिसंगत नहीं है। योगाचार वस्तुवादी आक्षेप पर व्यंग कसते हुए कहता है कि यदि उद्देश्यपूर्ण धर्मों के ये प्रतिनिधान बिना इच्छा के ही उत्पन्न हो सकते हैं तब तो सभी प्रकार के प्रतिनिधानों को बिना इच्छा के उत्पन्न होना चाहिए। केवल यह भेद कि एक प्रकार के प्रतिनिधान हमारे शरीर से सम्बद्ध हैं और दूसरे प्रकार के प्रतिनिधान हमारे शरीर से सम्बद्ध नहीं हैं, उन्हें इच्छा से उद्भूत होने से वंचित नहीं कर सकता। दोनों ही जागरूक इच्छा से उत्पन्न हैं। इस बात को स्वीकार नहीं

किया जा सकता है हमारे उद्देश्यपूर्ण कार्यों और वाणी के आधे प्रतिनिधान इच्छा से उद्भूत हैं और आधे नहीं। वस्तुवादी योगाचार तर्क को खण्डित करने की चेष्टा से कहता है कि योगाचार आत्मसंवीक्षण द्वारा अपनी चाल और वाणी के प्रति जागरूक हो सकता है और इस निष्कर्ष पर पहुँच सकता है कि ये उसकी चेतन इच्छा से उद्भूत हैं। किन्तु हम ऐसा दूसरों की चाल और वाणी के प्रतिनिधान के विषय में नहीं कर सकते क्योंकि योगाचार के अनुसार इतर जन के कार्य स्वप्नमात्र है।[४७]

योगाचार उपर्युक्त तर्क का खण्डन करते हुए कहता है कि यदि उद्देश्यपूर्ण कार्य किसी चेतनेच्छा के अस्तित्व की ओर संकेत करते हैं तो उन्हें अनिवार्यरुपेण स्वप्न और जागृति दोनों अवस्थाओं में करना चाहिए या कदापि न करना चाहिए। यदि हम यह मानते हैं कि उद्देश्यपूर्ण कार्यो के प्रतिनिधान बिना चेतनेच्छा के भी प्राप्त किये जा सकते हैं तब तो निष्कर्ष यह निकलेगा कि हम उद्देश्यपूर्ण कार्यों के अस्तित्व के आधार पर चेतनेच्छा के अस्तित्व का अनुमान कभी नहीं लगा सकते हैं।

वस्तुवादी प्रतिवेदन करता है कि स्वप्न वास्तविक नहीं है।[४८] अतः उनके संवाही प्रतिभास नहीं हो सकते। योगाचार दार्शनिक उत्तर देता है कि प्रतिनिधान प्रतिनिधान हैं। यदि वे एक स्थिति में सत्ता के प्रतिनिधान हैं तो उन्हें सभी स्थितियों में सत्ता के प्रतिनिधान होने चाहिए। स्वप्न एवं अन्य प्रकार के प्रतिनिधानों में अन्तर केवल इतना ही है कि जाग्रतावस्था के प्रतिनिधानों का सत्ता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है जबकि स्वप्न एवं अन्य अस्पष्ट अवस्थाओं में सम्बन्ध परोक्ष होता है। उदाहरणार्थ, स्वप्न में हम देखते हैं कि एक शक्तिशाली एवं मदोन्मत्त आक्रामक को युद्धभूमि में करारी हार देकर एक सेनापति लौटा है और उसके देश की जनता उसका स्वागत कर रही है। ये प्रतिनिधान अवास्तविक नहीं हैं यद्यपि स्वप्न में इनका दर्शन होता है। सत्ता से इनका सम्बन्ध है यद्यपि सत्ता एवं इन प्रतिनिधानों के बीच समय अवश्य व्यवधान डालता है। वस्तुवादी यह प्रश्न करता है कि अन्य मनो के अस्तित्व के बारे में हमारे ज्ञान का क्या आधार है? योगाचारानुसार अनुमान एकमात्र आधार है। जिस प्रकार हम एक उद्देश्यपूर्ण कार्य का सम्पादन कर एक निर्दिष्ट लक्ष्य पर पहुँचते हैं उसी लक्ष्य पर अन्य लोग भी वैसे ही कार्य का संपादन कर पहुँचते हैं जबकि उसमें हमारा तनिक भी हाथ नहीं रहता। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह कार्य अवश्य

ही किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा सम्पादित किया गया है। चतुर्थ, वस्तुवादी एक आवश्यक प्रश्न उठाता है–

यदि भौतिक द्रव्य एवं उनसे उद्भूत विषय जिनका साक्षात्कार हमारी इन्द्रियों द्वारा होता है, मानसिक रचना है तो विज्ञप्तिमात्रता के अस्तित्व को कैसे माना जाय। जो ज्ञान के किसी भी साधन द्वारा द्रष्टव्य नहीं। क्या इसे असत् नहीं मानना चाहिए?[४६]

योगाचारानुसार धर्मनैरात्म्य का यह अर्थ नहीं कि विषयों का सर्वथा अभाव है। इसका केवल इतना ही अर्थ है कि हमारी सविकल्प बुद्धि दूसरा कल्पित विषयों का अभाव है। हमारी बुद्धि विषयी एवं विषय, द्रष्टा एवं दृष्टि के द्वन्द्व में उलझी हुयी है और सत्ता का अवबोध करने में सर्वथा असमर्थ है। धर्मनैरात्म्य केवल इस प्रपंच का व्याख्यान करता है न कि विशुद्ध निर्विकल्प विज्ञप्तिमात्रता का।[५०] यह केवल कल्पित जीवात्मा का प्रात्याख्यान करता है कि अनभिलाप्य निर्मल आत्मन् का जो विज्ञप्तिमात्रता है और बुद्ध जनों की अनुभूति का विषय है। इसके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता– क्योंकि इसका निराकरण अनियम दोष को जन्म देगा। विज्ञप्तिमात्रता का निराकारण एक अन्य विज्ञप्ति द्वारा ही किया जाएगा और उसका फिर अन्य विज्ञप्ति द्वारा। इस प्रकार विज्ञप्तिमात्रता के निराकरण के लिए विज्ञप्ति को अनन्त श्रृंखला की कल्पना करनी पड़ेगी। अतः विज्ञप्तिमात्रता का निराकरण असम्भव है।[५१]

वसुबन्धु का आलय विज्ञान

आलय विज्ञान आर्यसन्धिनिर्मोचन के "विशालमतिपरिपृच्छा" नामक पंचम परिच्छेद में आलयविज्ञान का निरुपण करते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा है–

आदानविज्ञानगम्भीरसूक्ष्मो ओधो यथा वर्तति सर्वबीजो।
बालान ऐषो मयि न प्रकाशितो मा हैव आत्मा परिकल्पयेषुः।।[५२]

अर्थात् आलयविज्ञान ही आदान विज्ञान है क्योंकि वहीं पाँच उपादान स्कन्धों का ग्रहण करता है। वह आदानविज्ञान गम्भीर है क्योंकि वह पृथग्जनों का गोचर नहीं है। वह सूक्ष्म है क्योंकि आर्य श्रावक एवं आर्य प्रत्येक बुद्ध का वह विषय नहीं है। समस्त धर्मों के बीजों का वही आश्रय है, इसलिए वह 'सार्वजनिक' कहलाता है। जिस प्रकार महान उदकसमूह अपने ऊपर आधृत तृण,

काष्ठ, गोमय आदि का आश्रय होता है और उन्हें ले जाते हुए निरन्तर बहता रहता है, उसी प्रकार आलयविज्ञान भी समस्त बीजों को अपने में रखकर यावत्संसार निरन्तर प्रवृत्त होता रहता है।

भगवान् बुद्ध कहते हैं कि मैंने इसे (आलयविज्ञान को) बाल–पृथग्जनों के सम्मुख प्रकाशित नहीं किया है क्योंकि वे उसे आत्मा समझकर मोहित हो सकते हैं, जो अनुचित है। अतः मण्डल में स्थित ऐसे श्रेष्ठ विनेयजनों के सम्मुख ही मैंने उसका उपदेश किया है, जो आलयविज्ञान के स्वरूप को यथार्थतः समझ सकने में सक्षम हैं, साथ ही जिनके बारे में आत्मदृष्टि में पतित होने की आशंका भी नहीं हैं। आलयविज्ञान के बारे में अभिधर्मसूत्र में भी कहा गया है–

अनादिकालिको धातुः सर्वधर्मसमाश्रयः।
तस्मिन् सति गतिः सर्वा निर्वाणाधिगमोऽपि वा।।[५३]

अर्थात् एक अनादिकालिक धातु है, जो समस्त धर्मों का आश्रय होती है। उसके होने पर ही सम्पूर्ण गतियाँ (विभिन्न योनियों में उत्पाद) एवं निवार्णप्राप्ति संभव है। विज्ञानवादियों का कथन है कि ऐसी धातु आलयविज्ञान ही हो सकती है, क्योंकि वही अनादि काल से प्रवृत्त है और समस्त सांक्लेशिक एवं व्यवदानिक धर्मों के बीजों का आश्रय है। उसके होने पर ही संसार की प्रवृत्ति एव संसार से निवृत्ति की व्यवस्था भलीभॉति हो जाती है। यदि इस प्रकार की किसी धातु का अस्तित्व न होगा, तो जीवों के समस्त कुशलाकुशल कर्म निष्फल होने लगेंगे। फलतः संसार एवं निर्वाण कुछ भी सिद्ध न हो सकेंगे। लंकावतारसूत्र में भी आलयविज्ञान एवं उसके साथ रहने वाले अन्य सात विज्ञानों का वर्णन उपलब्ध होता है। इस प्रकार वहाँ विज्ञानवादियों के समस्त आठ विज्ञानों का उल्लेख मिलता है। लंकावतार सूत्र में कहा गया है–

"गर्भस्तथागतानां हि विज्ञानैः सप्तभिर्युतः।"[५४]

इस प्रकार आगमानुयायी विज्ञानवाद में आठ विज्ञान हैं– आलयविज्ञान, क्लिष्टमनोविज्ञान, चक्षुर्विज्ञान, श्रोतविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान एवं मनोविज्ञान।

२. आलयविज्ञान

आर्यअसंग ने अपनी योगाचार भूमि आदि में आलयविज्ञान का सुविस्तृत प्रतिपादन किया है। आचार्य वसुबन्धु ने अपने ग्रन्थों में और भी स्पष्ट एवं सरल ढंग से उसकी स्थापना की है। इनके

अनुसार समस्त सांक्लेशिक एवं व्यवदानिक धर्मों की वासनाओं या बीजों का आश्रय होने से यह 'सर्वबीजक' या 'आधारविज्ञान' कहलाता है। समस्त धर्म इसमें कार्यत्वेन उपनिबद्ध होते हैं या यह स्वयं सर्व धर्मों में कारणत्वेन उपनिबद्ध होता है, इसलिये यह आलय कहलाता है। जानता है, इसलिये 'विज्ञान' है।[५५] समस्त धातु (कामधातु, रूपधातु एवं अरूपधातु ये तीन धातुयें हैं।), गति (देव, असुर, मनुष्य, तिर्यक, प्रेत एवं नरक ये छः गतियॉ हैं।), योनि (जरायुज, अण्डज, संस्वेदज एवं औपपादुक– ये चार योनियॉ हैं) एवं जातियों में यह कुशल, अकुशल कर्मों के विपाक के रूप में यह उत्पन्न होता है, इसलिए यह 'विपाक विज्ञान' भी कहलाता है।

समस्त भाजनलोक, सत्वलोक एवं वासनायें आलयविज्ञान की आलम्बन हैं यद्यपि ये आलम्बन आलयविज्ञान में प्रतिभासित होते है, तथापि वह इनका स्पष्टतया परिच्छेद नही कर पाता, इसलिये वह अपरिच्छिन्नालम्बन एवं परिच्छिन्नाकार कहलाता है। आलयविज्ञान अनिवृताव्याकृत होता है। क्लेशावरण एवं ज्ञेयावरण दोनों में उसका ग्रहण नहीं होता, इसलिये वह 'अनिवृत्त' है तथा कुशल एवं अकुशल दोनों में गृहीत नहीं होने से यह 'अव्याकृत' कहलाता है। स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा एवं चेतना– ये पॉच सर्वत्रग चैतसिक उससे सर्वदा सम्प्रयुक्त रहते हैं।[५६]

आलयविज्ञान यावत्संसार अर्थात् जब तक संसार की निवृत्ति नहीं होती, तब तक अविच्छिन्नरूपेण प्रवृत्त होता रहता है। साधारणतया अर्हदावस्था में या अष्टभूमिप्राप्त अवैवर्तिक बोधिसत्व की अवस्था में उसकी निवृत्ति हो जाया करती है।[५७] पुद्गल जब किसी जन्म में अर्हत् हो जाता है, तो उसके आलयविज्ञान की यद्यपि निवृत्ति नहीं होती, अपितु जब तक वह जीवित रहता है, तब तक उस जन्म का विपाकविज्ञान प्रवृत्त होता रहता है। जब तक निरुपाधिशेषनिर्वाण प्राप्त करता है तो उसके विपाक–विज्ञान की भी निवृत्ति हो जाती है। इसी तरह अष्टभूमिप्राप्ति अवैवर्तिक बोधिसत्व के आलयविज्ञान की निवृत्ति हो जाती है किन्तु विपाकविज्ञान प्रवृत्त होता रहता है। वज्रोपमसमाधि तक यही स्थिति रहती है। दशमभूमि की वज्रोपमसमाधि के अनन्तर विपाकविज्ञान भी निवृत्त हो जाता है। इन अवस्थाओं को छोड़कर अवशिष्ट सभी अवस्थाओं में आलयविज्ञान की धारा शुभ, अशुभ कर्मो की वजह से एक जन्म से दूसरे जन्म में बिना रुके लगातार चलती रहती है।

आलयविज्ञान की निवृत्ति

आगमानुयायी विज्ञानवादी आलयविज्ञान को अनादि मानते हैं क्योंकि उसकी धारा कब से चली आ रही है, इसका निश्चय नहीं है। साथ ही उसे शान्त भी मानते हैं क्योंकि उसकी निवृत्ति हो जाया करती हैं श्रावक एवं प्रत्येक बुद्ध पुद्गल की अर्हदावस्था में आलयविज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। अष्टभूमिप्राप्त अवैवर्तिक बोधिसत्व की अवस्था में भी आलयविज्ञान निरुद्ध हो जाता है। इन अवस्थाओं को छोड़कर आलयविज्ञान निरन्तर अविच्छिन्नरुपेण प्रवृत्त होता रहता है।[13] लंकावतार आदि सूत्रों में आलयविज्ञान को स्थिरविज्ञान कहा गया है। कहीं–कहीं उसे नित्य भी कहा गया है। किन्तु पूर्वापर का सम्यक् पर्यालोचन करने से उन (सूत्रों) के अभिप्राय का स्पष्ट परिज्ञान हो जाता है कि वह नित्य या शाश्वत नहीं है। उसे ऐसा इसलिये कहा गया है कि उसकी धारा अर्थात् उसका क्षणिक प्रवाह अविच्छिन्नरुप से अर्हप्प्राप्तिपर्यन्त निरन्तर प्रवृत्त होता है। इस बीच एक क्षण के लिये भी उसका प्रवाह अवरुद्ध नहीं होता। चक्षुर्विज्ञान आदि की भॉति वह अचिरस्थायी नहीं है इसलिये किसी वस्तु के क्षणिकं होने पर निरुद्ध या निवृत्त होने में बडा फर्क हैं।

आगमानुयायी विज्ञानवादियों (वसुबन्धु आदि) के शास्त्रों में आलयविज्ञान को विपाकविज्ञान भी कहा गया है। किन्तु यह ज्ञातव्य है कि ये दोनों शब्द पर्यायवाची नहीं है। जो आलयविज्ञान होता है, वह विपाकविज्ञान भी अवश्य होता है, किन्तु जो विपाकविज्ञान होता है, उसका आलयविज्ञान भी होना आवश्यक नहीं है। जैसे– अर्हत्वप्राप्त श्रावक या प्रत्येक बुद्ध, जिसके पंचस्कन्ध (शरीर) अभी विद्यमान हैं अर्थात् हैं, उनकी सन्तान में आलयविज्ञान नहीं होता, फिर भी विपाक विज्ञान विद्यमान रहता है। जो उस आलयविज्ञान की ही अगली धारा होता है, जो अनादिकाल से उसकी सन्तान में प्रवृत्त होता चला आया है। निरूपाधि शेष निर्वाणावस्था में विपाकविज्ञान भी निवृत्त हो जाता है।

इसी तरह अष्टभूमिप्राप्त बोधिसत्वावस्था में और उसके बाद की अवस्थाओं में आलयविज्ञान नहीं रहता, किन्तु विपाकविज्ञान वज्रेपमसमाधिपर्यन्त विद्यमान रहता है। इस विषय में आचार्य चोंरवापा ने भी प्रचुर प्रकाश डाला है।

३. क्लिष्ट मनोविज्ञान

क्लिष्ट मनोविज्ञान मननात्त्मक है। क्लिष्ट मनोविज्ञान के सम्यग् ज्ञान के लिये चार बातों का ज्ञान अपेक्षित है। यथा– आलम्बन, आकार, स्वरूप या स्वभाव एवं सम्प्रयुक्त चैतसिक।

(क) आलम्बन– क्लिष्ट मनोविज्ञान एक अन्तर्मुखी विज्ञान है। अतः यह बाह्य धर्मों का आलम्बन नहीं करता। आलयविज्ञान ही क्लिष्ट मनोविज्ञान का आलम्बन होता है किन्तु आलयविज्ञान में स्थित वासनायें इसका आलम्बन नहीं होती।

(ख) आकार– आलयविज्ञान का आलम्बन करके उसका आत्मा के रूप में ग्रहण करना क्लिष्ट मनोविज्ञान को यद्यपि आलयविज्ञान प्रतिभासित नहीं होता, तथापि उसकी वजह से उसे आत्मप्रतीति होती है। अतः क्लिष्ट मनोविज्ञान एक मिथ्या ज्ञान है।

(ग) स्वरूप या स्वभाव– क्लिष्ट मनोविज्ञान विवृताव्याकृत स्वभाव का है। क्लेशों से दूषित (क्लिष्ट) होने के कारण वह 'निवृत्त' है तथा कुशल एवं अकुशल चित्तों के साथ युगपत् प्रवृत्त होने के कारण अव्याकृत भी।

(घ) सम्प्रयुक्त चैतसिक– क्लिष्ट मनोविज्ञान एक विज्ञान या चित्त है, अतः उसके साथ स्पर्श, मनस्कार आदि पाँच सर्वत्रग चैतसिक तो सम्प्रयुक्त होते ही हैं, इनसे अतिरिक्त राग, अविद्या, अभिमान एवं आत्मदृष्टि ये चार क्लेश चैतसिक भी उसके साथ सम्प्रयुक्त होते हैं। आचार्य वसुबन्धु ने अपनी त्रिंशिका में कहा है–

क्लैशैश्चतुर्भिःसहितं निवृताव्याकृतैः सदा।
आत्मदृष्ट्यात्ममोहात्ममानात्मस्नेहसंज्ञितैः।।

आर्य असंग ने भी कहा है–

अविद्यया चात्मदृष्ट्या चास्मिमानेन तृष्णया।
एभिश्चतुर्भिः संक्लिष्टं मननालक्षणं मनः।।
विपर्यासनिमित्तं तु मनः क्लिष्टं सदैव यत्।
कुशलाव्याकृते चित्ते सदाहंकारकारणम्।।

हमने अभी कहा है कि क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ पाँच सर्वत्रग और चार क्लेश इस तरह नौ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं। वैसे क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ विक्षेप, प्रमाद, औद्धत्य, आश्रद्धत्य, कौसीद्य एवं स्त्यान ये छः उपक्लेश चैतसिक भी सम्प्रयुक्त होते हैं, तथापि ये चार उपर्युक्त क्लेश चैतसिकों से द्रव्यतः भिन्न नहीं है, अपितु उनके अवयवों (अंश) में ही प्रज्ञप्त हैं, अतः इनकी उनसे पृथक् गणना नहीं की गयी है। जैसे– विक्षेप चैतसिक अस्मिमान के अंश में प्रज्ञप्त है। प्रमाद चैतसिक राग एवं मोह (अविद्या) के अंश में प्रज्ञप्त है। औद्धत्य चैतसिक राग के तथा आश्रयद्धत्य, कौसीद्य एवं स्त्यान मोह के अंश में प्रज्ञप्त है। इस तरह क्लिष्ट मनोविज्ञान के परिवार में केवल नौ चैतसिको की ही गणना आचार्यों ने की है।

क्लिष्ट मनोविज्ञान की निवृत्ति

क्लिष्ट मनोविज्ञान की निवृत्ति दो प्रकार की होती है यथा– अस्थायी निवृत्ति एवं स्थायी निवृत्ति।

निरोध समापत्ति की .अवस्था में तथा अष्टभूमि से नीचे के आर्य बोधिसत्व के समाहित ज्ञान की अवस्था में क्लिष्ट मनोविज्ञान की अस्थायी निवृत्ति होती है अर्थात् निरोधसमापत्ति एवं समाहित अवस्था से उत्थित होने पर क्लिष्ट मनोविज्ञान पुनः प्रवृत्त होने लगता है।

श्रावक– अर्हत् एव प्रत्येक बुद्ध–अर्हदावस्था में क्लिष्ट मनोविज्ञान की स्थायी निवृत्ति हो जाया करती है। इसी तरह अष्टभूमि से आगे की बोधिसत्व भूमियों में भी क्लिष्ट मनोविज्ञान स्थायी रूप से निवृत्त हो जाया करता है अर्थात् किसी भी तरह पुनः प्रवृत्त नहीं होता। श्रावक एवं प्रत्येक बुद्ध जब अर्हत्व प्राप्त कर लेते हैं तो वे सोपाधिशेष अर्हत् होते हैं। इस अवस्था में कोई पुद्गल महायान में प्रविष्ट हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में वे बोधिसत्व होते हुए भी अर्हत् तो होते ही हैं। उन्हें क्रमशः आगे–आगे की बोधिसत्वभूमियाँ प्राप्त होती हैं। ऐसे बोधिसत्व पुद्गलों में क्लिष्ट मनोविज्ञान सर्वथा प्रवृत्त नहीं होता। बुद्धावस्था में तो क्लिष्ट मनोविज्ञान की प्रवृत्ति का प्रश्न ही नहीं है।[५८]

४. प्रवृत्तिविज्ञान

रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य एवं धर्म नामक छः आलम्बन विषयों को बनाने वाले चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान एवं मनौविज्ञान नामक छः विज्ञान

'प्रवृत्ति विज्ञान– कहलाते है। प्रवृत्तिविज्ञान कुशल, अकुशल एव अव्याकृत तीनों होते हैं। वे जब अलोभ आदि कुशल चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं, तब अकुशल तथा जब न कुशल चैतसिको से सम्प्रयुक्त होते हैं और न अकुशल चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं अपितु अन्यविध चैतसिको से सम्प्रयुक्त होते हैं, तब वे अव्याकृत कहलाते हैं। सुख, दुःख एवं उपेक्षा तीनों वेदनायें इनसे संप्रयुक्त होती हैं तथा ५ सर्वत्रग, ५ विनियत, ११ कुशल, ६ क्लेश, २० उपक्लेश एवं ४ अनियत इस प्रकार कुल ५१ चैतसिक इनसे सम्प्रयुक्त होते हैं।[५६]

स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा एवं चेतना– ये पॉच चैतसिक 'सर्वत्रग' कहलाते हैं क्योंकि ये चक्षुर्विज्ञान से लेकर आलयविज्ञानपर्यन्त सभी चित्तों से सम्प्रयुक्त होते हैं।

छन्द, अधिमोक्ष, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा– ये पाँच चैतसिक, 'विनियत' कहलाते हैं क्योंकि ये अपने विषय के किसी विशेष का ग्रहण करते हुए उसका निश्चय करते हैं। ये अपने विषय के किसी विशेष के सभी प्रकारों का निश्चय नहीं कर पाते, अपितु किसी विशेष धर्म का ही निश्चय करते हैं।

श्रद्धा, ह्री, अपत्रपा, अलोभ, अद्वेष, अमोह, वीर्य, प्रश्रब्धि, अप्रमाद, उपेक्षा और अहिंसा– ये ११ चैतसिक कुशल कहलाते हैं।

राग, प्रतिघ, मोह, मान, दृष्टि एवं विचिकित्सा– ये छः चैतसिक मूल क्लेश कहलाते हैं।

क्रोध, उपनाह, भ्रक्ष, प्रदाश, ईर्ष्या, मात्सर्य, माया, शाठ्य, मद, विहिंसा, अह्री, अत्रपा, स्त्यान, उद्धव, आश्रह्वय, कौसीद्य, प्रमाद, मुषितास्मृति, विक्षेप एवं असम्प्रजन्य– ये बीस चैतसिक 'उपक्लेश' कहलाते हैं। ये उपक्लेश स्वतन्त्ररुपेण क्लेश नहीं होते, अपितु तत्तत् मूल क्लेशों की विशेष अवस्थाओं में प्रज्ञप्त होते हैं।

कौकृत्य, मिद्ध, वितर्क एवं विचार ये चार चैतसिक अनियत या अन्यथाप्रवृत्त कहलाते हैं, क्योंकि इनका अपना कोई नियम स्वभाव नहीं होता। जब ये क्लिष्ट चित्तों से सम्प्रयुक्त होते हैं, तब क्लिष्ट तथा जब अक्लिष्ट चित्तों से सम्प्रयुक्त होते हैं तब अक्लिष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार से चित्तों के साथ कुशल, अकुशल चित्तों के साथ अकुशल तथा अव्याकृत चित्तों के साथ अव्याकृत हो जाते हैं।

इस तरह कुल ५१ चैतसिक होते हैं, जो विविध चित्तों के साथ सम्प्रयुक्त होते हैं।

प्रवृत्ति विज्ञानों की उत्पत्ति :-

प्रश्न यह है कि रुपादि पाँचों आलम्बनो के सम्मुख उपस्थित होने पर आलयविज्ञान से एक ही विज्ञान की उत्पत्ति होती है या युगपद् अनेक विज्ञान उत्पन्न हो सकते हैं?

इस प्रकार का प्रश्न इसलिए उपस्थित होता है, क्योंकि सौत्रान्तिक एक काल में एक से अधिक विज्ञानों की स्थिति नहीं मानते है। ज्ञातव्य है कि विज्ञान की उत्पत्ति में चार प्रत्यय (कारण) होते हैं यथा– आलम्बन प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय, समनन्तर प्रत्यय एव कारण प्रत्यय। उदाहरणार्थ, घटविषयक चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में घट आलम्बन–प्रत्यय है, चक्षुरीन्द्रिय अधिपति प्रत्यय है।

चक्षुर्विज्ञान से पूर्ववर्ती मनस्कार समनन्तरप्रत्यय है तथा इन कारणों से अतिरिक्त आलोक आदि कारणप्रत्यय हैं। यहाँ सबसे महत्वपूर्ण एवं विवाद का विषय समनन्तर प्रत्यय है। सौत्रान्तिकों का कहना है कि सारे आलम्बनों के एक साथ उपस्थित होने पर भी यदि समनन्तर प्रत्यय न हो तो किसी भी विज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। साथ ही दो मनस्कार भी एक साथ नहीं हो सकते। फलतः विज्ञानों की उत्पत्ति मनस्कारों के अनुसार क्रमशः ही होती है, युगपद् नहीं। इसलिए उक्त प्रकार के प्रश्न का अवसर उपस्थित होता है।

विज्ञानवादियों का कहना है कि आलम्बनों के उपस्थित होने पर एक से अधिक विज्ञान भी, यहाँ तक कि समस्त प्रवृत्तिविज्ञान एक साथ उत्पन्न हो सकते हैं। समुद्र की उपमा देकर वे कहते हैं कि जैसे एक तरंग की उत्पत्ति का प्रत्यय होने पर समुद्र से एक तरंग उत्पन्न होती है। दो, तीन या अधिक तरंगों की उत्पत्ति के कारण उपस्थित होने पर दो, तीन या इससे अधिक तरंगे एक साथ उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार एक आलम्बन के उपस्थित होने पर आलयविज्ञान से एक विज्ञान का उत्पाद होता है। दो, तीन या अधिक आलम्बनों के उपस्थित होने पर आलयविज्ञान से दो, तीन या इससे अधिक विज्ञान भी एक साथ उत्पन्न हो संकते हैं।[६०]

उनका कहना है कि विज्ञानों की उत्पत्ति में जैसे आलम्बन का नियम निश्चित है, उस प्रकार समनन्तर प्रत्यय का नियम नियत नहीं है। कहने का आशय यह है कि प्रत्येक विज्ञान का आलम्बन प्रत्यय नियत होता है, किन्तु जिस प्रकार का प्रतिनियम आलम्बनप्रत्ययों में विद्यमान है, वैसा समनन्तर प्रत्ययों में नहीं है। ऐसा नहीं है कि प्रत्येक विज्ञान का समनन्तर प्रत्यय नियत हो

और जिस विज्ञान का वह समनन्तरप्रत्यय है, उससे अतिरिक्त विज्ञानों का वह समनन्तर प्रत्यय न होता हो अपितु पॉचों इन्द्रियविज्ञानों का एक ही समनन्तरप्रत्यय हो सकता है, जिस प्रकार एक ही यव बीज से सैकड़ों यव (जौ) उत्पन्न हो जाते हैं। किसी भी विज्ञान का पूर्ववर्ती विज्ञान उसका समनन्तरप्रत्यय होता है। यदि ऐसा न माना जाएगा अर्थात् जैसे आप कहते हैं, वैसा माना जाएगा तो छहो आलम्बनों के एक–एक उपस्थित होने पर और सबके प्रति समान मनस्कार होने पर भी विज्ञान की उत्पत्ति न हो सकेगी, क्योंकि आपके मतानुसार एक से अधिक विज्ञान एक काल में नहीं हो सकते तो भी आप उपर्युक्त दोष से मुक्त हो सकेंगे, क्योंकि मान लीजिए आपके सम्मुख पाँच या छः आलम्बन एकसाथ उपस्थित हैं और आपकी सन्तति में किसी के भी प्रति मनस्कार नहीं है तो कोई भी विज्ञान उत्पन्न न हो सकेगा, साथ ही इसका प्रत्यक्ष से विरोध भी होगा। फलतः समन्तरप्रत्यय के बारे में सौत्रान्तिकों के विचार सर्वथा अयुक्तिसंगत हैं। आलयविज्ञान मे समस्त विज्ञानों के समनन्तरप्रत्यय नियमितरुपेण सर्वदा विद्यमान होते हैं, जो आलम्बनों के सम्मुख आते ही विज्ञानों का उत्पाद करते हैं। ऐसा न मानने पर सौत्रान्तिक को यह युक्ति दिखलानी होगी कि क्यों पाँचो आलम्बनों के उपस्थित होने पर भी एक ही विज्ञान का उत्पाद होता है, पॉचों विज्ञानों का नहीं। वस्तुतः इस दिशा में उनके पास कोई युक्ति नहीं है। अतः उन्हें या तो पाँचों विज्ञानों की एक–साथ उपस्थिति मानने के लिये बाध्य होना पड़ेगा या एक भी विज्ञान का उत्पाद न हो सकेगा।

प्रश्न यह है कि प्रवृत्तविज्ञानों मे से छठवाँ मनोविज्ञान पॉच चक्षुरादिविज्ञानों के साथ ही प्रवृत्त होता है या उनके बिना भी प्रवृत्त होता है अथवा कोई तीसरा पक्ष है?

मनोविज्ञान की प्रवृत्ति आसंज्ञिक आदि पॉच अचित्तक अवस्थाओं को छोड़कर सर्वदा होती रहती है। फलतः वह चक्षुर्विज्ञान आदि पाँच इन्द्रिय विज्ञानों के साथ ही प्रवृत्त हो सकता है और उसके बिना भी प्रवृत्त हो सकता है। पाँच अचिन्तक अवस्थायें ये हैं–

१. आसंज्ञिक देवों की अवस्था।
२. आसंज्ञिक समापत्ति की अवस्था।
३. निरोध समापत्ति की अवस्था।
४. मिद्ध की अवस्था एवं

५. मूर्छावस्था।[६१]

अब हम उपर्युक्त अचित्तक अवस्थाओं के स्वरूप का वर्णन करने का प्रयास करेंगे–

कुछ पृथग्जन असंज्ञिसमापत्ति का लाभ करते हैं फलस्वरूप असंज्ञी देवों में उत्पन्न होते हैं। ये चतुर्थ ध्यानभूमि के देवों में परिणत होते हैं। असंज्ञी सत्वों की सन्तति में आलयविज्ञान एवं क्लिष्टमनोविज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई चित्त–चैतसिक विद्यमान नहीं होते।

असंज्ञी सत्वों की वह समापत्ति, जिसमें चित्त चैतसिकों का निरोध हो जाता है, 'अंसज्ञिसमापत्ति' कहलाती है। चतुर्थध्यानलाभी पृथग्जनों में कभी ऐसा विचार उत्पन्न होता है कि समस्त चित्त, चैतसिक या संज्ञा बन्धन हैं और उनका निरोध ही वास्तविक मुक्ति है। फलत· इस मिथ्या धारणावश वे असंज्ञिसमापत्ति का लाभ करते हैं। यह एक जडवत स्थिति होती है। इसमे आलयविज्ञान एवं क्लिष्ट मनोविज्ञान से अतिरिक्त अन्य समस्त चित्त चैतसिक निरुद्ध रहते हैं। इस समापत्ति को प्राप्त पुद्गल च्युति (मरने) के अनन्तर असंज्ञी देवों में उत्पन्न होता है। आर्य लोग इसे भयंकर पतन का स्थान मानते हैं। वे इसे प्राप्त करने का कभी प्रयत्न नहीं करते।

नैवसंज्ञानासंज्ञायतन (भवाग्र) ध्यान का लाभी आर्य शान्त बिहार (दृष्टधर्मनिर्वाणसुख) की इच्छा से इस समापत्ति में आस्थित होता है। इस अवस्था में आलयविज्ञान से अतिरिक्त कोई भी चित्त विद्यमान नहीं होता। अन्य समस्त चित्त–चैतसिकों का निरोध ही 'निरोधसमापत्ति' कहलाता है।

मिद्धावस्था एक प्रकार से गहरी नींद की अवस्था में है जिसमें कोई भी प्रवृत्तिविज्ञान प्रवृत्त नहीं होता। केवल आलयविज्ञान एवं क्लिष्ट मनोविज्ञान मात्र विद्यमान होते हैं।

लाठी, पत्थर आदि से चोट या वात, पित्तादि धातुओं के वैषम्य से मूर्छावस्था हो जाती है। इस अवस्था में मनोविज्ञान तक प्रवृत्त नहीं होता। केवल आलयविज्ञान एवं क्लिष्ट मनोविज्ञान ही प्रवृत्त होते हैं।

उपर्युक्त पाँच अचित्तक अवस्थाओं को छोड़कर शेष सभी अवस्थाओं में मनोविज्ञान प्रवृत्त होता रहता है।

शाश्वतान्त का निराकरण

विज्ञान के समस्त परिणाम विकल्प हैं क्योंकि बाह्यार्थत्वेन कल्पना करते हैं और स्वयं भी बाह्यार्थत्वेन कल्पित होने के योग्य होते हैं। जिस–जिस विकल्प द्वारा जो–जो धर्म कल्पित किये जाते हैं, वे सब वस्तुतः उस प्रकार के नहीं होते, जैसे कल्पित किये जाते हैं। अतः वे सब विज्ञप्तिमात्र ही हैं, बाह्यार्थत्वेन सत् नहीं है।

उच्छेदान्त का निराकरण

विज्ञानवादी आचार्यो ने अनेकों युक्तियों से बाह्यार्थ का खण्डन किया है, तथापि उनका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि समस्त धर्म खपुष्पवत अलीक हैं अपितु उनका अभिप्राय यह है कि समस्त धर्म विज्ञप्तिमात्र हैं। जब यह कहा जाता है कि 'समस्त धर्म विज्ञप्तिमात्र' है तो उसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि चित्त से अतिरिक्त कुछ नहीं है अपितु उसका मात्र इतना आशय होता है कि उनकी बाह्यतः सत्ता नहीं है।

आचार्य वसुबन्धु ने स्वयं कहा है कि "मात्र शब्द का तात्पर्य केवल बाह्यार्थ के प्रतिषेध से है।"[६२] इसी आशय की बात उन्होंने फिर कही है कि "धर्मनैरात्म्य का अर्थ कदापि नहीं है कि धर्म सर्वथा नहीं है, अपितु उसका अर्थ कल्पित धर्मों के न होने मात्र से है।"[६३] धर्मों की सर्वथा नास्तित्व आचार्य को अभिप्रेत नहीं है।

गोत्रव्यवस्था :-

महायान मतानुसार समस्त जीव एक न एक दिन अवश्य निर्वाण प्राप्त करेंगे क्योंकि सभी जीवों में उसका गोत्र विद्यमान होता है। उसी की वजह से श्रावक या प्रत्येक बुद्ध-मार्ग से चलने पर निर्वाण की प्राप्ति होती है तथा महायान मार्गसे चलने पर बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। फलतः गोत्र भी त्रिविध होता है, यथा– श्रावकगोत्र, प्रत्येकबुद्धगोत्र एवं बोधिसत्वगोत्र। गोत्रव्यवस्था ही महायान की वह व्यवस्था है जो उसे अन्य दर्शनों से पृथक करती है।

त्रिविध यान

बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं, यथा– त्रियानवादी एवं एकयानवादी। श्रावकज्ञान, प्रत्येक बुद्धज्ञान एवं बोधिसत्वयान इन तीनों को जो अन्तिम मार्ग मानते

हैं, वे त्रियानवादी कहलाते हैं। जो केवल बोधिसत्व यान (महायान) को ही एकमात्र अन्तिम मार्ग स्वीकार करते हैं, वे एकयानवादी कहलाते हैं।[६४]

कहने का आशय यह है कि त्रियानवादियों की यह मान्यता है कि श्रावक निरुपधिशेषनिर्वाण के प्राप्ति के अनन्तर अन्य यान में प्रवेश नहीं कर सकता। वही उसका अन्तिम गन्तव्य या फल है। इससे उत्कृष्ट फल उसे प्राप्त न होगा। प्रत्येक बुद्ध भी जब निरूपधिशेषनिर्वाण प्राप्त कर लेता है तो अन्य यान में प्रविष्ट नहीं हो सकता। यही उसका अन्तिम प्राप्य फल है। बोधिसत्व जब बुद्धत्व प्राप्त कर लेता है, तो उसके अन्य यान में प्रविष्ट होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। इनके अनुसार श्रावक एवं प्रत्येक बुद्ध भी महायान में प्रविष्ट हो सकते हैं, किन्तु सोपाधिशेषनिर्वाणावस्था में या उससे पूर्व ही ऐसा सम्भव है। उसके बाद ऐसा नहीं हो सकता।

एकयानवादियों के अनुसार श्रावक हो, प्रत्येक बुद्ध हो या कोई अन्य हो सबके लिए अन्त में महायान में प्रविष्ट होना अनिवार्य है। श्रावक एवं प्रत्येक बुद्ध दोनों निरुपधिशेषनिर्वाण की प्राप्ति के अनन्तर भी महायान में प्रवेश करते हैं और अन्त में बुद्धत्व का लाभ करते हैं। सबका अन्तिम प्राप्य फल बुद्धत्व ही है। प्रासंगिक एवं स्वतान्त्रिक दोनों माध्यमिक एकयानवादी हैं। दो प्रकार के विज्ञानवादियों में से युक्त्यानुयायी विज्ञानवादी भी एकयानवादी हैं। आगमानुयायी विज्ञानवादी त्रियानवादी हैं।

ऊपर कहा गया है कि गोत्र तीन होते हैं, यथा– श्रावकगोत्र, प्रत्येक बुद्धगोत्र एवं बोधिसत्वगोत्र आलयविज्ञान में स्थित होता है। आलयविज्ञान में स्थित अनास्रवबीज ही गोत्र हैं। ये (अनास्रवबीज) तीन प्रकार के होते हैं, जिनके सामर्थ्य से सत्वों के अपने–अपने गन्तव्य सुनिश्चित होते हैं।[६५]

आगमानुयायी विज्ञानवादी यह भी मानते हें कि श्रावक, प्रत्येकबुद्ध एवं बोधिसत्व के नियत गोत्र होते ही हैं, साथ ही वे यह भी मानते हें कि कुछ पुद्गल अनियत गोत्र भी होते हैं अर्थात् जिनका तीनों यानों में से किसी में भी अभी निश्चित गोत्र नहीं है। ऐसे लोग आगे चलकर कारणसम्पत्ति के अनुसार किसी भी यान में प्रविष्ट हो सकते हैं। इस मत के अनुसार कुछ सत्व ऐसे भी होते हैं, जिनका कोई गोत्र होता ही नहीं ऐसे जीव 'उच्छिन्नगोत्र' कहलाते हैं। ये कभी भी निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकते।

निर्वाणव्यवस्था

निर्वाण के विषय में बौद्ध सिद्धान्तवादियों के भिन्न–भिन्न मत हैं। वैभाषिक यह मानते हें कि निरुपधिशेषनिर्वाण की अवस्था में समस्त संस्कृत धर्म निरुद्ध हो जाते हैं, केवल एक प्रतिसंख्यानिरोध अवशिष्ट रहता है जो असंस्कृतधर्म होते हुये भी द्रव्यसत् होता है। इनके मत में द्रव्य होने और असंस्कृत होने में विरोध नहीं है।

सौत्रान्तिक दो तरह के होते हैं। प्रथम प्राचीन सौत्रान्तिकों के अनुसार निरुपाधिशेष निर्वाण अभावमात्र है अर्थात् वह प्रसज्जप्रतिषेधमात्र है। वह द्रव्यसत् नहीं है क्योंकि वह एक असंस्कृत धर्म है और इनके मतानुसार असंस्कृत का द्रव्यसत् होना सर्वथा निरुद्ध है एवं असम्भव है।

द्वितीय, अर्वाचीन सौत्रान्तिकों पर युक्त्यानुयायियों का प्रभाव पड़ने के कारण ये अपना भिन्न मत रखते हैं। इनका मत है कि निरुपाधिशेषनिर्वाणावस्था में यद्यपि क्लेशों से दूषित सास्रव पंचस्कन्ध नहीं रहते, तथापि अनास्रव पंचस्कन्ध या व्यक्तित्व अवशिष्ट रह जाता है। इन सभी दार्शनिकों के मत में पहले सोपाधिशेष निर्वाण की प्राप्ति होती है, तदनन्तर निरुपाधिशेषनिर्वाणावस्था का आगमन होता है।

आगमानुयायी विज्ञानवादियों के (वसुबन्धु इत्यादि) मत में निरुपाधिशेषनिर्वाणावस्था में जड़ (रुप), सन्तति एवं चित्त–सन्तति की प्रवृत्ति सर्वथा अवरुद्ध हो जाती है। इनके मत में निर्वाण प्रसज्यप्रतिषेधरूप (अभावमात्र) नहीं है और द्रव्यसत् भी नहीं है। वह एक नित्य एवं अपरिवर्तनशील धर्म है इसीलिये इनके सिद्धान्तानुसार जो श्रावक या प्रत्येक–बुद्ध महायान में प्रवेश करते है, वे निरुपाधिशेषनिर्वाणप्राप्ति के पूर्व ही महायान में प्रवेश कर लेते हैं अन्यथा निरुपाधिशेषनिर्वाणप्राप्त हो जाने पर तो महायान में प्रवेश सर्वथा असम्भव हो जाएगा। इसी कारण इनके मत में तीन यानों का सिद्धान्त (त्रियानवाद) ठीक–ठीक बन पाता है।

संदर्भ

१. द्र० त्रिं० का० ३६, पृ० ३५१।

२. ततो विमुक्तिः भ्रममात्रक्षयः। महायान सूत्रालंङ्कार, ६/२।

३. मनो पुब्बगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।। धम्मपाद, १।

४ ये केचि धम्मा अकुशला, ये केचि धम्मा कुशला, सब्बे ते मनोपुव्वगंमा। चित्तेनाय लोको नीयते चित्तेन परिकृष्यते, चित्तस्थोत्पन्नस्य वशे वर्तते। अङ्गुत्तरनिकाय २–१६१, केवट्टसूत्र–बुद्ध के सलाप भाग, १ पृ० २८४।

५. च सन्न चासन्न न तथा न चान्यथा न जायते वेति न चावहीयते।
न वर्धते नापि निरूध्यते पुनर्विशुध्यते तत् परमार्थ लक्षणम्।। महायान–सूत्रालङ्कार, ६/२।

६. न चान्तरं किञ्चन् विद्यतेऽनयो, सदर्थवृत्याशमजन्यमनोरिह।
तथाऽपि जन्म क्षयेतो विधीयते शमस्यलाभः शुभकर्मकारिणम्।। महायान सूत्रालंङ्कार ६/५।

७. भिन्नाश्रया भिन्नजलाश्च नद्यः स्वल्पोदका कृत्य पृथक्त्वकार्या।
समुद्रविष्टाश्च भवन्ति सर्पा एकाश्रया एव महाजलश्च।। महा० सूत्रा० ६/८३।

८. नास्ति इति चित्तात् परमेत्य बुद्धया चित्तस्य नास्तित्वमुपैतितस्मात्।
द्वयस्य नास्तित्वमुपैत्य धीमान् सन्तिष्ठतेऽतद् गतिधर्मधातौ।। वही, ६/८।

६. ध्यानं चतुर्थ सुविशुद्धमेत्य निष्कल्पना ज्ञानपरिग्रहेण।
येनार्यदिव्या प्रतिमैर्विहारै. ब्राह्मैश्च नित्य विहरत्युदारैः।। वही, ७/३।

१०. धर्मो नैव च देशितो भगवता प्रत्यात्मवेद्यो यतः।
आकृष्टा जनता च युक्तिर्विहितैर्धमै. स्वकीं धर्मताम्।। वही, १२/२।

११. शून्यता विद्यते त्वत्र तस्यामपि स विद्यते। मध्यान्त विभाग–१/१।

१२. आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते।
विज्ञानपरिणामोऽसौ, परिणामः स च त्रिधा।। त्रिं० का० १।

१३. विज्ञप्ति मात्रता सिद्धि· स्वशक्तिः सदृशी मया।

१४. कृतेयं सर्वथा सा तु न चिन्त्या बुद्धिगोचरः।। विशंतिका का० २२।

१५. तस्य व्यावत्तिरर्हत्वे, त्रि० का० ५।

१६ यदन्तेज्ञेयरूपं तु बहिर्वद् अवभासते। आलम्बन परीक्षा, कारिका–६।

१७. अर्थक्रियाकारित्वं लक्षणं परमार्थ सत्–न्याय बिन्दु, १–१५

१८. प्रमाणवार्तिक, १/२/१२

१६. एतदेव हि तज्ज्ञानं यद् विशुद्धात्मदर्शनम्।
आगन्तुकमलोपेत चित्तमात्रत्ववेदनात्।। तत्वसंग्रह कारिका–३५३६

२०. विज्ञप्तिमात्रता सिद्धिः धीमद्भिर्विमलीकृता।
अस्माभिस्तद्दिशायातं परमार्थविनिश्चये।। तत्वसंग्रह कारिका–२०८४

२१. विंशतका २

२२. वज्रच्छेदिका

२३. विज्ञप्तिमात्रमेवैतद् सदर्थावभासनात्।
यथातैमिरिकस्यासत्केषचंद्रादि दर्शनम्।। विंशतिका कारिका १

२४. स्टडीज इन द लंकावतारसूत्र

२५. ततो विमुक्तिः भ्रममात्र संक्षयः। महायानसूत्रालंकार ६.२

२६. विंशतिका २.८

२७. शांकरभाष्य २.२.२६

२८. द योग इयरा आइडियलिज़्म, ११, १०६.१०७

२६. सन्तानान्तर सिद्धि, ६.५

३०. अर्थक्रिया सामर्थ्य लक्षणत्त्वाद् वस्तुनः, पृ० १२, लाइन २०

३१. श्लोकवार्तिक–निरालम्बनवाद, श्लोक १०८

३२. आलम्बनपरीक्षा ६

३३. श्लोकवार्तिक–निरालम्बनवाद, श्लोक १०८

३४ विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि पृ० १४

३५. आलम्बनपरीक्षा श्लोक, ६

३६. आलम्बनरीक्षा श्लोक, ६

३७. तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, पृ० ५८२

३८. 'शुद्धमेव निराकारं ग्राहक सविदस्ति हि' श्लोक वार्तिक।

३६. प्रमाणववार्तिक ३, ३७५

४०. न्यायकणिका, पृ० २५८

४१. श्लोकवार्तिक निरालम्बनवाद श्लोक १०७

४२. मध्यान्त विभाग सूत्र भाष्य टीका, पृ० २२

४३. मध्यान्त विभाग सूत्र भाष्य टीका, पृ० २२

४४. प्रमाणवार्तिक ३.३३८

४५. सन्तानान्तर सिद्धि श्लोक १ ·

४६. सन्तानान्तर सिद्धि श्लोक ५३

४७. सन्तानान्तर सिद्धि श्लोक ५५

४८. तत्वसंग्रह १६६५, १६६६

४६. विंशतिका वृत्ति पृ० १०–११

५०. विंशतिका वृत्ति पृ० १०–११

५१. आचार्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र, तिब्बती कंजूर, पु० सं०, १३ (स्दे द्गे संस्करण)

५२. अभिधर्मसूत्र, त्रिं०, पृ० २८२

५३. लंकावतारसूत्र, पृ० २२३

५४. तत्र सर्वसाक्लेशिकधर्मबीजस्थानत्वाद् आलयः . . . . . – त्रिशिंका–३६–४०, पृ० १३६–१३७

५५. असंविदितकोपादिस्थानविज्ञप्तिक च तत्. . . . द्र०–त्रिं० का० ३, ४ पृ० १४३, १४६

५६. तस्य वर्तते स्रोतसौघवत् ।। तस्य व्यावृत्तिरर्हत्वे। द्र०–त्रिंका० ४, ५ पृ० १६१, १६३

५७. द्रव्य–त्रिंशिका, पृ० १७३

५८. द्र० त्रिंशिका कारिका ६, पृ० १७०–१७२

५६. द्र० त्रिंशिका, पृ० १७३

६०. . . . . अर्हतो न तत्।
न निरोधसमापत्तौ मार्गे लोकोत्तरे न च।। त्रि० का० ७, पृ० १७७३

६१. तृतीय षड्विधस्य या।

विषयस्योपलब्धिः सा कुशलाकुशलाद्वया।
सम्प्रयुक्ता तथा क्लेशैरुपक्लेशैस्त्रिवेदना।।—द्र० त्रि० का ८, ६ पृ० १८१—१८३

६२. पञ्चाना मूलविज्ञाने यथाप्रत्ययसमुद्भवः।
विज्ञानाना सह न वा तरगाणा यथा जले।। त्रिं० का० १५, पृ० २४६

६३. मनोविज्ञानसम्भूति· सर्वदासंज्ञिकादृगे।
समापत्तिद्वयान्मिद्धान्मूर्च्छानादप्यचित्तकात्।। त्रिं० का० १६, पृ०

६४. मात्रमित्यर्थप्रतिषेधार्थम्। द्र० विशिका १, पृ०—१

६५. न खलु सर्वथा धर्मो नास्तीत्येव धर्मनैरात्म्यप्रवेशो भवति, अपितु कल्पितात्मना। द्र० विशिका २४, पृ० ४१

अध्याय ७

वसुबन्धु की ज्ञानमीमांसा

वसुबन्धु के दर्शन को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है– तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा।

वसुबन्धु के तत्त्वमीमांसा का विगत अध्याय में निरुपण किया गया है जिसमें उनकी विज्ञप्तिमात्रता, आलयविज्ञान, क्लिष्ट मनोविज्ञान, प्रवृत्ति विज्ञान आदि का निरुपण किया गया है। सम्प्रति उनकी ज्ञानमीमांसा का निरुपण किया जाएगा।

वसुबन्धु मूलतः सौत्रान्तिकोन्मुख वैभाषिक दार्शनिक हैं जिन्होंने अपने युगप्रवर्तक ग्रन्थ 'अभिधर्मकोश' को काश्मीर वैभाषिक लय का अनुसरण करते हुए लिखा। अतः उनकी ज्ञानमीमांसा भी बहुत कुछ सौत्रान्तिकोन्मुखी है, भले ही वे पूर्ण रूप से सौत्रान्तिक न हो। आगे चल कर अपने अग्रज असंग से प्रभावित होकर अथवा तार्किक अनिवार्यता के वशीभूत होने के कारण (योगाचार) विज्ञानवादी हो गए अतः उनके परवर्ती दर्शन में विज्ञानवादी ज्ञानमीमांसा हावी है और वे ब्रह्माण्ड की समस्त घटनाओं की व्याख्या विज्ञप्तिमात्रता के आधार पर करते हैं।

सौत्रान्तिक और विज्ञानवादियों की न्यायप्रक्रिया में मौलिक भेद नही है। उनमे जो मतभेद हैं वे वस्तु की पारमार्थिक सत्ता के स्वरूप के विषय में हैं। अतः बहुत कुछ दोनों की न्याय व्यवस्था समान कही जा सकती है।[१]

सौत्रान्तिक दार्शनिकों की भांति वसुबन्धु भी दो ही प्रमाण मानते हैं– प्रत्यक्ष और अनुमान। इस आधार पर दिङ्नाग के स्थान पर यदि उन्हें बौद्ध 'प्रमाण--व्यवस्था' सिद्धान्त का जनक माना जाए तो अनुचित नहीं। यद्यपि वे भगवान् बुद्ध के प्रति बड़ा ही श्रद्धाभाव रखते हैं। वह अपने 'अभिधर्मकोश' का शुभारम्भ बुद्ध की वन्दना से ही करते हैं किन्तु बुद्ध के जो भी वचन उनके सिद्धान्तों के विरुद्ध वैभाषिकों द्वारा उद्धृत किए जाते हैं वे बड़े ही कौशलपूर्वक नेयादि और नीतार्थ

का भेद बताकर उन्हें खण्डित करते हैं और कई जगह स्पष्टतः दो ही प्रमाण[2] की बात करते हैं प्रत्यक्ष और अनुमान।

प्रत्यक्ष

'प्रत्यक्ष' की परिभाषा करने के पूर्व 'प्रत्यक्ष' का शाब्दिक अर्थ जानना नितान्त आवश्यक है। प्रत्यक्ष शब्द के दो खण्ड हैं– प्रति और अक्ष। प्रशस्तपाद के अनुसार प्रति का अर्थ है समीप या सामने और अक्ष का अर्थ है ऑख। अतः प्रत्यक्ष का शाब्दिक अर्थ हुआ– आंखों के पास या सामने। इस प्रकार अपने विषय में संलग्न अथवा विषय के प्रति क्रियाशील होने से जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है वह प्रत्यक्ष है।[3] आँख (जो यहॉ पर अन्य ज्ञानेन्द्रियों नाक, कान, आदि की भी प्रतीक है) के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। उद्योतकर के अनुसार प्रत्यक्ष का आशय है– "इन्द्रियों से सम्बन्धित' जबकि प्रशस्तपाद के विचार में इसका अर्थ है इन्द्रियों पर आधारित। 'प्रत्यक्ष' के प्रतिपादन में वसुबन्धु स्पष्ट रुप से वैदिक दार्शनिकों, अक्षपाद, गौतम, कणाद और असंग से प्रभावित है। वैशेषिक कणाद के अनुसार "आत्मा, मन, ज्ञानेन्द्रियों तथा वस्तु के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष है।"[4] न्यायदर्शन के प्रवर्तक अक्षपाद गौतम ने भी कुछ संशोधन के साथ यही लक्षण स्वीकार किया। उनके अनुसार 'ज्ञानेन्द्रियों और वस्तुओं के सन्निकर्ष से उत्पन्न अव्यभिचारि और व्यवसायात्मक ज्ञान का ही नाम प्रत्यक्ष है।[5]

आर्य असंग ने भी प्रत्यक्ष का लक्षण करते समय वस्तुवादियों का ही अनुसरण किया है। उनके अनुसार 'वस्तु से उत्पन्न अव्यवहित व्यवसायात्मक और अभ्रान्त ज्ञान ही प्रत्यक्ष है।[6] अपने अग्रज असंग का अनुसरण करते हुए वसुबन्धु ने भी 'वादविधि ततोऽर्थाद् विज्ञान' प्रत्यक्षम्।[7] अर्थात् 'वस्तु से उत्पन्न ज्ञान को ही प्रत्यक्ष' कहते हैं।

'प्रत्यक्ष' के इस लक्षण का अनुशीलन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुचेंगे कि यह लक्षण 'भ्रान्त' और 'अभ्रान्त' ज्ञान तथा प्रत्यक्ष और अनुमान के भेद को स्पष्ट करने में सक्षम है। उदाहरण के लिए यदि 'नीलकमल' के संज्ञान से कोई 'प्रत्यक्ष' उत्पन्न हो रहा है तो वह पूर्ण रुप से निर्भ्रान्त प्रत्यक्ष है यदि वह नीलकमल से ही उत्पन्न हो रहा है तो इसी प्रकार सीपी में चांदी के संज्ञान से जो प्रत्यक्ष हो रहा है वह सही और यथार्थ प्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि वह उस वस्तु 'चांदी' से नहीं

उत्पन्न हो रहा है बल्कि चांदी के सदृश प्रतीयमान् वस्तु से उत्पन्न हो रहा है जो चांदी की तरह संज्ञेय है किन्तु चांदी नहीं है। इसी प्रकार इस लक्षण से अनुमानात्मक संज्ञान की संभावना भी समाप्त हो जाती है क्योंकि यहाँ ज्ञान वस्तु से हो रहा है न कि उस वस्तु से जो अतीत में संज्ञानित हुई है और हेतु और साध्य धुआँ और अग्नि के सम्बन्ध से उत्पन्न होती है।

वसुबन्धु की उपर्युक्त परिभाषा की समीक्षा हम सर्वप्रथम उद्योतकर की दृष्टि से करेंगे।

वसुबन्धु के प्रत्यक्ष के लक्षण की समीक्षा करते हुए उद्योतकर कहते हैं कि वसुबन्धु के लक्षण का अर्थ निम्नवत किया जा सकता है– प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जिसकी उत्पत्ति मात्र उसी वस्तु से होती है जिस वस्तु का उसे ज्ञान कहा जाता है और किसी सत्य वस्तु में नहीं।[8] उद्योतकर की दृष्टि से इस परिभाषा में दो दोष हैं–

प्रथम– यह परिभाषा संवृतिज्ञान पर नहीं लागू होती जो शुद्ध प्रत्यक्ष से (संसक्त) है।[9] उदाहरण के लिए इस परिभाषा के आधार पर 'घट' का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता क्योंकि वस्तु (घट) से जो ज्ञान उत्पन्न हो रहा है वह उस वस्तु (घट) नहीं अपितु उस वस्तु (घट) के रंग से उत्पन्न हो रहा है और इसलिए इस परिभाषा के आधार पर हम यही नहीं कह सकते कि यह उस वस्तु से उत्पन्न हो रहा है जिसका यह संज्ञान कहा जाता है। वस्तुतः उद्योतकर यहॉ बौद्ध सिद्धान्त पर व्यंग कर रहे हैं कि आपके सिद्धान्त के अनुसार तो वस्तु (अर्थ) का अस्तित्व ही नही है मात्र गुणों का अस्तित्व होता है किन्तु व्यवहार चलाने के लिए उसे हम वस्तु का भय दे देते हैं अतः आप के अनुसार तो मात्र रंग (रुप) का ही ज्ञान हो रहा है न कि वस्तु का जो वस्तुसत् न होकर प्रज्ञप्तिसत् है।

ग्राह्य वस्तु (जिसका संज्ञान किया जाता है) और ग्राहक संज्ञान कर्त्ता, युगपद् विद्यमान नहीं है अतः इस स्थिति में जो संज्ञान हो रहा है उसे 'प्रत्यक्ष' नहीं कहा जा सकता।[10] वाचस्पति मिश्र उपर्युक्तसूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ग्राह्य वह वस्तु है जिससे संज्ञान उत्पन्न हो रहा है और यह ग्राह्य वस्तु संज्ञान (प्रत्यक्ष) का कारण है और संज्ञान उसका कार्य है अतः यह ज्ञान हर क्षण अपने ही कारण (ग्राह्य) का संज्ञान कर रही है किन्तु वह कारण जो इसका पूर्ववर्ती है इस क्षण है ही वहीं अर्थात् अतीत की वस्तु बन चुका है अतः यह संज्ञान मिथ्या है और इसे प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता।[11]

इस आलोचना का उत्तर देते हुए वसुबन्धु कहते हैं कि यदि आपकी यह आपत्ति है कि ज्ञान का कारण–ग्राहय वस्तु अतीत की वस्तु बन चुका है तो वह भिन्न क्षण में इस समय कैसे संज्ञेय बन सकता है तो मेरा यह उत्तर है कि ग्राह्य वस्तु का अर्थ है ज्ञान का कारण और जो वस्तु ज्ञान का कारण है वह यह सामर्थ्य या क्षमता रखता है कि परवर्ती क्षण में अपना प्रत्यक्ष (ज्ञानाकार) उत्पन्न कर दे।[१२]

वाचस्पति इस उत्तर को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यदि वह वस्तु (ग्राह्य) भिन्न काल में है अर्थात् अतीत की वस्तु बन गयी है तो भी वह अपने सदृश संज्ञान को उत्पन्न करने में सक्षम है और यही उस ज्ञान का विषय (ग्राह्य–वस्तु) है।[१३]

इसके बाद दिङ्नाग 'प्रत्यक्ष' के इस लक्षण को तनिक भी महत्व देने के लिए तैयार नहीं। वे यहाँ तक कह डालते हैं कि जिस 'वादविधि' में यह लक्षण दिया गया है वह वस्तुतः वसुबन्धु की रचना ही नहीं।[१४]

दिङ्नाग के अनुसार यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त है। उनके अनुसार इस परिभाषा की परिधि में ''स्मृति'' भी समाहित हो जाएगी क्योंकि स्मृति भी संज्ञेय वस्तु से सम्बद्ध है भले ही अतीत में इसका संज्ञान हुआ है। इसी प्रकार यह प्रत्यक्ष और अनुमान का भी भेंट करने में समर्थ नहीं है क्योंकि अनुमान में भी यह अग्नि से सम्बद्ध हैं भले ही धुऑ के माध्यम से, जो परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध रखता है।[१५]

पुनश्च दिङ्नाग के अनुसार जिस वस्तु के 'प्रत्यक्ष' की बात वसुबन्धु करते है वह वस्तु भी तो अनामिक है। वस्तुएँ परमाणुओ से निर्मित हैं तो अत्यन्त सूक्ष्म और अदृश्य हैं अतः उन परमाणुओं के संघात से निर्मित वस्तु उस रूप में नहीं दिखाई पड़ सकती जिस रूप में वह प्रतीत हो रही है। पुनश्च परमाणु इतने सूक्ष्म हैं कि इन्द्रियों द्वारा उनका संज्ञान हो ही नहीं सकता। उदाहरण के लिए यदि हम किसी वस्तु 'नीला कमल' का संज्ञान करते हैं तो यह संज्ञान या रुपज्ञान किसी विशेषता या वर्ण उदाहरण के लिए नील कमल का नहीं अपितु 'नील कमलत्व' का है जो एक सामान्य लक्षण है और विशेष वस्तु जो अकारण है वह अकारणत्व और अनभिलाप्य है अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि जो वस्तु हमारे प्रत्यक्ष का विषय है पर वही वस्तु है जिसका हम संज्ञान कर रहे हैं। अतः वसुबन्धु की यह परिभाषा अग्राह्य और अस्वीकार्य हैं। पुनश्च दिङ्नाग

के अनुसार वसुबन्धु के प्रत्यक्ष के लक्षण पर न्यायदर्शन का प्रभाव दीख पडता है और स्वतः उनके विज्ञप्तिमात्रता सिद्धान्त के विरुद्ध है। उनके दर्शन के अनुसार बाह्यार्थ का अस्तित्व ही नहीं तो उससे 'विज्ञान' का निःसरण निरर्थक जान पडता है।[१६]

किन्तु दिङ्नाग द्वारा वसुबन्धु के 'प्रत्यक्ष' के लक्षण की उपर्युक्त आलोचना निराधार और पक्षपातपूर्ण है। बाह्यवादी न्यायदर्शन के विरोध के आवेश में आकर वसुबन्धु के प्रत्यक्ष–लक्षण का समुचित मूल्याकन नहीं किये। वे यह भूल गए कि वसुबन्धु ने प्रत्यक्ष का लक्षण करते समय कणाद, गौतम और असंग द्वारा परम्परागत की जाने वाली प्रत्यक्ष की परिभाषा का, जिसमें इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष का अवश्य पुट रहता है, को तिलांजलि दे दी है क्योंकि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष मानस प्रत्यक्ष एवं योगि प्रत्यक्ष में लागू नहीं होता क्योंकि वह इन्द्रिय–सन्निकर्ष का प्रश्न ही नहीं उठाता।[१७] पुनश्च जो और भी महत्वपूर्ण बात है वह यह है कि बौद्धचिन्तन सारणी में इन्द्रिय संज्ञान के स्वरूप में आती ही नहीं अतः वह प्रमाण या संज्ञान का साधन कैसे हो सकती है? अतः इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष के लक्षण से निकाल कर वसुबन्धु ने ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण योगदान किया है।[१८] प्रत्येक दार्शनिक की कुछ मान्यताएं होती हैं उनको आधार मानकर वह वस्तुओं के स्वरूप का विवेचन करता है और उसी मान्यता के आधार पर उनका लक्षण करता है। दिङ्नाग को यह कैसे मालूम कि वस्तुओं के विषय में उनकी जो धारणा है वह ही सही है। क्या उनका सिद्धान्त 'वस्तुएं परमाणुओं से निर्मित हैं अथवा उन परमाणुओं का पुञ्ज हैं,' जो अत्यन्त सूक्ष्म निरवयव और चक्षुरीन्द्रिय के दृष्टि के परे है।[१९] जैसा कि पहले विवेचन किया जा चुका है वसुबन्धु ने वैशषिक के इस सिद्धान्त का खण्डन कर दिया है कि वस्तुएं सूक्ष्मतम और अदृश्य परमाणुओं से निर्मित हैं अतः संज्ञेय वस्तु को परमाणुओं से निर्मित मानकर फिर उनका खण्डन करना हास्यास्पद नहीं अपितु अक्षम्य अपराध है। पुनश्च वसुबन्धु द्वारा प्रत्यक्ष का लक्षण में 'अर्थ' का समावेश बहुत ही उपयुक्त है। प्रत्यक्ष वस्तु के सन्निकर्ष से ही उत्पन्न होगा। वह वस्तु चाहे परिकल्पित हो, परतन्त्र हो, परिनिष्पिन्न हो अथवा वस्तु के स्वरूप के प्रति किसी भी प्रकार की अवधारणा क्यों न हो। प्रत्यक्ष वस्तु से उत्पन्न होगा न कि वन्ध्यापुत्र, आकाशकुसुम अथवा शशश्रृंग से। अतः वसुबन्धु द्वारा 'अर्थ' शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में हुआ है जो 'अर्थ' सम्पूर्ण सम्प्रत्यय को अपने में समाहित करने में समर्थ है।

वसुबन्धु एक सच्चे बौद्ध दार्शनिक की भाँति विज्ञप्तिमात्रता के अतिरिक्त सभी वस्तुओं को क्षणिक मानते है। अतः वे संज्ञेय वस्तु को भी क्षणिक मानते हैं और उनकी यह मान्यता है कि संज्ञान की प्रथम अवस्था में हमें वस्तु का अस्पष्ट बोध होता है। हमें यह तो बोध होता है कि हमने कुछ देखा है किन्तु हमने क्या देखा इसका संज्ञान दूसरे क्षण होता है। अतः प्रथम क्षण में प्रत्यक्ष निर्विकल्प और अविधेय होता है। सिल की भाषा में यह मात्र 'वह' की अवस्था है। इस अवस्था में चिन्तन की कोटियाँ अपना कार्य नहीं कर रही है यहाँ हम यह नहीं कह सकते कि यह क्या है? किन्तु दूसरे क्षण हम प्रथम क्षण की अनुभूति को 'यह वह है' पर 'नील कमल है' अथवा 'यह श्यामा गाय' है, ऐसा कह सकते हैं। रसल के शब्दों में यह 'वह' की अवस्था है। यहॉ हम अपने विचारों के भाषा के माध्यम से चिन्तन की कोटियों में ढाल कर यह कह सकते हैं कि 'यह अमुक वस्तु है।'

वसुबन्धु की यह परिभाषा भगवान् बुद्ध के वचन के अनुकूल है– 'चक्षुर्विज्ञान संमगी नीलं विजनातिनोतु नीलम् इति'।[20] किन्तु यह पदार्थ नील हैं ऐसा नहीं जानता अर्थात् निविर्कल्प चक्षुर्विज्ञान में नील का स्पष्ट आभास होता है। वस्तु की नीलता के बारे में चक्षुर्विज्ञान को कोई भ्रान्ति नहीं है अर्थात् नील के बारे में वह अभ्रान्त है। इसलिए 'नीलं विजानाति' यह कहा है। किन्तु उस ज्ञान में शब्द या चिन्तन की कोटियों का संयोग नहीं है अर्थात् वह निर्विकल्प ज्ञान मान से अनुविद्ध नहीं है। नाम का संयोग तो केवल कल्पना में ही होता है अतः चक्षुर्विज्ञान कल्पना से रहित है।[21]

दिङ्नाग ने वसुबन्धु की प्रत्यक्ष विषयक परिभाषा का खण्डन कर एक नई परिभाषा दी, जिसके अनुसार प्रत्यक्ष कल्पना रहित तथा नाम जात्यादि रहित है–

'प्रत्यक्षं कल्पना पोढं नामजात्याद्यसंयुतम्।[22]

दिङ्नाग के अनुसार प्रत्यक्ष की अवस्था में दृश्य वस्तु अपने मूलरुप में प्रकट होती है। इस अवस्था में द्रष्टा को मात्र यह बोध होता है कि वह किसी वस्तु को देख रहा है किन्तु वह वस्तु क्या है उसमें कौन सी विशेषताएं हैं इसका ज्ञान नहीं होता। इस परिभाषा के अनुसार रस्सी में साँप और अश्व के प्रत्यक्ष में तनिक भी भेद नहीं क्योंकि दोनों ही कल्पना की सृष्टि हैं। उदाहरण के लिए जब यही अश्व देखते हैं और कहते हैं कि 'यह लाल है' या 'यह काला है' तो हम यह सोचते हैं कि यह प्रत्यक्ष है किन्तु वस्तुतः यह प्रत्यक्ष नहीं है। यह अश्व की सामान्य विशेषताओं का

वर्णन है जो अन्य अश्वों में भी पाई जाती हैं किन्तु प्रत्यक्ष का विषय एक विशेष अश्व (सलक्षण) है, जिसकी किसी दूसरे अश्व से तुलना या अनुरुपता नहीं की जा सकती। हमें न तो किसी जाति में सम्बद्ध किया जा सकता है और न ही नाम दिया जा सकता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इस अवस्था में वस्तु का तनिक भी ज्ञान नहीं होता। स्वसम्वित रुप होने के कारण कल्पना की वर्गणाओं के अभाव में भी 'प्रत्यक्ष' दृश्य वस्तु को उसका स्वलक्षणत्व प्रदान करता है 'विषयस्वरुपानुविधाथि परिच्छेदकम् आत्मसंवेदकं प्रत्यक्षणम्।'[२३]

उद्योतकर और कुमारिल आदि आचार्यों ने दिङ्नाग के उपर्युक्त लक्षण की कटु आलोचना की है। उनके अनुसार यह लक्षण दिङ्नाग के दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध है। दिङ्नाग के अनुसार समान्य, क्रिया, गुण, द्रव्य और गति आदि वर्गणाओं का वास्तविक अस्तित्व नहीं है। ये मात्र मानसिक संरचनाएं हैं। यदि इनके अस्तित्व को स्वीकार किया जाए तो दिङ्नाग और बाह्य वस्तुवादी दार्शनिकों के दर्शन में अन्तर ही क्या रह जाएगा।[२४] पुनश्च इस लक्षण को स्वीकार करने पर क्रिया का लोप हो जाएगा और क्रिया के अभाव में जगत् का कार्यकलाप रुक जाएगा। मनुष्य कोई कार्य तभी करता है जबं उसे यह आशा होती है कि किसी कार्य के करने से उसे लाभ होगा अथवा न करने से हानि होगी। दिङ्नाग का प्रत्यक्ष निर्विकल्प है अतः इस अवस्था में हम यह जानने में असमर्थ हैं कि कोई वस्तु वह वस्तु है अथवा नहीं है।

दिङ्नाग के अनुयायी शान्तरक्षित और कमलशील के अनुसार उपर्युक्त दोनों ही आपत्तियाँ निराधार हैं। दिङ्नाग ने अपने लक्षण में बाह्य वस्तुवादी और बौद्ध दोनों ही दार्शनिकों के सिद्धान्तों को स्थान देने का प्रयत्न किया है जो क्रमशः यह जानते हैं कि बुद्धि विकल्प जाति तथा नाम से युक्त हैं।[२५]

दूसरी आलोचना भी निराधार है 'कल्पनापोढत्व' से क्रिया के कार्यकलाप को तनिक भी ऑच नहीं आती। जब हमें किसी वस्तु का इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है तो वह अपने समस्त सजातीय एवं विजातीय वस्तुओं से भिन्न प्रत्यय रुप में होता है। वह उसी क्षण कुछ विध्यात्मक और कुछ निषेधात्मक संप्रत्ययों से युक्त होता है। उदाहरण के लिए जब हम अग्नि को देखते हैं उस समय हमें न केवल अग्नि का बोध होता है अपितु यह भी बोध होता है कि यह टार्च, विद्युत, गैस आदि नहीं है और न तो यह पुच्छगुच्छ, आम्रफल, अमरुद आदि है।[२६]

धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग की प्रत्यक्ष की परिभाषा को उपर्युक्त आलोचनाओं से बचाने के लिए और उसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए उसमें से 'नामजात्याद्यसयुतम्' को हटाकर 'अभ्रान्तम्' जोड दिया और प्रत्यक्ष की परिभाषा इस प्रकार की–

प्रत्यक्षं कल्पनापोढम् अभ्रान्तम्।

प्रश्न उठता है कि धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अभ्रान्त' क्यों जोड़ा? क्या यह दिङ्नाग के दर्शन पर विकास का द्योतक हैं? कमलशील के अनुसार दिङ्नाग के अनुयायियों में यह धारणा व्याप्त थी कि भ्रममात्र मानसिक कारणों से होता है। इस धारणा को चुनौती देने के लिए[27] प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अभ्रान्तम्' जोडना अनिवार्य था। यदि भ्रममात्र मानसिक कारणों से हमे हो तो भी 'अभ्रान्तम्' को प्रत्यक्ष की परिभाषा में जोड़ना व्यर्थ नहीं क्योंकि इस परिभाषा का उद्देश्य न केवल इन्द्रियप्रत्यक्ष अपितु योगिक प्रत्यक्ष, स्वप्न मात्र अनुभूतियों को भी समाहित करना है, जो विशुद्ध रुप से मानसिक घटनाएं हैं।[28] हमारे प्रत्येक ज्ञान में संप्रत्यात्मक अथवा मानसिक पुट अवश्य रहता है अतः इस विशेषण के अभाव में प्रत्यक्ष से किसी वस्तु का स्पष्ट ज्ञान संभव नही।[29]

वस्तुतः धर्मकीर्ति और उनके शिष्यों का उद्देश्य इस विशेषण को प्रत्यक्ष के लक्षण में जोड़कर 'प्रत्यक्ष' को उन दोषों से मुक्त करना था जो रंग–सन्धता, रेलगाडी, जहाज, वायुयान आदि द्रुतगामी यानों की यात्रा, सन्निपात, रोग, विभ्रम और अन्य मानसिक और ऐन्द्रिय भ्रान्तियों से उत्पन्न होते हैं।[30]

उपर्युक्त प्रत्यक्ष की परिभाषाओं पर विचार करने के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुॅचते हैं कि देखने में भले ही सरल प्रतीत हो किन्तु प्रत्यक्ष की परिभाषा का समुचित निरुपीकरण अत्यन्त कठिन है। वसुबन्धु, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति जैसे दिग्गज आचार्यो ने प्रत्यक्ष की परिभाषा करने की भरपूर कोशिश की किन्तु कोई भी ऐसी परिभाषा न कर सका जो समालोचक की समालोचन द्वारा आहत न हुआ हो। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त परिभाषाओं में वसुबन्धु कहीं अधिक तथ्य के नजदीक हैं क्योंकि 'प्रत्यक्ष' की कोई परिभाषा की जाए उसे 'अर्थसन्निकर्ष' अवश्य होना चाहिए और इस दृष्टि से वसुबन्धु बहुत अधिक समीचीन प्रतीत होते हैं यदि प्रत्यक्ष की परिभाषा में अर्थ के साथ इन्द्रिय और मन को और अधिक जोड़ दिया जाए तो प्रत्यक्ष की परिभाषा और अधिक उपयुक्त होगी–

इन्द्रिय मनोऽर्थात् सन्निकर्षोत्पन्नं विज्ञानं प्रत्यक्षम्।

अनुमान

जैसे कि पहले कहा जा चुका है सौत्रान्तिक दार्शनिक ज्ञान के दो ही स्रोत मानते हैं प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्ष के निरुपण करने के बाद अब हम अनुमान का निरुपण करेंगे–

न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार 'प्रत्यक्ष प्रमाण' से ज्ञात हुए 'लिंग' द्वारा अर्थ के पीछे से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को 'अनुमान' कहते हैं।[31] 'अग्नि' का ज्ञान, 'धूम' ज्ञान के पश्चात् होने के कारण वह 'अनुमिति' रुप है अर्थात् 'अनुमान' प्रमाण के फलस्वरूप 'अनुमिति' का ज्ञान होता है।

वात्स्यायन के अनुसार यह 'अनुमानप्रमाण' प्रत्यक्ष तथा आगम के आश्रित रहता है। इसे अन्वीक्षा भी कहते हैं क्योंकि यह 'प्रत्यक्ष' तथा 'आगम' के द्वारा 'ईक्षित अर्थ' का अन्वीक्षण करता है। जो अनुमान 'प्रत्यक्ष' तथा आगम के विरुद्ध होतां है, उसे 'न्याय' न कहकर 'न्यायभास' कहते हैं।[32]

'लिंगपरामर्शः अनुमानम्' इस अनुमानलक्षण में 'लिंग' एवं 'परामर्श' दो शब्द हैं। उनमें 'व्याप्ति' के बल पर जो अर्थ का बोधक हो उसे लिंग कहते है।[33] व्याप्ति शब्द का अर्थ है– साहचर्यनियम। 'यत्र–यत्र धूमस्ततत्रतत्र वर्हिनः– जहाँ-जहॉ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है– इस साहचर्य नियम या व्याप्ति के बल पर अर्थ का जो बोधन करता है उसे 'लिंग' कहते हैं। जैसे धूम बह्नि का लिंग है क्योंकि पर्वतादि स्थानों में धूम को देखकर 'यत्र–यत्र धूमो भवति, तत्र–तत्र बह्निर्भवति' इस साहचर्य नियम अथवा 'व्याप्ति' के आधार पर 'अप्रत्यक्ष बह्नि' का ज्ञान होता है इसलिए धूम को बह्नि का लिंग कहते हैं। लिंग शब्द की व्युत्पत्ति 'लीनमप्रत्यक्षमर्थ गमयति इति लिगम्' होती है। इसे हेतु भी कहते हैं। साहचर्य का अर्थ है– साथ–साथ रहना।[34] किन्तु केवल साहचर्य मात्र को व्याप्ति नहीं कहते हैं। व्याप्ति के लिए अनौपाधिक सम्बन्ध आवश्यक है अर्थात् हेतु और साध्य दोनों का साथ–साथ रहना। धूम कभी भी बह्नि के बिना नहीं रहता। इसे 'अविनाभावसम्बन्ध' भी कहते हैं। जो पदार्थ किसी का 'अविनाभावी' है अर्थात् उसके बिना नहीं रहता है, उसे 'व्याप्त कहते हैं। जैसे धूम कभी भी और कहीं भी अग्नि के बिना नहीं रहता है इसलिए धूम अग्नि से व्याप्य में रहती

है। जिसमें 'व्याप्ति' रहती है उसे 'व्याप्त' कहते हैं और जिसकी व्याप्ति रहती है उसे व्यापक कहते हैं। धूम का अग्नि के साथ नियत साहचर्य है अर्थात् व्याप्ति है।

तात्पर्य यह है कि जिस स्थान पर 'धूम' का जन्म होता है उस स्थान पर 'अग्नि' अवश्य रहता है। धूम में अग्नि के साथ ही रहने का जो नियम है, वही व्याप्ति है। उस व्याप्ति का ज्ञान (ग्रहण) होने पर ही 'धूम' अग्नि का गमक होता है अर्थात् धूम अग्नि का बोधक होता है। अतः व्याप्ति के बल से अग्नि का अनुमापक (गमक) होने के कारण 'धूम' को अग्नि का 'लिंग' कहते हैं।

धूम एवं अग्नि का तो स्वभाविक सम्बन्ध है अर्थात् "जहाँ–जहाँ धुआ है वहॉ–वहॉ अग्नि हैं"[35] ऐसा कह सकते हैं किन्तु इसके विपरीत "जहॉ–जहाँ आग है वहाँ–वहॉ धुआ है"[36] ऐसा नहीं कह सकते। ऐसा कहने पर व्याप्ति सम्बन्ध नहीं स्थापित हो सकता क्योंकि लोहे के गोले को लाल (गरम) कर देने पर वह 'अग्नि' रुप तो है, किन्तु वहाँ 'धूम' कहॉ हैं? यानी 'धूम' नहीं है। बिजली के बल्ब में गैस के चूल्हे मे 'अग्नि' तो है किन्तु 'धूम' नही है। अतः जहाँ–जहॉ आग वहाँ–वहाँ धुआ है, यह स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है अपितु 'औपाधिक' सम्बन्ध है।

जैसे व्याप्ति का ज्ञान न रहने पर अनुमिति नहीं होती, उसी प्रकार व्याप्ति का विस्मरण हो जाने पर भी अनुमिति नहीं होती। अतः व्याप्तिस्मरण को भी अनुमिति के होने में कारण माना जाता है। इसलिये पर्वत पर जो धूमदर्शन हुआ, उससे पूर्वग्रहीत व्याप्ति की स्मृति जागृति हुई, तब 'महानसम्– जो–जो धूम का आश्रय होता है, वह–वह अग्नि का आश्रय होता है, जैसे महानस।'[37] इस प्रकार धूम में अग्नि की व्याप्ति का स्मरण हो आता है। इस रीति से पक्ष (पर्वत) पर धूमदर्शन, उस धूमदर्शन से पूर्वगृहीत व्याप्ति का स्मरण हो जाता है, तब पक्ष (पर्वत) में 'अग्निव्याप्यधूमवॉश्रयम् पर्वतः' अग्नि से व्याप्त धूम वाला यह पर्वत है– इस प्रकार 'अग्निव्याप्यधूम' का जो तृतीय ज्ञान है, उसी से 'अग्नि' का अनुमान होता है अर्थात् लिंग (हेतु) का तृतीय ज्ञान ही 'अग्नि' का अनुमापक होता है, अन्य ज्ञान नहीं। उस 'तृतीय ज्ञान' को ही अनुमान और लिंगपरामर्श कहते हैं। इस विवेचन से यह निश्चय हो जाता है कि लिंग, परामर्श ही अनुमान है।

अनुमान प्रक्रिया

अभी तक किये गये विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैध अनुमिति' को उत्पन्न करने के लिये निम्नलिखित चार बातों का होना इस प्रकार है– व्याप्तिग्रहण, पक्षता (साध्यसंदेह), व्याप्तिस्मरण एवं पक्षधर्मता (हेतु की पक्ष में स्थिति)। अब चारों का किंचित विवेचन आवश्यक है।

१. व्याप्ति ग्रहण (व्याप्ति का निश्चय) के पूर्व महानस में होने वाला जो धूमज्ञान है उसे प्रथम लिंग, ज्ञान कहते है। उससे अग्नि का अनुमान नहीं होता क्योंकि उस समय तक व्याप्ति का निश्चय नहीं हो पाया है।

२. व्याप्तिग्रहण (व्याप्तिनिश्चय) के बाद भी महानस में जो 'धूम' (लिंग) ज्ञान हो रहा है, वह भी अग्नि का अनुमापक नहीं हो सकता क्योंकि महानस में 'अग्नि' का संदेह नही है, 'अग्नि' तो वहाँ प्रत्यक्ष है, जहाँ साध्य (अनुमेय) की सत्ता में संदेह रहता है, वहीं अनुमान किया जाता है। महानस में 'अग्नि' की सत्ता संदिग्ध नहीं है।

३. महानस में व्याप्ति निश्चय कर लेने के बाद जब वह पर्वत के समीप जाता है और धूम का दर्शन करता है, इसी 'धूमज्ञान' को द्वितीय ज्ञान कहते हैं। इस 'द्वितीय ज्ञान' से भी अग्नि की अनुमिति नहीं होती। यद्यपि वहाँ पर्वत पर साध्य की सत्ता का 'साधक या बाधक' प्रमाण न होने से 'साध्य' की सत्ता में संदेह है और धूमाग्नि को व्याप्ति का निश्चय भी हो चुका है, तथापि पर्वत के पास पहुँच कर 'व्याप्ति' का स्मरण नही हो पा रहा है इसलिये उस मनुष्य को अनुमिति ज्ञान नहीं हो पा रहा है– क्योंकि अनुमिति ज्ञान के होने में 'व्याप्तिग्रहण' होने पर भी बाद में यदि वह व्यक्ति उस 'गृहीत व्याप्ति' को भूल जाता है तो उसे अनुमिति नहीं हो पाती।

४. व्याप्तिस्मृति होने के बाद जब लिंग का तृतीय ज्ञान– 'अग्नि से व्याप्त धूम इस पर्वत पर विद्यमान है'– होता है, तभी उसे अनुमिति होती है। इस 'तृतीय लिंग ज्ञान' को ही लिंगपरामर्श कहते हैं और इसी को अनुमान कहते हैं।

उपर्युक्त समस्त अंगों को दो अंगों के अन्तर्गत रख सकते हैं– एक व्याप्ति एवं दूसरी पक्षधर्मता। अतएव परामर्श का लक्षण– 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं' अथवा व्याप्तिविशिष्ट वैशिष्ट्यावगाहिज्ञान[३९] किया गया है। इसे लिंग का तृतीय ज्ञान[४०] भी कहा गया है।

और वह अनुमान दो प्रकार का है–

एक स्वार्थानुमान एव दूसरा परार्थानुमान।[४१]

स्वयं के ज्ञान का हेतुभूत जो अनुमान होता है, उसे स्वार्थानुमान कहते है। जैसे– पर्वतगत अग्नि का संदेह होने पर पर्वत से निकलती हुई अविच्छिन्नमूला धूमरेखा को देखने. पर पूर्वगृहीत धूमाग्निव्याप्ति के संस्कार जगते हैं। उस कारण धूमाग्नि की व्याप्ति का उसे स्मरण हो जाता है। तब 'इस पर्वत पर धूम हैं।'– इस प्रकार से बह्निव्याप्त धूम का ज्ञान उसे होता है। यही 'धूमज्ञान' तृतीयज्ञान है। इससे वह स्वयं समझ लेता है कि इस पर्वत पर भी अग्नि है। यही स्वार्थानुमान है।[४२]

जब कोई व्यक्ति स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करके, उसे अनुमति अग्नि का ज्ञान किसी अन्य मनुष्य को कराने के लिये पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग करता है तब उसे परार्थानुमान कहते हैं।[४३] अनुमान वाक्य के प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन ये पॉच अवयव है।[४४] निम्नलिखित उदाहरण द्वारा भलीभाँति इसे समझाया जा सकता है–

१. प्रतिज्ञा– पर्वत अग्निमान् है। (पर्वत में आग है)।

२. हेतु– धूमवत्वात् (क्योंकि वहाँ धुआँ है)।

३. उदाहरण– जहॉ–जहाँ धुऑ होता है वहाँ–वहाँ आग होती है जैसे रसोई घर।

४. उपनय– यह पर्वत भी उसी प्रकार धूमवान् है अर्थात् इस पर्वत पर भी उसी प्रकार धुआँ हैं।

५. निगमन– इसलिए वैसे ही रसोई घर की भाँति यह पर्वत भी अग्निमान् है अर्थात् यहाँ भी आग है।

जिन पाँच अवयव वाक्यों से परार्थानुमान[४५] किया जाता है। उन पाँचों के समूह को 'न्याय' कहते हैं, उपर्युक्त उदाहरण में–

१. प्रतिज्ञावाक्य– यह पहला अवयव है। इस अवयव वाक्य से पक्ष में साध्य के सम्बन्ध का ज्ञान होता है।

२. हेतुवाक्य– यह दूसरा अवयव है। इस अवयव वाक्य से 'हेतु' में साध्य की इस व्यापकता का बोध होता है।

३. उदाहरण वाक्य– यह तीसरा अवयव है। इस अवयव वाक्य से 'हेतु' में साध्य की व्याप्ति का बोध होता है।

४. उपनयन वाक्य– यह चौथा अवयव है। इस अवयव वाक्य से पक्ष मे साध्यव्याप्य हेतु के सम्बन्धों का (पक्षधर्मता का) बोध होता है।

५. निगमनवाक्य– यह पाँचवां अवयव है। इस अवयव से व्याप्ति और पक्षधर्मता से विशिष्ट हुए हेतु में अबाधितत्व एवं असत्प्रतिक्षत्व के बोध के साथ ही पक्ष में साध्य के सम्बन्ध का भी ज्ञान होता है।

परार्थानुमान के पॉच अवयवों में न्याय तथा वैशेषिक ग्रन्थों में कुछ भिन्नता पाई जाती है। न्यायसूत्र के अनुसार न्यायवाक्य के पाँचअवयव– प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन हैं। जिसका ऊपर विवेचन किया जा चुका है।[४६] किन्तु वैशेषिक सूत्र के अनुसार प्रतिज्ञा, उपदेश, निदर्शन, अनुसन्धान और प्रत्यात्मनाय– ये पाँच अवयव हैं।[४७]

उक्त अवयवों की संख्या में भी दार्शनिकों में मतभेद है। वात्स्यायन के पूर्ववर्ती प्राचीन नैयायिक दस अवयव मानते हैं। वात्स्यायन ने अपने न्यायभाष्य में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है– 'दशावयवानेकेनैयायिका वाक्ये संचक्षते– जिज्ञासा, संशयः, शक्यप्राप्तिः, प्रयोजनं, सशयव्युदासः इति।'[४८] भाष्यकार ने यही भी यह कह दिया है कि साधनवाक्य के दस अवयव नहीं होते हैं बल्कि प्रतिज्ञादि पाँच अवयव होते हैं। सांख्यदर्शनानुसार– प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त– ये तीन अवयव माने जाते हैं।[४९]

भाट्टमीमांसक भी तीन अवयव मानते हैं।[५०] प्रभाकर मीमांसक भी तीन अवयव को ही स्वीकार करते हैं। बौद्ध दार्शनिक 'उदाहरण' एवं 'उपनय' इन दो अवयवों को ही मानते हैं।

हेतु में पाँच विशेषतायें पायी जाती हैं। प्रथम, पक्षसत्व रूप, इसका अर्थ– पक्ष में रहना, यानी जहॉ पर (जिस धर्मी में) साध्य की अनुमिति करना है, उस धर्मी मे हेतु का रहना। उसी तरह हेतु का जो द्वितीय रुप सपक्षसत्व है, उसका अर्थ है– सपक्ष में रहना, अर्थात् जिस जगत (जिस धर्मी मे) साध्य के रहने का निश्चय हो, उन धर्मी में हेतु का रहना। तृतीय रुप विपक्षाऽसत्व का अर्थ है कि विपक्ष में न रहना अर्थात् जिस जगत (जिस धर्मी में) साध्य के अभाव का निश्चय हो, उस जगह में हेतु का न रहना। चतुर्थ रुप 'अबाधित्व' है, इसका अर्थ यह है कि पक्ष में साध्य का बोध न होना। हेतु के पञ्चम रुप जो असत्प्रतिपक्षत्व है, का अर्थ यह है कि 'सत्प्रतिपक्ष' का न होना अर्थात् जहॉ पर साध्य की अनुमिति कराने के लिये 'हेतु' का प्रयोग किया गया है उस जगह में 'साध्याभाव व्याप्य' का निश्चय न होना। जैसे– 'पर्वतो वाह्निमान धूमात्' कहने से यह समझ में आता है कि 'पर्वत' (पक्ष) पर अग्नि (साध्य) की अनुमिति कराने के निमित्त धूम (हेतु) का प्रयोग किया गया है। यह धूम (हेतु) उक्त पॉच रुपों से युक्त है। जैसे– वह धूमहेतु, पक्ष (पर्वत) पर रहने के कारण अपने 'पक्षसत्व' रुप से युक्त हैं उसी तरह 'सपक्ष' (महानस) में धूम रहता है, इसलिये अपने 'सपक्षसत्व' रुप से (धूमहेतु) युक्त है और 'विपक्ष' (जलह्रद, तालाबादि) में धूम हेतु कभी भी नहीं रहता, इसलिये अपने विपक्षाऽसत्व रुप से भी वह (धूम हेतु) युक्त है तथा पक्ष (पर्वत) में साध्य (अग्नि) का बाध नहीं हैं, इसलिये अपने अबाधित्व रुप से भी वह (धूमहेतु) युक्त है और पक्ष (पर्वत) में, 'साध्याऽभावव्याप्य' यानी अग्न्यभाव व्याप्य का निश्चय भी नहीं है, इसलिये अपने 'असत्प्रतिपक्षत्व रुप से भी वह (धूमहेतु) युक्त है। इस प्रकार पञ्चरुपोपन्नता 'धूम' हेतु में उपलब्ध होती है। इस कारण पंचरुपोपन्न हुआ 'धूम' हेतु पर्वतरुपी पक्ष पर अग्निरुप साध्य की अनुमिति कराने में समर्थ होता है।[51] किन्तु दार्शनिकों ने पॉच के स्थान पर अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी एवं केवलव्यतिरेकी मात्र हेतुओं को स्वीकार किया है।

वैशेषिक, सांख्य एवं बौद्ध इन तीन दर्शनों में हेतु की त्रिरुपता को ही स्वीकार किया गया है। वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य में हेतु (लिंग) की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि जो अनुमेय अर्थात् पक्ष से सम्बद्ध–पक्षसत् और तदन्वित अर्थात् सपक्ष में प्रसिद्ध–सपक्षसत् हो, और उसके अभाव अर्थात् विपक्ष में न हो– विपक्षव्यावृत्त हो, वही लिंग (हेतु) अनुमापक होता है। इस प्रकार पक्षसत्व, सपक्षसत्व एवं विपक्षव्यावृत्तत्त्व– ये तीन ही रुप (धर्म) हेतु के माने गये हैं।

प्रशस्तपादभाष्य में उल्लिखित उक्त कारिका से प्रतीत होता है कि अपने पूर्ववर्ती काश्यपाचार्य के मतानुसार इस त्रैरुप्यसिद्धान्त का विवेचन प्रशस्तपाद ने किया है। प्रो० शेरवात्स्की के अनुसार वैशेषिकों पर बौद्ध–दर्शन का प्रभाव होने के कारण उन्होंने त्रैरुप्य का सिद्धान्त अपनाया है।[५२] बौद्धो के अभिधर्मकोश प्रमाणसमुच्चय, न्यायप्रवेश, न्याय–बिन्दु,[५३] हेतुविन्दु[५४] और तत्वसंग्रह[५५] आदि सभी ग्रन्थों में त्रैरुप्य सिद्धान्त का ही समर्थन किया गया है एवं पंचरुपता के न्यायसिद्धान्त का खण्डन किया गया है। सांख्यकारिका की माठारवृत्ति में भी पंचकारिका की व्याख्या में इसी त्रैरुप्य सिद्धान्त का अनुमोदन किया गया है।

क्या अनुमान प्रमाण है?

क्या अनुमान प्रमाण है? इस प्रश्न को लेकर दर्शन जगत् में तीव्र मतभेद है। चार्वाक् दार्शनिकों के अनुसार अनुमान को सम्यक् ज्ञान का स्रोत नहीं माना जा सकता। उन्होंने अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित तर्क दिए हैं–

१. अनुमान त्रैरुप्यात्मक हेतु द्वारा सम्पन्न होता है जो मिथ्या (असंत्) सज्ञानों में भी विद्यमान हो सकता है अतः यह वांछित फल की उपलब्धि कराने में अक्षम है, अतः यह ज्ञान का प्रमाणिक स्रोत नहीं है।[५६]

२. त्रैरुप्य ऐसी भी अवस्थाओं में विद्यमान् हो सकता है जहाँ अनुमान संभव नहीं। जैसे कि द्वैरुप्य ऐसे भी उदाहरणों में मिलता है जिसमें अनुमान है ही नहीं। अतः हेतु के त्रैरुप्य द्वारा वैध अनुमान संभव नहीं है।[५७]

३. पुनश्च प्रत्येक अनुमान का खण्डन संभव है अतः अनुमान स्वभावतः द्वन्द्वात्मक है। उदाहरण के लिए यह वाद प्रस्तुत किया जा सकता है कि ध्वनि अनित्य है क्योंकि घट की भाँति यह उत्पाद्य वस्तु है किन्तु इसके विपरीत भी यह वाद रखा जा सकता है कि ध्वनि नित्य है किन्तु बौद्धनैयायिक वसुबन्धु और दिङ्नाग के अनुसार आगम स्वतंत्र प्रमाण न होकर अनुमान में ही अन्तर्निहित है[५८] क्योंकि यह शून्य की भाँति अशरीरी है।[५९]

४. पुनश्च अनुमान की प्रक्रिया पुनरुक्ति दोष से ग्रस्त है।[६०]

सर्वत्र साधनेऽनुमान विरोधः सम्भवति।
सर्वत्र च विरुद्धाव्यभिचारी संभवति।
अनित्यः शब्दः कर्तृकत्वात् घटवत्।
नित्यः शब्दः अमूर्तत्व आकाशवत्।। तत्वसंग्रहपञ्जिका, ६–१०
अनुवादत्वान् न प्रमाणम्। वही पृ० ४२६, पंक्ति २४–२५

प्रत्येक अनुमान में हेतु और साध्य के बीच व्याप्ति सम्बन्ध और उसका ज्ञान अनिवार्य है। उदाहरण के लिए धुऑ देखकर अग्नि का अनुमान तभी हो सकता है जब हमें यह निश्चित रुप से ज्ञात हो कि अग्नि में धुऑ व्याप्त है। इस व्याप्ति के ज्ञान के अभाव में कोई भी ज्ञान संभव नहीं। किन्तु यदि हम हेतु और साध्य के बीच इस व्याप्ति के ज्ञान के आधार पर अग्रसर होते हैं तो अनुमान द्वारा हमें कोई नवीन ज्ञान हुआ ही नहीं। यह तो मात्र ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नही। पुनश्च अनुमानात्मक ज्ञान की संरचना व्याप्ति सम्बन्ध पर आधारित है जैसा पहले कहा जा चुका है किन्तु इस प्रकार का ज्ञान निश्चित और असंदिग्ध तभी हो सकता है जब समस्त विश्व के सभी सम्बन्धों में होने वाली घटनाओं में धुआँ और अग्नि का नियतसाहचर्य सम्बन्ध देख सकें किन्तु किसी भी सामान्य प्राणी के लिए यह असंभव है कि वह निखिल ब्राह्माण्ड के धूम और अग्नि से सम्बन्धित घटनाओं का प्रत्यक्षीकरण कर सकें। अतः हेतु साध्य के नियतसाहचर्य के समस्त उदाहरणों का ज्ञान मानव ज्ञान की परिधि के परे होने के कारण अनुमान से निश्चित और असंदिग्ध ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता।[६१]

बौद्ध नैयायिकों ने उपर्युक्त सभी आपत्तियों को निराधार और निरर्थक बताया है। उनके अनुसार प्रथम आपत्ति निराधार है। ऐसा भी उदाहरण नहीं दिया जा सकता जहाँ मिथ्या संज्ञानों में त्रैरुप्यात्मक हेतु विद्यमान है।[६२] सम्यग् संज्ञान स्वतः सद्वस्तु (सलक्षण) से सम्बद्ध है जिसके फलस्वरुप त्रैरुप्यात्मक हेतु से हम वांछित फल की प्राप्ति नहीं कर सकते।[६३]

चार्वाक् दार्शनिकों की दूसरी आपत्ति भी निराधार है। वे एक भी ऐसा दृष्टान्त नहीं प्रस्तुत कर सकते जहाँ हेतु और साध्य के बीच त्रैरुप्यात्मक नियत साहचर्य सम्बन्ध हो और वहाँ अनुमान न हो।

चार्वाक् दार्शनिकों की अनुमान के विरुद्ध तीसरी आपत्ति गम्भीर है। यह अनुमान की संभावना पर ही प्रहार करती है और यह बताती है कि अनुमान स्वभावतः विरोधाभासपूर्ण है। दिङ्नाग और अन्य बौद्ध दार्शनिकों ने इस कमी की अनुभूति की है और उन्होंने इस प्रकार के हेतु को दुष्ट हेतु अथवा विरुद्धाव्यभिचारी हेतु[६४] कहा है जिसका शाब्दिक अर्थ ऐसा हेतु है जो विरुद्ध और अविरुद्ध दोनों ही एक साथ है। किन्तु दिङ्नाग तथा चार्वाक् दार्शनिकों के अनुमान सम्बन्धी दृष्टिकोण पर्याप्त विरुद्ध है। दिङ्नाग के अनुसार ऐसे कुछ हेतु हो सकते हैं जिनसे भ्रामक अनुमान किया जा सकता है किन्तु सभी हेतु ऐसे नहीं है अतः परीक्षण करके ऐसे हेतुओं से सतर्क करना चाहिए जो मिथ्या ज्ञान प्राप्त कराते हैं। ये हेतु नहीं अपितु हेत्वाभास हैं इसके विपरीत चार्वाक् दार्शनिकों के अनुसार समस्त अनुमान ही हेत्वाभासात्मक है अतः उससे प्रामाणिक ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। यहाँ दिङ्नाग की स्थिति कुछ काण्ट जैसी है जिन्होंने बुद्धि के विप्रतिषेध की ओर संकेत किया और यह घोषित किया कि बुद्धि स्वभावतः विप्रतिषेधात्मक है अतः उससे परम तत्व का बोध नहीं हो सकता है अतः उन्होंने बुद्धि के स्थान पर श्रद्धा पर बल दिया। इसके विपरीत दिङ्नाग ने बुद्धिमात्र को विप्रतिषेधात्मक नहीं कहा बल्कि इसके लिए समुचित स्थान निर्धारित किया और बुद्धि तथा भ्रमात्मक बुद्धि के बीच अन्तर स्पष्ट कर तर्क की उपदेयता को अक्षुण्ण बनाए रखा।[६५]

चार्वाक् दार्शनिकों की अनुमान के विरुद्ध चौथा तर्क कि यह किसी नूतन ज्ञान का वाहक नहीं, पुनरुक्ति दोष से ग्रस्त है। आधुनिक युग में जे० एस० मिल ने भी अनुमान या न्याय वाक्य के विरुद्ध ऐसी ही आपत्ति उठाई है। दिङ्नाग भी अनुमान के प्रचलित दृष्टिकोण के सम्बन्ध में ऐसी ही आपत्ति उठाते हैं किन्तु अपने अनुमान को इस दोष से मुक्त रखते हैं। उनके अनुसार अनुमान द्वारा न तो हम अग्नि का अनुमान लगाते हैं और न धुआँ तथा अग्नि के सम्बन्ध का क्योंकि ये तो पहले से ही ज्ञान हैं। यहाँ हम अग्नियुक्त स्थान अथवा अग्नियुक्त पर्वत का ज्ञान प्राप्त करते हैं जिसका ज्ञान पहले नहीं था। यह एक नूतन ज्ञान है जो दोष से सर्वथायुक्त है।[६६]

पाँचवा तर्क भी निराधार है। यह तर्क मिथ्या सामान्यीकरण पर आधारित है। चार्वाक् दार्शनिकों का यह कथन सही है कि अनुमानात्मक ज्ञान परिगणात्मक आगमन अथवा साम्यानुमान पर आधारित अनुमान पर नहीं स्थापित किया जा सकता किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता

कि नियतसाहचर्य अथवा अविनाभाव सिद्धान्त की संभावना ही नहीं है। धर्मकीर्ति के शब्दो में नियत साहचर्य का सिद्धान्त निरीक्षण अथवा अनिरीक्षण से नहीं समुद्भूत होता अपितु तादात्म्य और तदुत्पत्ति (कारणता) से समुद्भूत होता है जो ब्रह्मरुप हैं। ये सिद्धान्त अनुमान से नहीं उत्पन्न होते अपितु अनुभव की आधार शिला हैं। इनके अभाव में कोई अनुभव संभव ही नहीं। समस्त ऐन्द्रिक अनुभव इन्ही प्रागनुभविक सिद्धान्तों में उद्भूत होता है।[६७]

चार्वाक् दार्शनिकों द्वारा अनुमान के विरुद्ध समस्त आक्षेपों के युक्तिपूर्वक खण्डन से हम आसानी से इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्रत्यक्ष की भॉति अनुमान भी ज्ञान का एक स्वतन्त्र प्रमाण है। धर्मकीर्ति ने अनुमान की स्वतंत्र प्रमाणिकता को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित तीन तर्क दिए हैं जिनको न केवल बौद्ध दार्शनिकों ने अपितु वैदिक और जैन दार्शनिकों ने भी अपनाया है। ये तर्क हैं–

प्रथम– प्रत्यक्ष के विषयों की उत्पत्ति, अर्थ, वैधता और अवैधता को स्थापित करने के लिए हमें एक ऐसे प्रमाण की आवश्यकता हैं जो प्रत्यक्ष से भिन्न हैं और वह है अनुमान।

द्वितीय– अन्य व्यक्तियों के मस्तिष्क में समुद्भूत होने वाले, प्रत्ययों और उनके अभिप्राय या उद्देश्य को हम प्रत्यक्ष द्वारा नहीं जान सकते। इसके लिए हमें अनुमान की आवश्यकता है।

तृतीय– निषेधमूलक परामर्श इस बात को सिद्ध करते हैं कि अनुमान लायक भी कोई प्रमाण है क्योंकि प्रत्यक्ष में विधिमूलक परामर्श भले ही प्राप्त हो हम निषेधात्मक परामर्श या ज्ञान पर नहीं पहुँच सकते क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय हमारे समक्ष उपस्थित है। यह इन्द्रियों की परिधि में है। इसके विपरीत अनुपस्थित विषय इन्द्रियों के समक्ष है ही नहीं अतः इसका ज्ञान प्रत्यक्षाकार रूप में कैसे संभव है? इसका ज्ञान मात्र अनुमान द्वारा ही संभव है।[६८]

उपर्युक्त विवेचन से हम आसानी से इस सुनिश्चित निष्कर्ष पर पहुॅचते हैं कि प्रत्यक्ष की तरह अनुमान भी ज्ञान का स्वतन्त्र और विश्वासनीय प्रमाण है जिसका विषय बौद्ध नैयायिकों के अनुसार न तो प्रत्यक्ष का विषय है और न उसकी प्रतिबिम्ब या छाप है। यह प्रत्यक्ष के विषय में अत्यन्त और पूर्ण रुप से भिन्न है। प्रत्यक्ष का विषय ग्राह्य और स्वलक्षण है जब कि अनुमान का विषय अध्यवसेय (मानसिक संरचना) और सामान्य लक्षण है।[६९] और यही बौद्ध प्रमाण व्यवस्था है जिसके अनुमान और प्रत्यक्ष के विषय एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं और एक प्रमाण का विषय

दूसरे प्रमाण द्वारा ज्ञेय भी नहीं है। इसके विपरीत अन्य वैशेषिक आदि दार्शनिक प्रमाण सम्प्लव मे विश्वास करते हैं जिसके अनुसार एक प्रमाण का विषय अन्य प्रमाण द्वारा भी ज्ञेय और ग्राह्य है।

ज्ञान की प्रामाणिकता के सिद्धान्त

जैसा कि पिछले अध्यायों में निरुपण किया गया है कि वसुबन्धु और उनके अनुयायियों के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान मात्र ये ही दो प्रमाण ज्ञान के साधन या स्रोत हैं जिनके माध्यम से प्रमाणिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु क्या इन प्रमाणों से प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है? सन्देहास्पद है क्योंकि इन्दिंयाँ हमें प्रायः धोखा देती हैं, हम रस्सी को साँप समझ बैठते हैं और मृगमरीचिका को जल। अतः प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष प्रमाण से दूषित होने के कारण हमे गन्तव्य या यथार्थ ज्ञान तक नही पहुॅचा सकता। यही बात अनुमान पर भी लागू होती है। हेतु दोषपूर्ण हो सकते हैं अतः हेत्वाभास (हेतुओं के दूषित होने के कारण) अनुमान से यथार्थ ज्ञान की सम्भावना पूर्ण रुप से असंदिग्ध नहीं। अतः प्रत्यक्ष और अनुमान से उद्भूत ज्ञान यथार्थ ज्ञान है या नहीं जिस वस्तु का हम संज्ञान कर रहे हैं यह वही वस्तु है या नहीं, इसके परीक्षण के लिए भारतीय ज्ञान मीमांसकों ने नैयायिकों, वैशेषिकों, मीमांसकों तथा बौद्ध दार्शनिकों यथा सौत्रान्तिकों और योगाचार विज्ञानवादियों ने कतिपय सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया, जिनका विवेचन इस प्रकार है–

प्रथम– नैयायिक, मीमांसक और वैशेषिक दार्शनिकों के अनुसार जब वस्तु चेतना या विज्ञान के सानिध्य में आती है तो उसमें एक "विशेष गुण का प्रादुर्भाव होता है।" इस विशेष गुण के कारण ही हमें उस वस्तु का स्पष्ट बोध होता है।

द्वितीय– सौत्रान्तिक दार्शनिकों के अनुसार यह स्पष्ट बोध तब उत्पन्न होता है जब प्रत्यक्ष के विषय और प्रत्यक्षकर्त्ता की चेतना में विद्यमान उस विषय के आकार में सारूप्य होता है।

तृतीय– योगाचार विज्ञानवादी दार्शनिकों के अनुसार चेतना के अतिरिक्त बाह्य जगत में विषय का अस्तित्व है ही नहीं अतः विषय और विषयाकार के सारूप्य का प्रश्न ही नहीं उठता। विषय का स्पष्ट बोध अनादि वासना[90] के कारण होता है। इसी के फलस्वरूप चेतना में स्थित विषय का आकार बाह्य जगत में विषय के रूप में प्रतीत होता है।

इन तीनों सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन अपेक्षित है। हम सर्वप्रथम वस्तुवादी दृष्टिकोण से इस सिद्धान्त का निरुपण करेंगे।

१. वस्तुवादी सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान वास्तविक सम्बन्धों पर निर्भर है। ज्ञान की प्रक्रिया में निम्नलिखित घटकों का होना आवश्यक है–

ज्ञाता (विषयी), विषय, ज्ञान का साधन और ज्ञान की प्रक्रिया। उदाहरण के लिए यदि हम किसी वृक्ष को काटना चाहें तो निम्नलिखित घटक आवश्यक है– काटने वाला वृक्ष जिसे काटा जाएगा, 'कुल्हाडी' जिससे काटा जाएगा और काटने की प्रक्रिया। इसी प्रकार किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के समय ज्ञाता ज्ञेय वस्तु, ज्ञान के साधन और ज्ञान की प्रक्रिया का होना आवश्यक है। इस मत के अनुसार चेतना में किसी वस्तु का आकार नहीं रहता। जब वह वस्तु चेतना के सम्पर्क में आती है तो वस्तु में ज्ञातता नाम का एक विशेष गुण उत्पन्न हो जाता है। इसी से उस वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है। वस्तु की संज्ञा समाप्त होने पर वह 'गुण' भी दृष्टि से ओझल हो जाता है। प्रशस्तपाद के अनुसार किसी वस्तु में विशेष गुण का आविर्भाव वस्तु और चेतना में मात्र सारुप्य के कारण नहीं होता अपितु वस्तु मे निहित (समुद्भूत) विशेष गुणों के कारण होता है। कुमारिल का भी यही मत है। उनके अनुसार किसी संज्ञान की वैशिष्ट्य इस बात में है कि वह पहले कभी न जानी गई वस्तु का बोधक है।[७१] वस्तुतः 'चेतना' प्रकाश की भाँति शुभ और निर्मल है।[७२] उसमें आकार का सर्वथा अभाव है। वस्तु का अव्यवहित ज्ञान नहीं होता। समस्त ज्ञान व्यवहित है जिसका अनुमान वस्तु में समुद्भूत गुण 'ज्ञातता' के द्वारा होता है।

बौद्ध दार्शनिकों ने 'ज्ञातता' सिद्धान्त पर आपत्ति की है। उनके अनुसार किसी वस्तु के संज्ञान के समय ज्ञातता का संज्ञान नहीं होता। यदि यह वस्तु का गुण होता तो वस्तु के संज्ञान के साथ इसका भी संज्ञान होता जैसा कि किसी नील पुष्प के संज्ञान के समय उसके नीले रंग का भी संज्ञान होता है। वस्तुवादी इस आपत्ति का निराकरण करते हुए कहता है कि ज्ञातता अथवा अर्थप्रकाश का विज्ञान से स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वस्तुतः यह विज्ञान-स्वरुप है। जिस प्रकार प्रकाश स्वयं प्रकाश होता है उसे आत्म संज्ञान के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार विज्ञान भी स्वयं प्रकाश है। उसे आत्मबोध के लिए किसी अन्य विज्ञानेतर वस्तु की आवश्यकता नहीं है। किन्तु बौद्ध दर्शनिक को यह उत्तर संतोषजनक नहीं प्रतीत होता। उसके अनुसार 'विज्ञान' और 'विज्ञेय' के मध्य वस्तुविद सम्बन्ध मानने पर कुछ अपरिहार्य निष्कर्ष सामने

आएंगे। उदाहरण के लिए जाना और ज्ञेय का संबंध साधन (प्रमाण) और साध्य (प्रमेय) का सबध।[७३] किन्तु बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार ज्ञाता और ज्ञेय का संबंध वास्तविक नही, यह मात्र प्रचलन है। हमारे प्रत्ययों अथवा विचारों को अभिव्यक्त करने का सरल अथवा प्रचलित माध्यम है। विभक्त होता ज्ञेय और ज्ञान की कोटियों में मिश्रित जगत् अथवा विषयिनिष्ठ–परतन्त्र और परिकल्पित प्रत्यक्ष मात्र त्रिविध जगत् प्रत्यय मात्र हैं जो संज्ञाताओं में विद्यमान् प्रतीत्यसमुत्पाद की कारणता श्रृंखला की कड़ियों की भिन्नता के कारण भिन्न–भिन्न प्रतीत होता है।[७४] अनादिवासना की जब तक निवृत्ति नहीं होती तब तक जगत् का अस्तित्व भी बना रहता है। प्रज्ञापारमिता का दर्शन होते ही इसका भी अन्त हो जाता है। प्रत्येक संज्ञान मात्र संज्ञान है उसमें ग्राह्य और ग्राहक का भेद नहीं है। जिस प्रकार वन्ध्यापुत्र, शशश्रृंग और आकाशकुसुम के संज्ञान कल्पनामात्र हैं वास्तविक नहीं, उसी प्रकार जगत् की अन्य वस्तुओं के संज्ञानों को भी समझना चाहिए। अतः प्रमाता और प्रमेय के भेद परिकल्पित हैं।[७५] दैनिक जीवन के अनुभवों से भी इसी बात की पुष्टि होती है। एक ही वस्तु को अनेक नामों से पुकारा जाता है। उदाहरण के लिए– धनुष भेदन करता है, वह धनुष से भेदन करता है और धनुष से निस्सृत बाण भेदन करता है। उपर्युक्त उदाहरणों में एक ही धनुष को कर्त्ता, करण और अपादान कहा गया है। अतः कर्त्ता, कारण और फल के भेद कल्पित है।[७६] अतः चेतना ग्रहण करती है अथवा संज्ञान स्वयं प्रकाश है आदि वाक्यों का यह अर्थ नहीं है कि वे उस अर्थ में ग्राहक अथवा संज्ञाता हैं जिस अर्थ में हम रंग के संग हैं। इसका अर्थ मात्र यह है कि यह स्वयं प्रकाश है। यह आत्म बोधक है। बोध इसका स्वभाव है।[७७] संज्ञान का भी संज्ञान असंभव है क्योंकि यह कर्त्ता और क्रिया युगपद है। यह स्वभावतः अविभाज्य है अतः यह तीन भिन्न वस्तु नहीं बन सकता।[७८]

कुमारिल के अनुसार उपर्युक्त व्याख्या ठीक नहीं है। भले ही संज्ञान प्रकाशक हो फिर भी बोध के लिए अन्य वस्तु की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए चक्षु प्रकाशक है किन्तु उसे प्रकाशन क्रिया के निस्पादन हेतु रंग की आवश्यकता है। यह स्वयं अपना साक्षात्कार नहीं कर सकती।[७९] कुशल से कुशल नर्तक भी अपने सिर के बल नहीं नाच सकता। इसी प्रकार चेतना भी किसी अन्य वस्तु के परिप्रेक्ष्य में ही अपना कार्य कर सकती है। संज्ञान का अर्थ ही है कि कोई स्वतंत्र वस्तु हो जिसका संज्ञान किया जाए। स्वयं बौद्ध दार्शनिक भी मेरे इस बात को स्पष्टतः स्वीकार करता है

कि संज्ञान का अर्थ वस्तु का साक्षात्कार व्यापार है।[८०] अतः संग्राहक और संग्राह्य के भेद का खण्डन स्वयं बौद्ध सिद्धान्त के विरूद्ध है। बौद्ध दार्शनिक अपने सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कहता है कि वस्तु के संग्रहण का यह अर्थ नहीं कि संज्ञान से भिन्न कोई वस्तु है। यह संज्ञान ही वित्ति, उपलब्धि, अर्थप्रतीति और विज्ञप्ति आदि विविध नामों से पुकारी जाती है।[८१] यही संग्राहक और संग्राह्य भी कहा जाता है। वस्तु का संग्रहण और संज्ञान वस्तुतः एक ही क्रिया है। वे समानार्थक है।[८२] प्रश्न उठता है कि यह कैसे मालूम हो कि दोनों समानार्थक है? किसी ऐसी वस्तु का अस्तित्व अवश्य स्वीकार करना पडेगा जिसका संज्ञान हो। इस वस्तु के परिप्रेक्ष्य में ही संज्ञान शब्द की सार्थकता है। अतः वस्तु के हमें मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि वास्तविक वस्तुओं का ही संज्ञान होता है, वन्ध्यापुत्र, शशश्रृंग आदि असत् वस्तुओं का नहीं। अभाव की अवस्था में संज्ञान शब्द निरर्थक है। बौद्ध दार्शनिक के अनुसार उपर्युक्त आपत्तियाँ समीचीन नहीं है क्योंकि संज्ञान प्रकाशन है। यह सिद्धान्त इस बात पर नहीं आधारित है कि यह वस्तु संग्रहण करता है। लता, गुच्छ, कुर्सी, मेज आदि इसका तात्पर्य मात्र यह है कि संज्ञान शुद्ध और सरल है।[८३] स्वयं बुद्ध वचन भी इसी बात का प्रतिपादन करता है कि नील और नीलसंज्ञान में कोई भेद नहीं क्योंकि वे युगपद पाए जाते है।[८४] भदन्त शुभगुप्त बुद्ध चेतन की उपर्युक्त व्याख्या से सहमत नहीं। उनके अनुसार युगपद् का अर्थ एक नहीं।[८५] धर्मकीर्ति के अनुसार सर्वप्रथम वस्तु–प्रतीति होती है। यह वस्तु प्रतीति ही संज्ञान का कारण है। अतः प्रथम क्षण में इस वस्तु का संग्रहण होता है और द्वितीय चरण में इसके संज्ञान का संग्रहण होता है।[८६] अतः संग्राहक और संग्राह्य का भेद मानना ही पड़ेगा। इसे न मानना भयावह होगा। इससे हमारे इस मूलभूत सिद्धान्त का ही खण्डन हो जाएगा कि तथागत सर्वज्ञ हैं। यदि किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है तो तथागत को किस वस्तु का ज्ञान होता है? और यदि उन्हें किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता तो वे सर्वज्ञ कैसे हैं?[८७] शबरस्वामी भी बाह्य जगत में स्थित एक साकार वस्तु के रूप में ही अव्यवहित प्रत्यक्षीकरण करते हैं।[८८] दैनिक जीवन के अनुभव से भी ऐसी उपर्युक्त सिद्धान्त की ही पुष्टि होती है। जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि हमें यह स्मरण नहीं कि हमने अमुक वस्तु को अमुक स्थान पर देखा था तो उसके कथन का भाव यह है कि उसे भले ही वस्तु विशेष का स्मरण न हो किन्तु उस संज्ञान का स्मरण है जिससे वस्तु का संज्ञान होता है और

जो संज्ञेय वस्तु से स्वतंत्र है। यदि संज्ञान और संज्ञेय वस्तु दोनों एक दूसरे से न भिन्न होतीं तो उसे उस संज्ञान के स्मरण के साथ उस संज्ञेय वस्तु का भी संज्ञान होता है।[८९]

२. सौत्रान्तिक सिद्धान्त

बौद्ध दार्शनिकों के निराकार विज्ञानवाद[९०] सिद्धान्त के अनुसार चेतना (ज्ञान) शुद्ध और सरल है। वस्तुओं के सम्पर्क में आने पर ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। प्रश्न उठता है कि वस्तुओं और चेतना में परस्पर क्या सम्बन्ध है? वस्तुओं की दो प्रकार से परिभाषा की जा सकती है। वस्तु वह है जिसका अस्तित्व है। यह चेतना का विषय है क्योंकि इसका अस्तित्व है।[९१] इस सिद्धान्त को मानने पर हमें सभी वस्तुओं का ज्ञान सहजरूप से बिना किसी प्रयास के हो जाएगा और सभी लोग सर्वज्ञ हो जाएंगे किन्तु यह स्थिति हास्यास्पद है। यदि हम यह परिभाषा करें कि वस्तु वह है जिसका संज्ञान (बोध) होता है और जो निश्चित ज्ञान प्रदान करती है और कुछ विशिष्ट संज्ञाताओं को एक विशेष स्थान में एक विशिष्ट वस्तु की प्रतीत होती है। इस परिभाषा को स्वीकार करने पर अन्य आपतियाँ उठती है? ज्ञान प्रादुर्भाव में समान भूमिका अदा करता हैं। उदाहरण के लिए नील कमल संज्ञान का विषय स्वतंत्र नही बनता अपितु चक्षुरिन्द्रिय के माध्यम से बनता है। अतः तार्किक ढंग से इस परिभाषा का विश्लेषण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेगे कि वस्तुओं के अतिरिक्त चक्षुरिन्द्रिय भी वस्तुओं के समान ही संज्ञान का विषय बन जाएगी। पुनश्च यदि वे सभी विषय जो संज्ञान का प्रादुर्भाव करती हैं हमारे संज्ञान के विषय है तो उनसे अन्तर कैसे किया जाएगा क्योंकि कोई ऐसा विषय नहीं जिसकी सहायता से एक वस्तु को दूसरी वस्तु से पृथक किया जा सके और न तो संज्ञान में ही ऐसा कोई तत्व है जो एक वस्तु को दूसरी वस्तु से पृथक् कर सके और सौत्रान्तिक संज्ञान सिद्धान्त में इन विसंगतियों के कारण बौद्ध दार्शनिकों ने इस व्याख्या को तिलांजलि दे कर एक नयी व्याख्या प्रस्तुत की जो विज्ञानवादी (प्रत्ययवादी) व्याख्या के नाम से विख्यात है। इस व्याख्या के अनुसार चेतना निराकार नहीं अपितु साकार हैं। इसमें आकार का बिम्ब है। ये ही आकार हमारे ज्ञान के विषय हैं। संज्ञान के समय प्रथम क्षण में हमें दृश्य वस्तु का एक अनिश्चित और अस्फुट आभास होता है किन्तु जब इसकी चेतना में स्थित आकार से तादात्म्य स्थापित होता है तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि यह वह है या यह नीलकमल है। बौद्ध दर्शन में यह सिद्धान्त सारुप्यवाद के नाम से विख्यात है। यह सिद्धान्त वस्तुवादी दार्शनिकों द्वारा

प्रतिपादित ज्ञातता सिद्धान्त में निहित सभी दोषों से मुक्त है। यह प्रत्येक वस्तु का स्पष्ट सज्ञान प्रदान करता है तथा तब वस्तु को दूसरे वस्तु से पृथक् समझने का स्फुट मापदण्ड प्रस्तुत करता है। अतः वसुबन्धु के अनुसार सारुप्य चेतना और उसके वस्तुतत्व का संवाद है। इसी संवाद के फलस्वरूप ज्ञानेन्द्रियाँ समुद्भूत होते हुए भी संज्ञान ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं हैं अपितु ज्ञानेन्द्रियों से भिन्न हैं।[62] और फलस्वरूप अपने समस्त अन्तनिर्हित गुणों से युक्त कल्पित मानसिक आकार अपने से अत्यन्त विलक्षण अर्थक्रियाकारित्वलक्षणों से संवाद रखती हैं। यह सापेक्षता पर आधारित है। दिङ्नाग बौद्ध दार्शनिकों के ज्ञान सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यह समझना बहुत बड़ी भूल होगी कि चेतना के कारण हमें स्फुट और निश्चित ज्ञान प्राप्त होता है क्योंकि यह तो भ्रमरहित और भ्रमात्मक दोनों ही ज्ञानो में विद्यमान् है। उदाहरण के लिए मृगमरीचिका और द्विचन्द्रदर्शन के समय भी संज्ञाता चेतना युक्त रहता है न कि चेतनाशून्य। अतः सारूप्य तत्व के अविभक्त चेतना में प्रविष्ट होने के अनन्तर ही वस्तु का स्फुट संज्ञान होता है और उसका चेतना में निहित आकार से तादात्म्य स्थापित किया जाता है और हम यह निर्णय लेने में समर्थ होते हैं कि यह अमुक वस्तु है, अमुक वस्तु नहीं है। यह आम का वृक्ष है, शीशम का वृक्ष नहीं है।

अभिधर्मकोश के प्रणेता वसुबन्धु का कथन है कि किन्तु इसमें दो राय नही कि संज्ञाता संज्ञान के प्रथम क्षण में नीले रंग को देखता है किन्तु उसे यह ज्ञान नहीं होता कि संज्ञेय काली या नीली है। नीले का ज्ञान तो तब होता है जब बाह्य जगत में स्थित नीलीवस्तु और चेतना में निहित नीली वस्तु के आकार में साम्य होता है।[63]

विनीतदेव ने सारूप्य को एक नया अर्थ प्रदान किया। उनके अनुसार सारूप्य का अर्थ सादृश्य है जो वस्तु और उसके अनुरुप मानसिक आकार में सम्बन्ध का द्योतक है। किन्तु यह सादृश्य वस्तु और उसके अनुरुप मानसिक आकार के सम्बन्ध मात्र का द्योतक नहीं अपितु यह उन सभी वस्तुओं के सम्बन्धों का द्योतक है जो भले ही उसके अनुरुप आकारवाली हो अथवा भिन्न आकार वाली हो। उदाहरण के लिए मान लीजिए हम किसी विशेष कमल का फूल देखते है। इस फूल के अनुरूप चेतना में स्थित आकार के सारूप्य से हमें मात्र यही बोध नहीं होता कि यह कमल का फूल है अपितु यह भी बोध होता है कि अन्य कमल के फूलों से भिन्न अस्तित्व रखता है। साथ

ही यह गुलाब, सूर्यमुखी, बेला, जूही आदि का फल नहीं है। यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि इस सारूप्य को ही निश्चित ज्ञान का स्रोत क्यों मानते हैं? जबकि हम इसे प्रामाणिक रूप से वही सिद्ध कर सकते जिसका अस्तित्व है। हम ज्ञानेन्द्रियों को निश्चित और प्रामाणिक ज्ञान का स्रोत क्यों नहीं मानते जिनकी सहायता से हमें वस्तुओं का संज्ञान होता है और जिनके विषय में कोई संदेह नहीं रहता है। विनीतदेव का कथन है कि यह निर्विवाद सत्य है कि ज्ञानेन्द्रियॉ हमारे सज्ञान का मूल कारण है। किन्तु वे किसी वस्तु की बाह्य रूपरेखा या संवेदनमात्र ही प्रदान करती है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष की अवस्था में संप्रत्ययात्मक तत्व अथवा चिन्तन का सर्वथा अभाव रहता है इसलिए यह निश्चित ज्ञान नहीं प्रदान कर सकता और इस कारण यह निश्चित ज्ञान का स्रोत नही है। पुनश्च ज्ञानेन्द्रियाँ प्रत्येक प्रकार के संज्ञान में विद्यमान् है। यदि ये निश्चितज्ञान का स्रोत होती तो हमारा प्रत्येक संज्ञान सत्य होता और हमें भ्रम या विभ्रम की अनुभूति न होती। पुनश्च ज्ञानेन्द्रियॉ दोषयुक्त भी होती है। सफेद शंख के स्थान पर हमें पीले शंख का भी संज्ञान होता है। मरुभूमि में जलाभाव होने पर हमें जल क़ा ही संज्ञान होता है। इस कारण यह स्पष्ट है कि हम ज्ञानेन्द्रियों को निश्चित ज्ञान का मूल नहीं मान सकते।

सारूप्य एक संज्ञान का उसके सभी संज्ञान और भिन्न संज्ञानों से अन्तर प्रकट करता है। जब हम किसी वस्तु उदाहरणार्थ नीलकमल का प्रत्यक्षीकरण करते हैं तो हमें मात्र यह अनुभूति होती है कि हमें कोई वस्तु दिखाई पड रही है। किन्तु तदनन्तर सारूप्य के कारण हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि दृश्य वस्तु नील कमल है न पीला कमल।

वात्सीपुत्रीय बौद्ध को सारूप्यवाद स्वीकार नहीं। उसके अनुसार शाश्वत आत्मा और बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व है। शाश्वत आत्मा ही वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करती है। धर्मग्रन्थ भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। चेतना ज्ञान प्राप्त करती है यह शास्त्र वचन सर्वविदित है। चेतना ज्ञान प्राप्त करती है इस वाक्य से ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि कोई ऐसा तत्व है जिसका कार्य संज्ञान प्राप्त करना है और उस तत्व से स्वतन्त्र कोई ऐसी वस्तु है जिसका संज्ञान प्राप्त किया जाता है। अतः ज्ञाता और ज्ञेय दो स्वतन्त्र और भिन्न सत्ताएं है। अतः निश्चित ज्ञान का स्रोत आत्मा है न कि सारुप्य।[६४]

वसुबन्धु को यह आपत्ति निरर्थक प्रतीत होती है। उनके अनुसार वस्तुतः चेतना किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं प्राप्त करती। यह अपने विषयिनिष्ठ घटकों के साथ प्रकट होती है और इससे हमें यह भ्रान्ति होती है कि यह कोई कार्य कर रही है। यह भ्रान्ति इसलिए होती है कि परवर्ती क्षण पूर्ववर्ती क्षण के तुरन्त बाद प्रकट होता है। दोनों के बीच कोई अन्तराल नहीं। उदाहरण के लिए घण्टा बजता है अथवा घण्टाध्वनि कर रहा है। इन वाक्यों में घंटा कुछ नहीं कर रहा है। एक क्षण दूसरे क्षण का निर्बाध रूप से अनुमान कर रहा है और हम कहते है कि घंटा ध्वनि कर रहा है। हम उस पर क्रिया का आरोपण करते हैं। इसी प्रकार हम यह कहते हैं कि प्रकाश चलता है अथवा प्रकाश हमें उजाला देता है वस्तुतः प्रकाश कुछ नहीं कर रहा है। प्रकाशित करना इसका सहजभाव है। यह कार्य क्रिया नहीं कर रहा है। फिर भी हम यह कहते हैं कि प्रकाश ही दृश्य वस्तुओं का कारण है। इसी प्रकार चेतना भी कुछ नहीं करती। चेतना के क्षण निर्बाध रूप से अपने पूर्ववर्ती क्षणों का अनुगमन करते हैं और उनकी इस निरन्तरता से हमारी इस धारणा का जन्म होता है कि चेतना हमारे ज्ञान का कारण है।[६५] वस्तुतः चेतना और चेतना के विषय में कोई अन्तर नहीं है। शान्तरक्षित इस सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि संज्ञान का विषय संज्ञान के साधन का फल है और संज्ञान का साधन संज्ञान और संज्ञेय वस्तु के आकारों की समानता पर आधारित है।[६६] आत्म संज्ञान अथवा स्वसंज्ञान के विषय में स्व का संज्ञान ही फल है और स्व के संज्ञान की क्षमता ही स्रोत या साधन है।[६७]

वाह्य वस्तुवादी दार्शनिकों को यह व्याख्या स्वीकार नही। उनके अनुसार संज्ञान साधन और संज्ञान फल को एक मानने पर हमें सर्वमान्य कारणता सिद्धान्तों को तिलांजलि देनी पड़ेगी। किसी भी संज्ञान के लिये हमें एक वस्तु का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा जिसकी सहायता से उस वस्तु का संज्ञान होता है। यदि साधन और साध्य में कोई भेद नहीं तो कोई क्रिया संभव ही नहीं होगी। हमारे प्रत्येक ज्ञान का कोई न कोई लक्ष्य है। हमारे ज्ञान की सार्थकता इस बात में है कि वह अर्थ क्रियाकारी अथवा अर्थक्रिया समर्थ है।[६८] यदि संज्ञान और संज्ञान के विषय में कोई भेद ही नहीं तो ज्ञान के लक्षण के अर्थक्रियाकारित्व विशेषण जोडना कार्य है। लक्ष्य अथवा परिणाम के लक्षण से ही यह बात स्पष्ट होती है कि यहाँ किसी वस्तु की प्राप्ति होती है।[६९] उदाहरण के लिए

जब कुल्हाड़ी से कोई वृक्ष काटा जाता है तो यह कार्य बबूल के वृक्ष में नहीं घटित होता। नीम का ही वृक्ष कटता है अतः कुल्हाड़ी और 'कटा वृक्ष' दो भिन्न वस्तुएं हैं।

सौत्रान्तिक दार्शनिक वाह्य वस्तुवादी दार्शनिक की आपत्ति को निराधार बताता है। उसके अनुसार इस आपत्ति का आधार बाह्य वस्तुवादियों की यह मात्र धारणा है कि वस्तुएं शाश्वत हैं और संज्ञान तथा उसके विषय अनन्तराल तक अस्तित्व में रहते हैं। वस्तुतः वस्तुएं क्षणिक हैं अतः उनके द्वारा किसी क्रिया का सम्पादन संभव नहीं। संज्ञान संज्ञाता और संज्ञेय (वस्तु) के भेद काल्पनिक और निरर्थक हैं। संज्ञान में ऐसा भेद कर्त्ता और भेद की जाने वाली वस्तु पर आधारित है न कि उत्पादक और उत्पादित वस्तु पर जो तत्व हमारे संज्ञान को स्पष्टता या स्फुटता प्रदान करता है वह सारूप्य अथवा एकाकारता का सिद्धान्त है। नील का संज्ञान नील का संज्ञान तो नही है क्योंकि जब हमारे संज्ञान के नील पदार्थ का हमारी चेतना मैं स्थित नील आकार से संवाद होता है और तत्सदृश एवं तद्भिन्न आकारों से उसके अन्तर की स्थापना होती है तभी यह संज्ञान होता है कि वह नील है और यह नील नहीं है। इस प्रकार का भेद या अन्तर ही फल है अथवा यह स्फुट ज्ञान ही फल है और जिस क्रिया द्वारा इस फल की निष्पत्ति हुई वही इसका साधन है और यह संज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। वस्तुतः यह संज्ञान का स्वरूप ही है। हमारा दैनिक अनुभव भी इसी बात को प्रतिपादित करता है। उदाहरण के लिए पसीना ने उसे भिगो दिया, वह पसीने से भीग गया, गर्मी द्वारा उत्पन्न पसीना उसे भिगोता है। इन दृष्टान्तों में एक ही वस्तु पसीने का कर्त्ता प्रमाण (साधन) और प्रमाणफल ज्ञान तीन रूपों में प्रयोग किया गया है और ये तीनों रूप वस्तुतः एक वस्तु के भिन्न रूप हैं।[100] प्रश्न उठता है कि हम यह कैसे मानें कि कुल्हाडी और काटा गया वृक्ष दोनों एक है। सौत्रान्तिक दार्शनिक का कथन है कि कटाई का कुल्हाड़ी से बाहर अस्तित्व ही नहीं है। कटाई कुल्हाड़ी का वृक्ष में प्रवेश मात्र है और यह कुल्हाड़ी का ही धर्म है अतः कुल्हाड़ी और कटी लकड़ी में समानता है।[101] यह आपत्ति उत्पादक और उत्पाद्य में भेद न मानने पर कार्य कलाप का अन्त हो जाएगा जो समीचीन नहीं है। हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारे संज्ञान में भिन्नताएं है। इस स्वीकृत से ही कारण और कार्य के सम्बन्ध की व्याख्या संभव होगी और हम अन्तर के अस्तित्व की धारणा तभी कर सकते हैं जब आकारों के सारुप्य का सिद्धान्त स्वीकार करें। अतः सारूप्य ही वस्तुओं को एक दूसरे से अलग करता है और यही लोगों को कार्य

के लिए प्रेरित करने के लिए तथा सक्रियता की व्याख्या के लिए सर्वोत्कृष्ट साधन है। वाह्य वस्तुवादी दार्शनिकों के पास ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं जो वस्तुओं के अभास को स्पष्ट कर सकें अतः सारूप्य सिद्धान्त लोगों के कार्यकलाप की ओर प्रेरित करने के लिए वस्तुवादी सिद्धान्त की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेयस्कर हैं।[१०२] यह वर्णन कि हमारे ज्ञान के साधन हैं जो क्रिया के सुदर्शन के बिना रह ही नहीं सकते, एक रूपक मात्र है। हम किसी पौधे का दृष्टान्त ले। बीज द्वारा इसकी उत्पत्ति होती है अर्थात् गुण में यह बीज के सदृश है जो कि इसका कारण है। किन्तु सामान्य जन यह सोचते हैं कि यह अपने कारण का आकार ग्रहण करता है। जिनेन्द्र बुद्धि दिङ्नाग के सिद्धान्त को और अधिक जोर देकर प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि हमारे संज्ञान में उत्पादक और उत्पादित के भेद का रंचमात्र अस्तित्व नहीं। यह भेद हमारी बुद्धि का आरोपण मात्र है।[१०३]

वस्तुवादी दार्शनिक बौद्ध दर्शनिकों से यह प्रश्न करते हैं कि यदि यह मान भी लिया जाय कि उत्पादक और उत्पाद्य का अस्तित्व नहीं है तो भी समस्या का समाधान नहीं होता। हमारे मन में 'उत्पादक' और 'उत्पाद्य' प्रमाण और प्रमाणफल के प्रत्ययों की प्रतीति होती है। हम यह सोचते हैं कि वस्तुओं का कोई न कोई उत्पादक है। हमारे इस चिन्तन का क्या आधार है? बौद्ध दार्शनिकों का उत्तर है कि संज्ञान से हमें किसी वस्तु की उपलब्धि होती है। उदाहरण के लिए हमें यह बोध होता है कि यह आम का वृक्ष है। इस बोध से हमारे मन में इस प्रत्यय का उद्भव होता है कि किसी वस्तु की उत्पत्ति हुई और इस आधार पर हम यह कल्पना करते हैं कि यह संज्ञान का फल है। वस्तुतः यह संज्ञान ही दृश्य वस्तु की प्रतिमा (प्रतिबिम्ब) का संग्रहण कर हमारे संज्ञान प्रक्रिया को स्पष्टता, निश्चितता प्रदान करता है कि यह वही वस्तु है जिसे हम संग्रहीत करना चाहते है। वस्तुतः यह कुछ नहीं कर रही है फिर भी हम यह कल्पना कर बैठते है कि कोई क्रिया कर रही है और प्रतिमा संग्रहण प्रक्रिया को ही हम यह मान बैठते हैं कि यह क्रिया कर रही है और चूँकि यह वस्तु के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर हमारे ज्ञान को निश्चितता प्रदान करती है अतः इसे हम ज्ञान का मूल साधन और संज्ञान का साधन भी मान लेते हैं। इस प्रकार जब कोई घटना घटित होती है और तदनन्तर क्षणमात्र से विलम्ब के बिना एक दूसरी घटना उसका अनुसरण करती है तो हम पूर्ववर्ती घटना को परवर्ती घटना का कारण–उत्पादक मान लेते हैं। उदाहरण के लिए हमें नीले रंग का संज्ञान होता है। यह हमारी ज्ञानेन्द्रियों पर एक प्रकार की उत्तेजना उत्पन्न करता है। हम

तुरन्त यह अनुभव करने लगते हैं कि यह हमारे संज्ञान में निहित है और तदनन्तर हम यह अनुभव करते हैं कि कोई ऐसी वस्तु है जिसका बाह्य अस्तित्व है और तत्पश्चात् हम यह पहचान करते हैं कि बाह्य वस्तु और मानसिक प्रतिबिम्ब दोनों वस्तुतः एक हैं। अतः यह सारूप्य ही हमारे संज्ञान का सर्वश्रेष्ठ निमित्त कारण अधिपति प्रत्यय अथवा प्रकृष्टोपकारण है। इस सारूप्य के अभाव में वस्तुओं का निश्चित ज्ञान असंभव है। अतः सारूप्य ही वस्तुओं के निश्चित और प्रामाणिक संज्ञान का सर्वोत्कृष्ट कारण है।[१०४]

वस्तुवादी दार्शनिक को यह व्याख्या मान्य नही है। उसके अनुसार यदि बौद्ध दार्शनिक वस्तुतः उत्पत्ति को नहीं मानते तो वे यह क्यों कहते है कि सारूप्य उत्पादक है। वह किसी वस्तु के निश्चित संज्ञान का स्रोत है। बौद्ध दर्शनिक का कथन है कि हम सारूप्य के परिप्रेक्ष्य में उत्पादन शब्द का प्रयोग वास्तविक उत्पादन के अर्थ में नहीं करते जैसा कि कुम्भकार और उसके द्वारा उत्पादित घट के संदर्भ में इसका अर्थ किया जाता है। सारूप्य के लिए उत्पादक शब्द का प्रयोग केवल इस अर्थ में किया जाता है कि इसमें और संज्ञान में कोई भेद नहीं है। संज्ञान द्वारा ही किसी वस्तु के ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अतः सारूप्य संज्ञान से[१०५] अभेद होने के कारण यह वास्तविक अर्थ में उत्पादक कहा जा सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तु का संज्ञान और उसकी संप्राप्ति एक ही बात है उसमें कोई अन्तर नहीं। उदाहरण के लिए ज्ञान द्वारा वस्तु की प्राप्ति का क्या अर्थ है सिवा इसके कि हमारे ज्ञान की इस ओर प्रवृत्ति है। हमारा ध्यान उस पर केन्द्रित हो और यह ध्यान केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया क्या है सिवा इसके कि अर्थक्रियासमर्थ्य का बोध हो जाए। दूसरे शब्दों में हमें यह संज्ञान हो जाता कि अमुक कार्य हमारे अभीष्ट की सिद्धि में सहायक होगा। धर्मकीर्ति का कथन कि आत्महित अव्यवहित और स्पष्ट संज्ञान क्रिया का फल है क्योंकि इसी से स्पष्ट बोध (संज्ञान) की उपलब्धि हुई।[१०६] विनीत देव का कहना है कि दार्शनिक जब तक इन्द्रिय प्रत्यक्ष को, जो ज्ञान का एक प्रमाण है ज्ञान कारणत्व मानते हैं और हमारी और परामर्श को क्योंकि निर्णय परामर्श के बाहर ही हमें इस ज्ञान की प्राप्ति होती है कि यह वह है अथवा वह गुलाब का फल है। अतः प्रमाण के बाद ही इस ज्ञान की प्राप्ति होती है कि यह वह है अथवा वह गुलाब का फूल है। अतः प्रमाण और प्रमाण फल वस्तुतः एक रूप है।[१०७] धर्मकीर्ति के अनुसार संज्ञान के प्रमाण-फल के पारस्पारिक बीच दो ही प्रकार के संबंध संभव है–

१. कारणात्मक संबंध (उत्पादक और उत्पाद) तथा

२. नियन्त्रण संबंध (नियंत्रक–नियन्त्रण) इनमें से प्रथम संभव है क्योंकि किन्ही दो वस्तुओं (क्षणों) के बीच कारणात्मक होने के लिए उनमें पूर्वापर भाव आवश्यक है। किन्तु संज्ञान के प्रमाण और प्रमाण-फल क्रिया और क्रियाफल युगपद विद्यमान हैं अतः उनमें कारणात्मक संबंध की कल्पना हास्यास्पद होगी।

दूसरे प्रकार के संबंध दो वस्तुओं के बीच के लिए पूर्वापर भाव अनिवार्य नहीं है। हम यह मान सकते हैं कि एक ही वस्तु के दो पक्ष (पहलू) हैं– संज्ञान प्रक्रिया, जो हमारे संज्ञान को निश्चितता प्रदान करती है और संज्ञान प्रमाण फल जो हमें इस निश्चित ज्ञान के रूप में प्राप्त होता है कि यह नील कमल है, पीत कमल नहीं है। बौद्ध विचारकों ने सदैव इसी अर्थ में सारूप्य को ज्ञान का प्रमाण माना है क्योंकि इसी के आधार पर हमें किसी वस्तु का यह स्पष्ट संज्ञान संभव होता है कि यह नील कमल है। अतः प्रमाण और प्रमाणफल के पारस्परिक संबंध की व्याख्या सिद्धान्त द्वारा निर्वाध रूप से की जा सकती है।[१०८]

आचार्य उदयन सारूप्यकार की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि प्रमाण और प्रमाणफल के पारस्परिक संबंध की व्याख्या दो ही प्रकार से हो सकती है–

प्रथम– वास्तकिक संबंध जो किसी क्रिया और उसके कर्त्ता में पाया जाता है। इसे व्यापार व्यापारिभाव कहा जाता है और द्वितीय तार्किक संबंध जो दो पूर्वापर वस्तुओं में होता है। इसे गम्यमयकभाव– भी कहा जाता है। वस्तुवादियों के अनुसार कुल्हाड़ी और वृक्ष में वास्तविक संबंध है। किन्तु उनमें काटने की क्रिया प्रारम्भ होने के पूर्व कोई संबंध नही है। किन्तु उनमें संबंध की संभावना है अतः सामान्य जन कुल्हाड़ी और लकडी में सम्बन्ध मानते हैं। वस्तुवादी इस कुल्हाड़ी को क्षण प्रवाह नहीं मानते अपितु एक स्थिर वस्तु मानते हैं। अतः कुल्हाड़ी की क्रिया (कटाई–क्रिया) की वास्तविक है जिसे न काटने वाली कुल्हाडी से सरलता पूर्वक अलग किया जा सकता है। यह वास्तविक संबंध[१०९] एक वस्तु है जो दो वस्तुओं को जोड़ती है। प्रमाण और प्रमाणफल के बीच तादाम्त्य का संबंध नहीं है जो कि स्थापित किया जा सकता। अतः तादात्म्य बौद्धों का यह कथन हास्यापद है कि संज्ञान के प्रमाण और प्रमाणफल के बीच तादात्म्य संबंध है। अतः उनका सिद्धान्त त्याज्य है। किन्तु बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार प्रत्येक वस्तु क्षणभंगुर है। प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण

परिवर्तन हो रहा है। कुल्हाड़ी भी वास्तविक नहीं है। यह हमारे मस्तिष्क की संरचना है जो निरन्तर परिवर्तित हो रही है। अतः काटते समय और न काटते समय की कुल्हाड़ियाँ दो भिन्न वस्तुएं हैं। अतः यह मानना असंगत नहीं होगा कि प्रथम क्षण की कुल्हाड़ी प्रमाण और दूसरे क्षण की कुल्हाडी प्रमाणफल है जब कि इसने एक निश्चित आकार प्राप्त कर लिया है। किन्तु यह मानना है कि कुल्हाड़ी (कर्तक) और वृक्ष (कर्ता) स्थायी वस्तुएं हैं, आबंध्यतापूर्ण ही है क्योंकि क्षणभंगवाद सिद्धान्त के अनुसार कोई भी वस्तु स्थायी और नित्य नहीं है। अतः उदयन के अनुसार संज्ञान के प्रमाण और प्रमाणफल में मात्र तार्किक संबंध संभव है वास्तविक संबंध नहीं। तार्किक संबंध का कार्य क्षेत्र मुख्यतया मानसिक जगत् है जहाँ प्रत्येक स्वप्रकाश विज्ञान में विषयिविषयभाव समाहित है। किन्तु बाह्य जगत में भी इसकी गति है। उदाहरण के लिए यदि कोई भी वस्तु अशोक है तो वह वृक्ष भी है। अशोक वृक्ष से भिन्न नही है और न वृक्ष अशोक में। उनमें भिन्नता तार्किक अर्थों में है। एक ही वस्तु का विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न रूप में चिन्तन किया जा सकता है और उनके विभिन्न अर्थ किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए कोई वृक्ष अशोक है यदि उसकी तुलना अन्य वृक्षों से की और वह वृक्ष है जब उसकी ·तुलना अन्य पादपों से की जाए। यही बात प्रमाण और प्रमाणफल पर भी लागू होती है। वस्तुतः वे भिन्न नहीं है। हमारी चिन्तनदृष्टि के कारण उनमें भेद उत्पन्न होता है।[११०]

वस्तुवादी दार्शनिक बौद्ध दार्शनिकों की सारूप्यवाद की व्याख्या से संतुष्ट नहीं है। उनके अनुसार यदि प्रमाण और प्रमाणफल में भेद नहीं तो वे यह क्यों मानते है कि सारूप्य वस्तुओ के निश्चित ज्ञान का कारण है अथवा ज्ञान संज्ञान का फल है? बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार हमारा यह प्रयोग भाषा की कमी का द्योतक है। भाषा की अपनी सीमाएं हैं। परमार्थ तक उसकी गति नहीं है। इस प्रकार के प्रयोगों के अभाव में लोक व्यवहार में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। धर्मकीर्ति के अनुसार परम ज्ञानी व्यक्तियों को भी जो व्यवहार सामान्य में उनके अनुसार चलना पड़ता है। भले ही उन्हें यह बोध रहता है कि यह निखिल जगत् मिथ्या है। मानव मस्तिष्क की कल्पना के अतिरिक्त इसका अस्तित्व नहीं।[१११] प्रत्ययवादी ब्रिटिश दार्शनिक बर्कले का भी यह मत है। उनके अनुसार तत्वचिन्तन में हमें ज्ञानी जनों के साथ चलना चाहिए और व्यवहार में लोक का अनुसरण करना चाहिए। दिङ्नाग ने प्रमाणफल के संबंध में दो स्वतंत्र सिद्धान्तों का प्रतिपादन

किया है जिन्हें क्रमशः वस्तुवादी और प्रत्ययवादी सिद्धान्त का कहा जा सकता है। प्रथम उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि प्रमाणफल विषय संवेदन है।[112] तदनन्तर उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि प्रमाणफल स्वसंवदेन है जो यह निर्णय करती है कि क्या ग्राह्य और क्या अग्राह्य है। प्रथम की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि प्रमाणफल में बाह्य जगत का प्रतिभास निहित है जिसकी व्याख्या वे अंकुर और बीज के दृष्टान्त से करते हैं। उनका यह सिद्धान्त वसुबन्धु, विनीतदेव, धर्मकीर्ति और अन्य आचार्यों से मिलता जुलता है जिसका सम्यग् विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

अब हम दूसरे सिद्धान्त का निरुपण करेंगे–

उनका यह कथन है कि प्रमाण फल स्वसंवेदन है क्योंकि इसी से परवर्ती लक्ष्य और लक्ष्यार्थ की प्राप्ति के लिए क्रिया का निश्चय होता है। उनका यह कथन है कि प्रत्येक संज्ञानात्मक मानसिक प्रतिभास पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है– वस्तुवादी और प्रत्ययवादी दृष्टि से, यह संज्ञाता के मस्तिष्क का ही प्रतिभास है।

दिङ्नाग के भाष्यकार जिनेन्द्र बुद्धि के अनुसार दिङ्नाग यह मानते हैं कि संज्ञान में विषयिनिष्ठ और विषयनिष्ठ दो भाग हैं। इनमें विषयिनिष्ठ भाग में राग और द्वेष की स्वसंविदित्त है और विषयनिष्ठ भाग में बाह्य वस्तु की संवित्ति अथवा भाव है कि गुलाब (कोई वस्तु) सफेद रंग का है अथवा किसी दूसरे रंग का है एवं संवित्ति का अर्थ है कि यह आन्तरिक प्रतिभास[113] है। यह संज्ञान का संज्ञान है। दूसरे शब्दों में यह स्वसंज्ञान है। यह मानसिक प्रतिभास ही ग्राहक (संज्ञाता) के रूप में प्रतीत होता है।[114]

विषयनिष्ठ भाव या संवित्ति का अर्थ है बाह्यवस्तु प्रतिभास अथवा वस्तु का प्रत्यय। यह 'ग्राह्य' ज्ञाता है जो संज्ञान में विद्यमान है। वस्तुवादी दार्शनिक इस बात को नहीं मानते कि स्वसंवित्ति भी प्रमाणफल है। उनके अनुसार ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार वाह्य वस्तुओं का संज्ञान प्राप्त करना है न कि उन प्रत्ययों का जो बाह्य जगत् में स्थित किसी वस्तु के अनुरूप नहीं है। प्रत्ययवादियों के अनुसार वस्तुवादियों की यह आपत्ति निराधार है। स्वसंवित्ति भी हमारे संज्ञान का ही फल है अथवा प्रमाण फल है क्योंकि यही वस्तुओं के प्रति हमारे व्यवहार को निर्धारित करती है। प्रत्ययों से परे संज्ञान संभव ही नहीं है। जो कुछ भी है वह संज्ञेय है। संसार का विषय हैं। उनका अस्तित्व है क्योंकि वे ज्ञेय है जिन वस्तुओं का ज्ञान नहीं, जो ज्ञेय नहीं उनका अस्तित्व भी नहीं है।

संज्ञेयता ही संचिन्त्यतता है।[११५] दूसरे शब्दो में जो वस्तुएं संज्ञान का विषय हो सकती है उन्ही का चिन्तन भी किया जा सकता है। जिस वस्तु को किसी ज्ञानेन्द्रिय द्वारा देखा ही नहीं जा सकता उसके विषय में सोचा भी नहीं जा सकता, वह अचिन्तनीय और अकल्पनीय है। जब कोई वस्तु किसी व्यक्ति के संज्ञान में अन्तर्निहित है तो वहॉ उसके साथ उसका प्रत्यय भी विद्यमान है। मनुष्य अपने आन्तरिक राग और द्वेष आदि भावो के कारण यह अनुभव करता है कि कौन सी वस्तु ग्राहक है और कौन सी वस्तु त्याज्य है और तद्वत उसका संज्ञान भी प्रवर्तित होता है। वस्तुवादी भी इस स्थिति को अस्वीकार नही कर सकता क्योंकि उसका ज्ञान भी संवेदनों और प्रतिभासों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[११६] जब हमें आन्तरिक रूप से किसी वस्तु की इच्छा होती है तभी हम यह निश्चय कर लेते हैं और तभी हमारी क्रिया प्रारम्भ होती है। यदि हमारे मानस पटल पर किसी इच्छा की अनुभूति न हो तो हम कोई निर्णय नहीं लेंगे और निर्णय के अभाव में कोई क्रिया भी सभव नही होगी।

जैसा ऊपर निरुपण किया जा चुका है कि दिङ्नाग के सारूप्यवाद के वस्तुवादी सिद्धान्त अर्थात् मानसिक प्रतिभासों और वाह्य वस्तु के सारूप्य के सिद्धान्त पर धर्मकीर्ति ने विशेष रूप से बल दिया है। धर्मोत्तर और विनीतदेव आदि आचार्यों ने भी धर्मकीर्ति का ही अनुसरण किया। दिङ्नाग की भाँति धर्मकीर्ति भी यह मानते हैं कि प्रमाण और प्रमाणफल में कोई अन्तर नहीं है। मानसिक प्रतिभास से सारूप्य होने पर वही संज्ञान–प्रमाण ही प्रमाणफल हो जाता है। जब यह कहा जाता है कि अमुक संज्ञान की उत्पत्ति किसी वस्तु विशेष से हुई तो इसका भाव मात्र यह है कि उस संज्ञान और उस वस्तु के बीच सारूप्य है क्योंकि जिस विषय से जो ज्ञान (संज्ञान) उत्पन्न होगा वह उसके सदृश ही होगा अन्यथा नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए नीलरंग से उत्पन्न संज्ञान नीलरंग के ही सदृश होगा। शेरेवात्स्की के अनुसार दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के सारूप्य सिद्धान्तों में कुछ अन्तर है। दिङ्नाग के अनुसार सारूप्य अर्थ संवित्ति, अर्थनिश्चिय और अर्थप्राप्तिक्रिया में एकरूपता है। उदाहरण के लिए सारूप्य के लिए यह आवश्यक है कि हमारे मन में किसी वस्तु की प्रतीति उत्पन्न हो कि वह वस्तु अमुक वस्तु है, उदाहरणार्थ गुलाब का फूल लाल है फिर उसका निश्चय हो कि सचमुच वह लाल गुलाब का ही फूल है फिर उसकी प्राप्ति के लिए तदनुरूप कार्यकलाप किया जाए। तीनों की एकरूपता या सारूप्य से ही सम्यग् प्रमाणफल, की

सिद्धि होगी। किन्तु धर्मकीर्ति के अनुसार सारूप्य स्वलक्षण और उसके प्रतिभास की एकरूपता में निहित है। किन्तु यह अन्तर दिङ्नाग के सिद्धान्त से बहुत अधिक असंबद्ध नहीं है। यह उनके सारूप्यवाद के वस्तुवादी सिद्धान्त पर आधारित है जिसके अनुसार सारूप्य किसी वाह्य पदार्थ और उसके प्रतिभास की एकरूपता में निहित है। उपर्युक्त विवेचन में हम यह देखेंगे कि बौद्ध दार्शनिक में सारूप्यवाद के स्वरूप को लेकर भले ही विवाद रहा हो किन्तु उन सभी ने इन पर समानरूप से बल दिया कि प्रमाण और प्रमाणफल ग्राह्य और ग्रहण में तनिक भी भेद नहीं है। प्रतीयमान् भेद हमारे दृष्टिगत भेद का परिणाम है जो एक ही वस्तु को अनेक दृष्टियो से चिन्तन करने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है।

सारूप्यवाद सिद्धान्त की भारतीय दार्शनिकों ने कटु आलोचना की। नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसक दार्शनिकों ने ही नहीं अपितु बौद्ध दार्शनिकों ने भी इस सिद्धान्त को हास्यास्पद बताया। यह रहस्य अथवा जादूई अविष्कार है। एक ही वस्तु कारण, एक ही क्षण कैसे कारण और कार्य का साधन बनती है एक आश्चर्य या चमत्कार है जिसकी भर्त्सना समय का दुष्प्रयोग मात्र है। दार्शनिकों ने इसे (अमूल्य क्रय) की संज्ञा दी है। यह एक ऐसी खरीद (क्रय) है जिसका कोई मूल्य नहीं देना पड़ता क्योंकि इस (सारूप्य) का स्पष्ट आभास ही होता है किन्तु हमारे संज्ञान पर इसका कोई आकार नहीं परिलक्षित होता क्योंकि यह निराकार है। योगाचार विज्ञानवादियों ने सारूप्यवाद पर एक गम्भीर अक्षेप किया है। उनके अनुसार सौत्रान्तिक दार्शनिकों का सारूप्यवाद का संप्रत्यय अवैध और अतार्किक है। वे इस सिद्धान्त की तार्किक परिणति तक जाने को तैयार नहीं और मात्र आकारों के सारूप्य तक जाना चाहते हैं। स्वलक्षणों से आकार के सारूप्य असंभव है क्योंकि वे नितान्त भिन्न है और उनमे कोई मिलन बिन्दु नहीं है। यदि सारूप्य संभव है तो मात्र आकारों के बीच ही संभवहै। आकारों और परम तत्व (स्वलक्षण) के बीच नहीं। अतः हमें सारूप्य के विनिष्ठ वस्तुवादी सप्रत्ययन के स्थान पर प्रत्ययवादी संप्रत्ययन की स्थापना करनी चाहिए।

विज्ञानवादियों के अनुसार सौत्रान्तिक दार्शनिकों ने सारूप्य से सम्बन्धित अनेक घटकों की महत्वपूर्ण सहभागिता (साझेदारी) पर ध्यान नहीं दिया। उदाहरण के लिए रंग के प्रत्यक्षीकरण में मात्र वाह्य वस्तु रंग ही नहीं अपितु चक्षुरिन्द्रिय, प्रकाश और चेतना का पूर्ववर्ती क्षण भी सामानरूप से महत्वपूर्ण है। चूँकि ये भी नील रंग के प्रत्यक्षीकरण के हेतु हैं अतः इन्हें भी हमारे प्रत्यक्ष का

विषय बनाना चाहिए किन्तु सौत्रान्तिक दार्शनिक नहीं मानते। वे यह बताने में असमर्थ है कि उन्होंने मात्र वाह्य वस्तु को ही प्रत्यक्ष का विषय क्यों स्वीकार किया, चक्षुरिन्द्रिय प्रकाश और चेतना के पूर्ववर्ती चेतना क्षण को क्यों नहीं? अतः सारूप्यवाद का सिद्धान्त निश्चित ज्ञान की समस्या का समाधान करने में असमर्थ है।

३. योगाचार विज्ञानवादी सिद्धान्त

योगाचार विज्ञानवादी दार्शनिकों ने ज्ञानमीमांसा में निश्चित ज्ञान की व्याख्या के लिए एक नए सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो अनादिवासना सिद्धान्त के नाम से विख्यात है। उनके अनुसार वाह्य जगत मनोकल्पित है। संसार की सभी वस्तुएं विज्ञान की सृष्टि है अतः वाह्य वस्तु और मानसिक आकारों के सारूप्य का प्रश्न ही नहीं उठता।[११७]

वस्तुतः निश्चित सृष्टि का मूल अनादिवासना है। यही हमारे भौतिक जीवन के विकास का साधन है। इसी की सहायता से पारमार्थिक सत्ता या परमार्थ सत् से अनुभवमूलक जगत् का आविर्भाव होता है। जगत् की अंसख्य वस्तुएं प्रत्ययों के रूप में आलय विज्ञान में सुप्तावस्था में पडी हैं। परिस्थितियों के अनुकूल होने पर तथा अनादिवासना के परिपक्व हो जाने पर अनुभवमूलक जगत् अपने समस्त वैविध्य और वैचित्र्य के साथ प्रकट हो जाता है। किन्तु व्यक्ति के निर्वाण प्राप्त कर लेने पर ज्ञानान्धकार की प्रगाढ़ निद्रा से जागृत हो जाने पर, चार आर्य सत्यों का दर्शन हो जाने पर तथा आत्मा और वाह्य वस्तुओं की अयथार्थता का ज्ञान हो जाने पर वह ज्ञेयावरण और क्लेशावरण से मुक्त हो जाता है और यह जगत के प्रवाह की सरिता बन जाती है।

इस सिद्धान्त का सम्यग् विवेचन करने के लिए इसकी व्युत्पत्ति जानना नितान्त आवश्यक है। 'वासना' शब्द की उत्पत्ति 'वास्' और वस् दो धातुओं से हुई जिनका अर्थ क्रमशः वास–करना (रहना) और सुगन्धित करना है। विज्ञानवादियों ने इसे पहले अर्थ में लिया है और सांख्य दार्शनिकों ने दूसरे अर्थ में अभिधर्मकोश में इस शब्द का प्रयोग भावना के अर्थ में किया है जो हमारे जीवन में विकास को संचारित करती है। इसकी तुलना हम फ्रेंच दार्शनिक बर्गसॉ के 'एलान वाइटल' से कर सकते हैं जिसका प्रतिपादन उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सृष्टि मूलक विकास' में अनुभव मूलक जगत् की उत्पत्ति और विकास की व्याख्या करने के लिए किया है। भारतीय दर्शन के सभी

सम्प्रदायों में यह सिद्धान्त किसी न किसी रूप में मिलता है जिसकी सहायता से व्यावहारिक जगत् की व्याख्या की जाती है। प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में विज्ञान इस सिद्धान्त की भूमिका अदा करता है। वेदान्त तथा माध्यमिक सम्प्रदायों में 'माया' सिद्धान्त द्वारा भी यही कार्य सम्पादित किया जाता है। सांख्य दर्शन में भी इस 'वासना' का दर्शन होता है यद्यपि उन्होंने इसका प्रयोग जैसा ऊपर कहा गया है, भिन्न अर्थ में किया है। मीमांसा और अन्य सम्प्रदायों में भावना अदृष्ट, अपूर्व, अभ्यास और संस्कार की वासना का ही कार्य सम्पन्न करते हैं। कमलशील ने इसकी व्याख्या एक ऐसी शक्ति के रूप में की है जिसकी सृष्टि पूर्व जन्मों में वाह्य विषयों और उनके नामों के निरन्तर साहचर्य के कारण होती है। इसी के परिणाम स्वरूप एक सघन-व-जात शिशु भी चितलाना मुस्कराना और दुग्धपान आदि क्रियाएं करता है और जबकि उससे अभी तक शब्दोच्चारण की भी शक्ति उत्पन्न नहीं हुई है। धर्मकीर्ति ने इसे पूर्व जन्मों में अर्जित ज्ञान कहा है।[११८] वासना दो प्रकार की है–

अनुभववासना, अविद्यावासना या अनादिवासना। अनुभव वासना, यह वाह्य जगत की वास्तविकता का द्योतक है। हमें इसकी प्रतीति होती है। सुख और दुःख, आह्लाद और व्यथा, प्रेम और घृणा आदि जीवन की सभी क्रियाएं समस्त भाग दौड़ चाक चिक्य और चकाचौध इसी के कारण है। पूर्व जन्मों में हमने अनेक प्रकार के विज्ञानों, संस्कारों, आदतों और अनुभवों को अर्जित किया है। इन्हीं अलंकारों के कारण हमें वाह्य जगत यथार्थ प्रतीत होता है और इसी ज्ञान के आधार पर हमारी क्रियाएं प्रारम्भ होती है।

अनादि वासना– जिस जगत् में हम रह कर अनेक क्रियाएं कर रहे हैं सावधानी से उसके स्वरूप का चिन्तन करने पर वह हमें कपूर की भाँति उड़ता हुआ प्रतीत होता है। जितनी ही गम्भीरता पूर्वक हम इसके स्वरूप का चिन्तन करते है उतनी ही अधिक इसकी निस्सारता सिद्ध होती है। हम अपने प्रत्ययों के अतिरिक्त कुछ भी नही जान सकते और इन व्यक्तिनिष्ठ विचारो (प्रत्ययों) की बाह्य जगत् की कल्पना निरर्थक है। हम वाह्य जगत् के संबंध में जो भी थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं वह मात्र अपने प्रत्ययों (विचारों) के माध्यम से, जो आन्तरिक है। अतः हमें यह मानना पड़ता है कि कोई अन्तर्शक्ति है जो हमारे मन में वाह्य जगत के भ्रम को जन्म देती है। यही अनादिवासना[११९] है। इसकी तुलना ब्रह्म की शक्ति माया से की जा सकती है किन्तु इस अन्तर को ध्यान में रखना चाहिए कि विज्ञानवादी दर्शन में ब्रह्म का स्वरूप इस आधार पर नहीं है जिस पर माया आश्रित है। हमारा प्रत्येक विषय इसी अनादि वासना से वासित है।[१२०]

योगाचार विज्ञानवादियों और सौत्रान्तिक विज्ञानवादियों ने अनादि वासना की दो भिन्न व्याख्याएं प्रस्तुत की है। प्रथम के अनुसार वाह्य जगत यथार्थ है। स्वलक्षण ही परम तत्व है जो देशकाल स्वभावानुगत सर्वतो व्यावृत्त क्षण है और हमारे समस्त चिन्तन के परे है। हम इनका प्रत्यक्षीकरण कर सकते हैं किन्तु इनके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। हम इन्हें मात्र अपने आन्तरिक मानसिक आकारों की सहायता से ही जान सकते हैं जो इनसे सारूप्य रखते हैं और इस सारूप्य के आधार पर ही यह निर्णय कर सकते हैं कि यह वह है, नील कमल का फूल है अथवा यह विन्ध्य पर्वत है। किन्तु असंग की विचारधारा के योगाचार दार्शनिक सारूप्य सिद्धान्त को हास्यास्पद कह कर आलोचना करते हैं और कहते हैं कि मानसिक आकारों और स्वलक्षणों के सारूप्य से कभी भी कोई क्रिया नहीं निस्पन्न हो सकती। हमारी समस्त क्रियाएं अनादिवासना के फलस्वरूप हैं। श्रीधर के इस सिद्धान्त में अनुभववाद, बुद्धिवाद और प्रत्यक्षवाद तीनों ही प्रारम्भिक स्वरूप लक्षित होता है।

१. जब हमारी बुद्धि की समस्त वर्गणाओं का कारण विगत जन्मों को माना जाता है और उनका मूल अनुभंववासना[१२१] कहा जाता है तो इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाली विचारधारा को अनुभव वासना कहा जा सकता है।

२. जब यह कहा जाता है कि बुद्धि (समझ) की वर्गणाओं की निष्पत्ति बुद्धि की अनवरल (क्रियात्मकता) के कारण होती है तो इसे विकल्प वासना की संज्ञा दे सकते हैं और इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाली विचारधारा को बुद्धिवाद या विकल्प वासनावाद कह सकते हैं और–

३. जब हम यह कहते हैं कि हमारे समस्त विचार विज्ञप्तिमात्रता अथवा आलय विज्ञान में अन्तनिर्हित हैं और इन्हीं के कारण वाह्य जगत् की भ्रान्ति उत्पन्न होती है तो इसे हम अनादिवासना कह सकते हैं और इससे निर्मित जगत को अनादिवासना वासित व्यावहारिक प्रत्यक्ष कह सकते हैं और इस सिद्धान्त को मानने वाली विचारधारा को अत्यन्त विकल्प वासना कह सकते हैं।

प्रश्न उठता है कि योगाचार दार्शनिक जो वाह्य जगत का अस्तित्व ही नही मानते वे उस विज्ञान अथवा चित्त में विद्यमान ग्राहक का ग्राह्य प्रत्ययों और एकरूप है। योगाचार दार्शनिको के

लिए यह प्रश्न उठता ही नहीं। उनका कथन है कि पारमार्थिक सत्ता की दृष्टि से परम तत्व में भेद अथवा द्वित्व के लिए स्थान नहीं है किन्तु अनादि है।

वासना दौष्ठुल्य के कारण अथवा अनादिवासना के प्रभाव के कारण हम परम तत्व के आंशिक रूप का ही दर्शन कर पाते है और उसके लिए ग्राहक ग्राह्य आदि शब्दों का प्रयोग करते है। हम विषयिविषय संबंध के माध्यम से परम तत्व का मात्र परोक्ष अनुभव ही करते है।[१२२] अत: संज्ञान और संज्ञेय का भेद मात्र व्यवहारिक दृष्टि से किया जाता है न कि पारमार्थिक दृष्टि से। जिस प्रकार पीलिया रोग से ग्रस्त व्यक्ति को सफेद शंख पीली दिखाई पडती है उसी प्रकार अनादिवासना से ग्रस्त द्रष्टा (व्यक्ति) को परम तत्व पारमार्थिक सत्ता वाह्य जगत के रूप मे दिखाई पड़ता है। जब तक हमे परम तत्व का सम्यग् बोध नहीं होगा इस भ्रान्ति की निवृत्ति नही होगी। जिस क्षण में प्रज्ञा पारमिता का साक्षात्कार हो जाएगा एवं परम तत्व का दर्शन हो जाएगा उस समय न तो संज्ञान का विचार रहेगा और न संज्ञेय का उस समय हमारी दृष्टि के समक्ष वह परम तत्व जो अनिर्वचनीय अनभिलाप्य और अव्याख्येय रहेगा।

अनादिवासनावाद की समीक्षा सौत्रान्तिक दार्शनिकों ने व्यावहारिक जगत् की उद्‌भव और विकास की व्याख्या के लिए प्रस्तुत किए गए अनादिवासना सिद्धान्त की कटु आलोचना की है।

विज्ञानवादियों के अनुसार अनादिवासना एक विषयिनिष्ठ प्रत्यय या विचार है जो विज्ञान प्रवाह में अन्तर्निहित है और उसकी परिपक्वता की अवस्था में स्वतः वाह्य जगत् के प्रत्ययों को उत्पन्न करता है। यह परिपक्वता उसके पूर्व विकास की अवस्था है वहाँ वह वाह्य जगत की वस्तुओं को उत्पन्न नही मानता। अतः विज्ञान प्रवाह (पंच स्कन्ध) का पूर्ववर्ती क्षण इस परिपक्वता का कारण है। किन्तु विषयीनिष्ठ होने के कारण विज्ञान के सभी क्षण समान रूप से समर्थ और अर्थक्रियाकारी हैं अतः उनमें से प्रत्येक परिपक्वता का कारण है अथवा कोई भी नहीं है। हम ऐसा नहीं कह सकते हैं कि एक क्षण को तो परिपक्वता का कारण माने और अन्य क्षणों को न मानें। सभी के विषयिनिष्ठ होने के कारण हमें सभी को समर्थ मानना पड़ेगा।[१२३] अतः योगाचार द्वारा प्रतिपादित वासना की परिपक्वता का सिद्धान्त निरकुंश, निराधार, तथा तर्कहीन है।

योगाचार दार्शनिक इस आपत्ति को निराधार मानता है। उनके अनुसार विज्ञान प्रवाह के प्रत्येक क्षण की शक्ति एक दूसरे से भिन्न है। क्षणों में परिवर्तन के साथ उनकी शक्ति में भी परिवर्तन हो जाता है। अतः कुछ क्षण अन्य क्षणों से अधिक समर्थ है। अतः निरकुंशता और आधारहीनता का आरोप निरर्थक है। सौत्रान्तिक दार्शनिक को योगाचार दार्शनिक की उपर्युक्त व्याख्या मान्य नहीं। उसके अनुसार इस व्याख्या को स्वीकार करने पर हम एक ऐसे हास्यास्पद निष्कर्ष पर पहुँचेंगे जो अनुभव के विपरीत है। यदि हम उपर्युक्त व्याख्या स्वीकार करें और यह मानकर चले कि प्रत्येक क्षण का सामर्थ्य एक दूसरे से भिन्न है तो हमें तर्कतः यह स्वीकार करना पडेगा कि केवल एक ही क्षण एक प्रकार का संवेदन उत्पन्न कर सकता है। उदाहरण के लिए यदि मुझे किसी क्षण विशेष मे यह संवेदन हुआ कि यह नीलरंग का गुच्छ है तो इसकी पुनरावृत्ति मुझमें कभी नहीं होगी किन्तु दैनिक जीवन में हम यह देख सकते हैं कि हमें ऐसा अनुभव बार–बार होता है। इसके विपरीत यदि हम स्वीकार करें कि अन्य क्षण भी इस संवेदन को उत्पन्न करने में समर्थ है कि यह भी नीलरंग गुच्छा का आकार है तो वे परस्पर भिन्न कैसे हैं? और यदि वे परस्पर भिन्न नहीं है तो प्रत्येक क्षण उसी नील रंग का बिम्ब उत्पन्न करने में समर्थ होगा और चूँकि प्रत्येक क्षण नील रंग के आकार को उत्पन्न करने में समानरूप से समर्थ है और समर्थ होने के कारण वे अपनी सक्रियता को स्थगित नहीं कर सकते अतः इसका परिणाम यह होगा कि वे सभी समय एक ही नीलरंग के आकार उत्पन्न करेंगे।[१२४] पुनश्च 'वासना' सिद्धान्त के अनुसार हमारे सभी प्रत्ययों की उत्पत्ति एक ही विज्ञान प्रवाह में आती है। अतः उन सबका सदैव एक ही आकार होना चाहिए। किन्तु व्यावहारिक जीवन में हम यह अनुभव करते हैं कि हमारे प्रत्यय बदलते रहते हैं। उदाहरण के लिए विभिन्न भाव उत्पन्न होते रहते है। अतः प्रत्ययों के उपर्युक्त स्वभाव के कारण वासना का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। पुनश्च यदि मात्र प्रत्ययों का ही अस्तित्व है और वे सभी एक ही स्वभाव के हैं तथा अनादि वासना पर आश्रित है तो परिवर्तन की व्याख्या कैसे संभव होगीं।

योगाचार दार्शनिकों के अनुसार उपर्युक्त आपत्तियाँ निराधार है। हमारे वाह्य प्रत्यक्षों का मूल आलय विज्ञान है जिसमें विभिन्न समयों पर विभिन्न प्रत्यक्ष उद्भूत होते हैं। हमारे प्रत्यक्षों की विविधता की व्याख्या आन्तरिम रूप से की जा सकती है। अनादिवासना कभी परिपक्व हो सकती है और कभी नहीं हो सकती। अतः उसके परिणाम भी कभी प्रकट हो सकते हैं और कभी नहीं हो

सकते। सौत्रान्तिक दार्शनिक भी इस तथ्य को इन्कार नहीं कर सकते कि हमारा सम्पूर्ण ज्ञान संवेदनों और प्रत्ययों तक ही सीमित है। वे उनकी परिधि का अतिक्रमण नहीं कर सके क्योंकि इनके अतिरिक्त उन्हें किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं।[१२५] हम किसी भी निर्णय पर तभी पहुँचते है जब हमारे[१२६] मानस पटल पर किसी इच्छा की संवेदना होती है। जितेन्द्र बुद्धि के शब्दों में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि हम वाह्य वस्तुवाद को मानकर वाह्य जगत के अस्तित्व को स्वीकार करे तो भी यही मानने के लिए विवश हैं कि हमारा वाह्य जगत का समस्त ज्ञान हमारे संवेदनों तक ही सीमित है।[१२७]

वसुबन्धु पूर्व विज्ञानवाद

दर्शन के इतिहासकारों की यह सामान्य धारणा है कि महायान बौद्ध दर्शन तक अपने वास्तविक रूप में मौर्य शासन काल में लगभग द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व प्रतिष्ठित हुआ किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि महायान का आविर्भाव मौर्य शासन काल में हुआ बहुत बडी भूल होगी। महायान दर्शन के सभी सिद्धान्तों का उत्स बुद्ध की मूल शिक्षाओं में हैं जो त्रिपिटों में संग्रहीत है और इन शिक्षाओं में विविध व्याख्याओं के फलस्वरूप बौद्ध धर्म बुद्ध के परिनिर्वाण के दो सौ वर्षो के भीतर अठारह से अधिक सम्प्रदायों में विभक्त हो गया जिनमे एक महायान भी है। प्रोफेसर कीथ,[१२८] प्रोफेसर बैंकटरमनन[१२९] और भिक्षु ज्ञानानन्द[१३०] जैसे अनेक प्रसिद्ध विद्याविशारदों ने जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन बौद्ध भारती के अध्ययन में समर्पित कर दिया इस निष्कर्ष पर पहुॅचे हैं कि महायान (शून्यवाद और विज्ञानवाद दोनों) का उत्स बुद्ध की मूल शिक्षाओं में हैं। महायान की सामान्य विशेषताएं ही नहीं अपितु शून्यवाद और योगाचार विज्ञानवाद के मूलभूत सिद्धान्त भी प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में देखने को मिलते हैं।

दीर्घ निकाय में भगवान् बुद्ध से केवद्ध नामक एक गृहस्थ व्यक्ति पूछता है कि वह कौन सा स्थान है जहाँ जल, पृथ्वी, अग्नि या वायु की गति नहीं है? वह कौन सा स्थान है जहॉ दीर्घ और

ह्रस्व, सूक्ष्म या स्थूल, शुभ या अशुभ के लिए स्थान नहीं है? और वह कौन सा स्थान है जहॉ नाम, रूप (मन और भूततत्व) का पूर्णरूप से अन्त हो जाता है और बुद्ध उत्तर देते हैं कि शुद्ध विज्ञान (प्रत्ययवाद) संकेतातीत, अनन्त और सर्वतो प्रभास्वर है और यही वह तत्व है जहाँ जल, पृथ्वी, अग्नि या वायु के लिए तनिक स्थान नहीं, जिसके विषय में दीर्घ या ह्रस्व, सूक्ष्म या स्थूल, शुभ या अशुभ कुछ भी नहीं कहा जा सकता और यहीं नामरूप का पूर्णरूप में अन्त हो जाता है।

दूसरे शब्दों में विशुद्ध विज्ञान या विज्ञप्तिमात्रता ही वह तत्व है जो जल, पृथ्वी, अग्नि और वायु आदि भूततत्वों से सर्वथा परे है जिसके विषय, दीर्घ, ह्रस्व, सूक्ष्म, स्थूल शुभ और अशुभ कुछ भी नहीं कहा जा सकता और यही वह भूमि है जिसका साक्षात्कार करने पर नामरूप का अन्त हो जाता है। बुद्ध के इस उत्तर में प्रश्नकर्त्ता अत्यन्त संतुष्ट हो जाता है।[131] धम्मपद जो सुत्तपिटक के खुद्दक निकाय का एक अंश है और जिसे भगवान् बुद्ध की मूल शिक्षा माना जाता है, में भी हमें विज्ञानवाद का दर्शन होता है। बुद्ध कहते हैं–

वेदना, संज्ञा और संस्कार जिन्हें सामूहिक रूप में 'धर्म' शब्द से अभिभूत किया जाता है विज्ञान (मनस) से समुद्भूत होते हैं।[132] महायान सूत्रों में जिन्हें नवधर्म या वैपुल्यसूत्र कहा जाता है, में हम स्पष्ट रूप से विज्ञानवाद के सभी सिद्धान्तों को मूलरूप में पाते हैं। लंकावतारसूत्र के दो से सात परिवर्त्तों में हम योगाचार विज्ञानवाद का विशद विवेचन पाते हैं। बुद्धअवतसंकसूत्र जिसमें दशभूमिक और गण्डव्यूह सूत्र संवेत् हैं, में भी विज्ञानवाद का विशद विवेचन है। सन्धिनिर्मोचनसूत्र और धनव्यूहसूत्र में भी हमें विज्ञानवाद का दर्शन होता है। महायानश्रद्धोत्पाद जिसे अश्वघोष की दार्शनिक कृति माना जाता है, में भी विज्ञानवाद का विवेचन है।

विज्ञानवाद के पुरोधा के रूप में हमें आर्य मैत्रेयनाथ और उनके यशस्वी शिष्य आर्य असंग का दर्शन होता है जिन्होंने अपने ग्रन्थों में योगाचार विज्ञानवाद को एक स्वतन्त्र निकाय के रूप में प्रतिष्ठित किया। फिर भी वे शून्यवाद से प्रभावित रहे और विज्ञानमात्र या चित्तमात्र को शून्यता से एकाकार किया। इसके बाद दर्शन के क्षितिज पर वसुबन्धु का आविर्भाव होता है जिन्होंने योगाचार विज्ञानवाद को शून्यवाद से पृथक और सर्वथा मौलिक निकाय के रूप में विशुद्ध तर्कों के आधार पर प्रतिष्ठित किया। असंग और वसुबन्धु ने प्रायः अपनी समस्त रचनाओं में विज्ञानवाद का प्रतिपादन किया।

आर्य वसुबन्धु के दार्शनिक विचारों ने बौद्ध दार्शनिकों की एक लम्बी और सुप्रतिष्ठित परम्परा खड़ी की जो बहुत सी बातों में उनसे मतभेद रखते हुए परमार्थ तथा तत्त्वशास्त्र के स्तर पर वसुबन्धु को विज्ञप्तिमात्रता या परमार्थ को ही अपने दर्शन का गन्तव्य माना।

वसुबन्धु के बाद उनके योग्य भाष्यकार स्थिरमति आए जिन्हें वसुबन्धु के योगाचार से सम्बन्धित ८ ग्रन्थों पर प्रामाणिक भाष्य लिखा जिसमें त्रिंशिका विज्ञप्तिमात्रता आदि सबसे अधिक प्रामाणिक है। धर्मपाल जो स्थिरमति के कनिष्ठ समकालीन थे, उन्होंने भी विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि पर भाष्य लिखा जो आगे चलकर ह्वेनशांग के अनुवाद का आधार बना। स्थिरमति को विशुद्ध योगाचार विज्ञानवाद का अन्तिम आचार्य होने का गौरव प्राप्त है, इसमें वसुबन्धु को आगे बढ़ाने का श्रेय दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित और कमलशील आदि आचार्यो को है जिन्होंने वसुबन्धु के तत्वशास्त्र के सिद्धान्त को परमार्थ के स्तर पर स्वीकार तो किया किन्तु व्यावहारिक धरातल में तत्वशास्त्र के स्थान पर तर्कशास्त्र और प्रमाणशास्त्र पर अधिक बल दिया और प्रमेयरूप में सौत्रान्तिक दर्शन के 'स्वलक्षण' को पुनः स्थापित किया। जिसके फलस्वरूप वसुबन्धु का विशुद्ध योगाचार विज्ञानवाद स्वतन्त्रविज्ञान का रूप धारण कर लिया। इन दार्शनिकों ने अपने प्रमाण मीमांसकों को प्रतिष्ठित करने के लिए प्रमाणसमुच्चय, प्रमाणवातिर्क, तत्वसंग्रहपंजिका आदि अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे और दर्शन जगत् में आज भी समाहित हैं।[१३३]

शान्तरक्षित के बाद बौद्ध विज्ञानवाद का पर्यवर्धन हो गया और उसका स्थान न्याय वैशेषिक और अद्वैतवेदान्त ने ले लिया।[१३४]

वसुबन्धु के दर्शन का प्रभाव भारतभूमि तक ही सीमित न रहा वरन् वह देश की सीमाओं को तोडकर विदेश भी गया और चीन तथा जापान में उनकी विचारधारा पर आधारित सम्प्रदाय में दीक्षित लाखों नर-नारी अनुयायी उनकी उत्कृष्ट परम्परा का उद्वहन कर रहे हैं। बुद्ध के निर्वाण के बाद बौद्ध-धर्म अनेक सम्प्रदायों में बट गया। किन्तु इन सम्प्रदायों में प्रायः प्रत्येक सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में एक ही दार्शनिक का नाम जुड़ा है। वसुबन्धु ही एक मात्र दार्शनिक हैं जिन्हें दो सम्प्रदायों के संस्थापक होने का गौरव प्राप्त है। इनके सम्प्रदाय निम्नलिखित हैं–

१. कुश सम्प्रदाय- यह वसुबन्धु के अभिधर्मकोश पर आधारित है जो 'कोश' सम्प्रदाय अथवा जापान में 'कुश' सम्प्रदाय से भी प्रसिद्ध है। यह विचारधारा ह्वेनशांग के दो शिष्य चित्स् और

चितत्सु द्वारा ६५८ ई० में स्थापित की गयी। पुनः यह विचार धारा गेम्बो द्वारा ७३५ ई० पुर्नस्थापित की गयी जो ह्वेनशांग के शिष्य 'की' के शिष्य 'ची चू' के शिष्य थे। सरकारी तौर पर ७६२ ई० मे उसका निबन्धन (रजिस्ट्रेशन) 'होस्सो सम्प्रदाय' के परिशिष्ट के रूप में किया गया। इसका पृथक् अस्तित्व नहीं है और न तो पृथक् सम्प्रदाय के रूप में इसके अनुयायी ही हैं।[१३५]

२. होस्सो या फाशियांग- यह सम्प्रदाय विज्ञप्तिमात्रता पर आधारित है। होस्सो का शाब्दिक अर्थ है 'धर्मलक्षण' अर्थात् 'अर्थ की विशेषताएं'। यहाँ धर्म मानसिक और भौतिक दोनों ही धर्मो (तत्वों) का द्योतक है क्योंकि इस संप्रदाय का मुख्य लक्ष्य सभी धर्मो के स्वभाव और विशेषताओं की खोज करना है। इस सम्प्रदाय के मूल संस्थापक आर्य असंग थे। भारत में प्रारम्भ में यह निकाय "योगाचार" कहलाता था। वसुबन्धु ने योगाचार विज्ञानवाद के बिखरे दार्शनिक विचारों को सुसम्बद्ध रूप में स्थापित करने में सफल होने के बाद इस निकाय का नाम "विज्ञप्तिमात्र" दिया जो समस्त बाह्य जगत को 'विज्ञान' का प्रक्षेप मानता है।

इस निकाय का पूर्ववर्ती निकाय शेनलुन (सम्परिग्रह) निकाय है। इस सम्प्रदाय की स्थापना आर्य असंग के ग्रन्थ 'महायान सम्परिग्रहशास्त्र' के आधार पर हुई, जिस पर भाष्य वसुबन्धु ने लिखा और जिसका अनुवाद चीनी में बुद्धशान्त ने ५३१ ई० में और परमार्थ में ५६३ ई० में और पुनः ह्वेनशांग ने ६४८–६४६ ई० किया। ये परमार्थकोशनिकाय और सम्परिग्रहनिकाय (शेलुन निकाय) दोनों के ही संस्थापक थे और यही निकाय आगे चलकर फाशियांग या होस्सो निकाय (धर्मलक्षण निकाय) के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इस निकाय को पूर्णरूप से सुसम्बद्ध करने का श्रेय मुख्य रूप से ह्वेनशांग के शिष्य 'की' को है। 'की' के दो मुख्य ग्रन्थ फायुवान–इ लिन चांग और 'वे शिह शु चि' इस सम्प्रदाय के मुख्य ग्रन्थ हैं और संस्कृत में इसका उत्स ह्वेनशांग की चीनी में अनूदित विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि है जिसका ज्ञान उन्हें वसुबन्धु के शिष्य धर्मपाल द्वारा हुआ था।[१३६]

संक्षेप में वसुबन्धु की मृत्यु के बाद उनका विज्ञानवाद तीन विचारधाराओं में विभक्त हो गया।

१. प्रथम विचारधारा के उद्‌वाहक दिङ्नाग, अगोत्र और धर्मपाल थे, जिनका केन्द्र नालन्दा विश्वविद्यालय था। शीलभद्र और उनके शिष्य ह्वेनशांग इसी विचारधारा में आते हैं।

२. दूसरी विचारधारा गुणमति और स्थिरमति की थी जिनका केन्द्र वलभी विश्वविद्यालय था जो चीन के श्यनतुल सम्प्रदाय के संस्थापक हैं, वो भी इसी विचारधारा के हैं।

३. तीसरी विचारधारा 'नन्द' की थी जिनका अनुसरण परमार्थ और जयसेन ने किया। जयसेन ने ह्वेनशांग के भी विज्ञप्तिमात्रता सम्बन्धी कुछ भ्रान्तियों को दूर किया था। यह विचारधारा थोड़े ही समय में भारत में लुप्त हो गयी।[१३७]

दार्शनिक चिन्तन

प्रतीत्य समुत्पाद-(विज्ञानवादी दृष्टिकोण)- अभी तक हमने काश्मीर वैभाषिक नय के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद का विवेचन किया है। प्रारम्भ में यह मात्र कारणता (हेतु-प्रत्यय) का सिद्धान्त था किन्तु कालान्तर में महायान का विकास होने पर यह बुद्ध की भाँति लोकोत्तर और सर्वदृष्टि विनिर्मुक्त बन गया और समस्त ब्राह्मण का मूल स्रोत। मानव मात्र ही नहीं अपितु समस्त सृष्टि मीमांसा और धर्ममीमांसा का यही उद्भव है।[१३८] मानव, पशु, पक्षी, पृथ्वी, पर्वत, नदी निर्झर, ग्रह और नक्षत्र सब इसी के द्वारा नियंत्रित और संचालित हो रहे हैं। मानव लोकों में ही नहीं देवलोकों और नरकों में भी यह हेतुफल सम्बन्ध परम्परा लागू है। यह व्याख्या त्रिकाल पर भी लागू है। असंस्कृत धर्मों को छोड़कर शेष सब धर्मो पर यह लागू है।[१३९]

बौद्ध दर्शन के विकास के दीर्घ कालीन इतिहास में प्रतीत्यसमुत्पाद का यह सिद्धान्त सभी बौद्ध सम्प्रदायों की व्याख्याओं का केन्द्र बिन्दु रहा किन्तु सबने अपने सम्प्रदाय के मूलभूत सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में इसकी विविध व्याख्याएं प्रस्तुत कीं। मौटे तौर पर इन व्याख्याओं को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

१. अभिधार्मिक
२. माध्यमिक तथा
३. विज्ञानवादी

१. आभिधार्मिक

इस सिद्धान्त का विशद विवेचन ऊपर किया जा चुका है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु की उत्पत्ति अनेक कारणों और अवस्थाओं के युगपद् अस्तित्व पर निर्भर हैं। यह दो घटनाओं

के बीच नियत साहचर्य है जो अपनी पूर्ववर्ती घटनाओं का अनिवार्य रूप में अनुसरण करती है। किसी घटना के घट जाने मात्र से यह निश्चित हो जाता है कि इस घटना के पूर्व कुछ कारण और अवस्थाएं अवश्य विद्यमान हैं[१४०] जो इस घटना को जन्म देती हैं। उदाहरण के लिए लालटेन से प्रकाश की उत्पत्ति के लिए तेल, अग्नि (माचिस) आदि ज्वलनशील वस्तु, ज्वलनकर्त्ता एवं अन्य अनुकूल अवस्थायें (पानी का न बर्सना, वायु का शान्त होना) आदि की उपस्थिति अनिवार्य है। इसी प्रकार मिट्टी के घट के निर्माण के लिए कुम्भकार, मिट्टी, चक्का, दण्ड आदि की उपस्थिति आवश्यक है।

२. माध्यमिक

इस मत के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद बाह्य जगत् में घटने वाली दो घटनाओं का पूर्वापर सम्बन्ध नहीं है। यह मात्र सापेक्ष शून्यता, अन्योन्याश्रयत्व या परस्परापेक्षत्व है जो दो वस्तुओं की शून्यता या निःस्वभावता का बोधक है।[१४१] जगत् की वस्तुएं स्वभाव[१४२] शून्य है जो दीर्घ और ह्रस्व की भाँति परस्पर आश्रित और सापेक्ष हैं। नागार्जुन की दृष्टि में सभी वस्तुएं अपने अस्तित्व के लिए अनेक वस्तुओं पर निर्भर हैं अतः उन्हें स्वभावयुक्त और स्वतन्त्र कहा ही नहीं जा सकता। अतः कारण और कार्य के बीच वास्तविक सम्बन्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता।[१४३] वस्तुतः जगत् की वस्तुएं भ्रमात्मक हैं। उत्पत्ति, स्थिति और विनाश गन्धर्व नगर, माया और अलातचक्र की भाँति असत् हैं। नागार्जुन तो यहाँ तक कहते हैं कि कारण कार्य परम्परा से उत्पन्न वस्तुओं और जगत से उत्पन्न वस्तुओं में तनिक भी अन्तर नहीं।[१४४]

३. योगाचार विज्ञानवादी मत

इस मत के अनुसार कारणात्मक सम्बन्ध प्रत्ययात्मक है। योगाचार दार्शनिकों का कथन है कि वे माध्यमिक दार्शनिकों के इस मत से सहमत हैं कि कारणात्मक सम्बन्ध वास्तविक नहीं है किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि कारणता सिद्धान्त मिथ्या और असत् है, बहुत बड़ी भूल होगी। वे यह कहते है कि माध्यमिक मत के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि कारण सम्बन्ध मात्र काल्पनिक या मानसिक हैं। स्थिरमति स्पष्ट शब्दों में घोषित करते हैं कि कारणता विषयक अभिधार्मिक (वस्तुवादी) और शून्यवादी दोनों ही मत अत्यधिक हैं और इसलिए त्याज्य हैं।

हमें बुद्ध के मध्यममार्ग को अपनाना चाहिए और वह है सम्प्रत्ययात्मक मत। अतः कारण सिद्धान्त न तो वास्तविक है जैसा कि वैभाषिक मानते हैं और न अवास्तविक है जैसा कि शून्यवादी मानते हैं अपितु प्रत्ययात्मक है। वस्तुतः वे प्रतीत्यसमुत्पन्न प्रत्ययों (विज्ञानों) का परिणाम है।[१४५] वसुबन्धु और स्थिरमति ने आलयविज्ञान की प्रक्रिया और कारणता को एकरूप माना है। इन दार्शनिकों के अनुसार कारणता का अभिधर्म सिद्धान्त नागार्जुन के कारणता के असत् सिद्धान्त से कहीं अधिक उत्कृष्ट है जो दो वस्तुओं के बीच पूर्वापर नियतसाहचर्य तथा अव्यभिचारी सम्बन्ध है किन्तु उनकी भूल इस बात में है कि वे यह सम्बन्ध दो वस्तुओं के बीच मानते हैं। जब वस्तुओं का अस्तित्व ही नहीं तो उनके बीच पूर्वापर नियतसाहचर्य सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः पूर्ववर्ती विज्ञानों के अनन्तर परवर्ती विज्ञानों की श्रृंखला चलती रहती है और यह तब तक चलती रहती है जब तक आलय का प्रवाह सूख नहीं जाता। ह्वेनशांग के अनुसार यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो उत्पाद और विनाश से युक्त है। यह निःस्वभाव नहीं जैसा माध्यमिक मानते हैं अपितु सस्वभाव है। यह अनिरोधम्, अनुत्पात्म्, अनुच्छेदम् और अशाश्वतम् नहीं अपितु सोत्पादम्, सनिरोधम् और उच्छेदम् है।[१४६] यह पद ऐसा संज्ञाशून्य ब्राह्माण्ड की ओर नहीं इंगित करती जिसकी सभी वस्तुएं और अंश शून्य और मात्र परिकल्पित सत्ता रखती हैं अपितु यह एक ऐसे ब्राह्माण्ड की ओर संकेत करती है जो सतत् प्रवाहशील है। वस्तुतः यह गति का सूचक है। शान्तरक्षित की दृष्टि में प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार प्रत्येक वस्तुक्षणिक और प्रवाहशील है। स्थिर, भूततत्व, द्रव्य, गुण, क्रिया, सामान्य, समवाय आदि का अस्तित्व नहीं है फिर भी कर्म और उसके फल की व्यवस्था निरन्तर चल रही है।[१४७]

योगाचार दार्शनिक वसुबन्धु और उनके अनुयायी यह मानते हैं कि कारणता वास्तविक नहीं है जैसा कि वाह्य वस्तुवादी दार्शनिक मानते हैं। तादात्म्य और अभाव की भॉति यह भी एक मानसिक वर्गणा है।[१४८] यह प्रागनुभविक (बाह्यारूढ़) है। बुद्धि के तीन अन्तर्निहित नियमों में से एक यह भी है। अन्य दो हैं, विरोध और तादात्म्य। इसकी उत्पत्ति अनुभव से नहीं होती अपितु अनुभव ही इसके फलस्वरूप उत्पन्न होता है। यदि ये तीनों नियम न हों तो हमारा अनुभव ही असंभव हो जाएगा। इसकी तुलना हम कांट की कारणता से कर सकते हैं जिसके अनुसार यह एक प्रागनुभविक सिद्धान्त है जो हमारे अनुभव को संभव बनाता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि यह एक अनिवार्य सम्बन्ध है जो अनुभव के दीपक से नहीं प्रकाशित होता अपितु अनुभव को

ही प्रकाशित करता है। यह वह दीपक या प्रकाश पुंज है जिसके कारण हमारा अनुभव सम्भव होता है। मानव बुद्धि अनुभव संग्रह रूपी रण प्रांगण में प्रयाण करने के पूर्व जिन तीन अमूल्य शस्त्रों से सुसज्जित है उनमें से एक यह भी है।[१४९] तादात्म्य की भाँति यह भी अविनाभाव (नियतसाहचर्य) का आधार है जो अनुमिति (ज्ञान) को सम्भव बनाता है।[१५०]

नैयायिक और वैशेषिक आदि वस्तुवादी दार्शनिकों ने विज्ञानवादी कारणता सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। वे पूर्वापर सिद्धान्त को नहीं मानते हैं। उनके अनुसार किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए कारण में सभी उपादानों का युगपद् अस्तित्व अनिवार्य है। शान्तरक्षित और कमलशील के अनुसार कारणता की उपर्युक्त वस्तुवादी अवधारणा स्वीकार करने पर अनेक कठिनाइयॉ सामने आएगीं। यदि गोश्रृंग की भाँति कारण एवं कार्य युगपद् विद्यमान हैं तो यह निर्णय करना कठिन होगा कि कौन कारण है और कौन कार्य। यह स्वीकार करने पर हम अन्योन्याश्रय दोष के दोषी होंगे।[१५१]

वस्तुतः क्रिया नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। सारा जगत् क्रियाशून्य है। न कोई कर्ता है, न कार्य, न सक्रिय अभिकर्ता और न बाह्य वस्तु। सत्ता स्वयमेव क्रिया (व्यावृत्ति) है। यह सतत् प्रवाहशील एवं क्षणिक है। वस्तुतः जगत् में प्रत्येक वस्तु या घटना सीमित शक्ति की है। यह ज्यों ही अस्तित्व में आती है त्यों ही क्षणिक स्वभाव होने के कारण तिरोहित हो जाती है और दूसरे क्षण एक अन्य घटना द्वारा अनुगमित होती है। इन परिस्थितियों के फलस्वरूप हम प्रथम (पूर्ववर्ती) को कारण या उत्पादक कहने लगते हैं और दूसरे (परवर्ती) को उत्पन्न कार्य या फल।

संदर्भ

१. चित्तमात्रता एवं बौद्ध प्रमाण व्यवस्था पृ० १०६– तिब्बत हाउस लोधी रोड, नई दिल्ली १९८९

२. अक्षस्य अक्षस्य प्रति विषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्-न्यायभाष्य। अक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्। न्यायवार्तिक

३. अभिधर्मकोश।

४. 'भारतीय न्यायशास्त्र' (डॉ० चक्रधर विजलवान) पृ० १७८ पर उद्धृत।

५. आत्मेन्द्रियमनोऽर्थ सन्निकर्षाद् यन्निष्पद्यते तदन्यत्– वैशेषिक सूत्र ३.१.१८

६. इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम् अव्यपदेश्यम्, अव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। न्याय सूत्र १.१.४

७ प्रत्यक्षम् अपरोक्षम्, अनभ्यूहितम्, अनभ्यहृयम् अभ्रान्तं प्रत्यक्षम्—योगाचारभूमिश्रुतिमयी-१०

८. न्याय वर्तिक १ १५, Buddhist theory of Perception by C.S Vyas p. 39

६. यस्यार्थस्य यद्विज्ञान व्यपदिश्यते यति तत् एव तद् भवति नाऽर्थात्वराद् भवति तत् प्रत्यक्षम्। न्यायवार्तिक पृ० ४२.१ १५

१०. रूपादिभ्य उत्पन्नं ज्ञानं घटस्य व्यपदिश्यते न ततोभविष्यतीत्यपक्षिप्तम्— वही पृ० ११

११ ग्राह्य ग्राहक ज्ञानयोरयुगपद् भावाज्ज्ञानम् अप्रत्यक्षं स्यात्— वही, पृ० ११

१२. न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका पृ० १.१०, १.४०

१३. भिन्नं काल कथ ग्राह्यम् इति चेद् ग्राह्यतां विदुः।
हेतुत्वमेव, तद् युक्त ज्ञानाकारार्पण क्षमम्।। वही, पृ० ११
भिन्न कालस्यापि सदृश ज्ञान जननम् एवहितस्य तज्ज्ञान प्रतिग्राह्यत्वम्, नान्यत्। वही, पृ० ११

१४. Buddhist theory of Perception p. ४०

१५. वही, पृ० ४०

१६. Vyas Buddhist theory of Perception p ४६

१७. वही, पृ० ४६

१८. वही, पृ० ४६

१६. तत्त्वपंजिका में उद्धृत, पृ० १६

२०. चित्तमात्रता एवं प्रमाण व्यवस्था पृ० १.३

२१. प्रमाणसमुच्चय, १.३

२२. रैपिक कृत द फ्रैम्मेण्ट्स फ्रॉम दिङ्नाग, पृ० ६

२३. प्रो० सरकरी मुखर्जी, बुद्धिज्म फिलॉसफी ऑव युनिवर्सल प्राबलम्स पृ० २८४

२४. तत्व संग्रह १२१

२५. तत्वसंग्रह, पृ० ३६०

२६. अभ्रान्त ग्रहणं विप्रतिपत्ति निराकारणार्थम्, न्यायबिन्दु टीका, पृ० ६

२७. ननु च भव तु नाम मानसं तथाप्यभ्रान्तग्रहणं कर्त्तव्यमेव न ह्यनेन्द्रिय ज्ञानस्यैव प्रत्यक्षलक्षणं कर्तुमारब्धं किं तर्हि? मानस्यापि योगिज्ञानादेः तत्र च स्वप्नस्यान्तिकस्यापि निर्विकल्पत्वमस्ति स्पष्ट प्रतिभासित्वात्, न त्वभ्रान्त त्वमिति तन्नि नृत्यर्थम् अभ्रान्तग्रहणं युक्तमेव— तत्वसंग्रह पंजिका पृ० ३६२

२८. वही, पृ० ३६२

२६. तिमिराशुभ्रमणं नौयान संक्षोभाद्यनाहित विभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। न्यायबिन्दु १.६

३०. 'मितेन लिंगो न अर्थस्य अनु पश्चात् मानमनुमानम्'। तर्कभाषा पृ० ११२

३१. न्यायभाष्य १.१११

३२. प्रत्यक्षम् अनुमान च प्रमाण हि द्विलक्षणम्। दिङ्नाग, प्रमाण समुच्चय।

३३. व्याप्तिबलेन अर्थमयकं लिंगम्– तर्कभाषा पृ० १११

३४. धूमाग्नी सहचरतः इति सहचरौ तयोभाव. साहचर्यम्। तर्कभाषा १११

३५. यत्र–यत्र धूमस्तत्र तत्र बह्निः
यत्र–यत्र अग्नि. तत्र तत्र धूमः। तर्कभाषा, पृ० ११२
योयो धूमवान् सो सोऽग्निमान् यथा महानस
व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञानं परामर्शः अथवा
व्याप्ति विशिष्ट वैशिष्ट्भाव ग्राहि ज्ञान परामर्शः। तर्कभाषा पृ० ११५

३६. लिगस्य तृतीय ज्ञान परामर्शः, वही, पृ० ११५

३७. तच्चानुमान द्विविधम्– स्वार्थ परार्थ चेति, तर्कशास्त्र पृ० ११३

३८. वही पृ० १३१

३९. यत्तु कश्चित् स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं बोधयितु पच्चावयनमनुमान वाक्य प्रयुङ्ते तत् परार्थाऽनुमानम्, तर्कभाषा, पृ० १३१

४०. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनावयवाः। न्यायसूत्र १.१.३२

४१. अवयवाः पुनेः प्रतिज्ञापदेश निदर्शानानुसन्धान प्रत्याम्नाया.। प्रशस्तपाद भाष्य।

४२. यदनुमेयेन संबद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिंगमनुमापकम्।। तर्कभाषा, पृ० १३२

४३. शरवात्स्की बुद्धिष्ट लॉजिक, भाग १, पृ० २४

४४. न्यायप्रवेश, पृ० १

४५. न्यायबिन्दु, पृ० २.५

४६. हेतुविन्दु, पृ० १

४७. तत्त्च संग्रह कारिका, १३२.४

४८. स्वार्थोऽनुमानं प्रमाणं न भवति त्रिरुपलिंगपुरवत्वान् मिथ्याज्ञानवत्– तत्त्वसंग्रहपंजिका, पृ० ४२६, पक्ति ३.४

४९. न च त्रैरुप्यम् अनुमिति कारणम् अननुमानेऽपि भावाद् द्वैरुप्यवत्। वही पंक्ति १

५०. यस्मात् साक्षात् अनुमेयाप्रकाशकत्वं तस्मान्न श्रोत्रपेक्षया वचस. प्रामाण्यम् अविनाभाव सम्बन्ध ज्ञानवदिति– वही, पृ० ४२६ पंक्ति २४–२५

५१. त्रिरुपलिग पूर्वत्वस्या प्रमाणे क्वचितदप्यभावात्, वही पृ० ४२६, पंक्ति २।

५२. यतस्त्रिरुप लिगज यज्ज्ञान तत् पारम्पर्येण वस्तुनि प्रतिबद्धमतोऽविसवादक प्रत्यक्षवत्, वही, पृ० ४२८, पक्ति ७–८,

५३. पूछलिगधियोरेवं पारम्पर्येण वस्तुनि।
प्रतिबन्धात् तदाभास शून्यौरप्यवचनम्।।, वही, पृ० ८.

५४. प्राब्लम् ऑव् नालिज इन योगाचार ब्रह्मिज्म, पृ० २१२

५५ वही, पृ० २२४

५६ वही, पृ० २१५, ६० नहि स्वभावः कार्य वा स्वाभावत् कारणादृते।

५७. भेदानिमित्तता प्राप्तेस्ते विनास्ति न चानुमा.।। तत्त्वसंग्रह श्लोक १४७८, देखिए प्रमाण वार्तिक १.३३११

५८. प्रमाणैतर सामान्य रिथतेरन्यधियोगन्ते.।
प्रमाणान्तर सद्भाव. प्रतिषेधाच्च कस्यचित्।।
न्यायकन्दली सम्बलित प्रशस्तपाद भाष्य, पृ० ६२३, पर उद्धृत।

५९. द्विविधोहि प्रमाणस्य विषयो ग्राह्यश्च यनाकारमुत्पद्यते।
प्रापणीयश्चयम् अध्यवसति अन्योहि ग्राह्योऽन्यश्चाध्यवसेयः।। न्यायबिन्दु टीका, पृ० १६

६०. अनादि वासना दौष्ठुल्य।

६१. न्याय कन्दली, पृ० ११२–११६

६२. अनधिगतार्थ अधिगन्तृ।
शुद्धमेव निराकारं ग्राहकं संविदस्ति हि। श्लोक वार्तिक शून्यवाद ७६।

६३. बुद्धिष्ट लॉजिक भाग २, पृ० ३६५ टिप्पणी।

६४. 'श्लोक वार्तिक सूत्र ४, प्रत्यक्ष ७५।

६५. विज्ञप्तिमात्रमेवेंद त्रैधातुकं तच्च विज्ञानं, प्रतिसत्वसन्तान भेदादनन्त।, अवि शुद्धं चानधिगतत्वानां विशुद्धं च प्रहीणाचरणानां प्रतिक्षण विसरारूच सर्वप्राणभृतामोजयते, तत्त्वसंग्रह पंजिका, पृ० ५५०, पक्ति ८–१०

६६. यद: यज्ज्ञानं तत्त्, ग्राह्य ग्राहकत्वद्धयरहितं ज्ञानत्वात् प्रतिबिम्बज्ञानवत्। वही, पृ० ५५०, पंक्तियां १३–१४

६७. धनुर्विध्यति, धनुषा विध्यति, धनुषो नि.सृत्य शरो विध्यतीति य च्यैकस्य धनुष. कर्तृत्त्वादय. कल्पित न विरूध्यन्ते तथेहापीति, वही, पृ० ३६६, पक्तियां २१–२२

६८. अत उत्प्रेक्षितो भेदो विद्यते धनुरादिवत्।
उत्पादधोत्पादकत्त्वेन व्यवस्थेये न नेष्यते।। तत्त्वसग्रह कारिका, १३४७

६९. नहि ग्राहकभावेन आत्मसंवेदनम् अभिप्रेतम्, किं तर्हि? स्वयं प्रकृत्या प्रकाशात्मतया नभस्तलवत्तर्मालोकवत्। तत्त्वसंग्रह पंजिका पृ० ५५६, पंक्तियां २१–२२

७०. क्रियाकारक भावेन न स्वसंवित्तिरस्य तु।
एकस्याजशरूयस्य चैरूप्यातुपपत्तितः।। तत्त्वसंग्रह २००१

७१. तदस्य बोधरूपत्वाद् युक्त तावत् स्ववेदनम्।
पदस्य स्वर्थरूपस्य तेनसवेदनं कथम्।। वही २००१

७२ श्लोक वार्त्तिक, शून्यवाद, श्लोक १८४, १८६

७३ ननु चार्यस्य संवित्ति ज्ञानेवाभिधीयते— तत्त्वसंग्रह २०७१

७४. वित्तिरूपलष्ठिरर्थ प्रतीति र्विज्ञप्तिरति ज्ञानमेवैतेः पर्यायैरभिधीयते— तत्त्वसंग्रह पंजिका, पृ० ५६३, पंक्ति १११

७५. ज्ञानस्यार्थानुभवा व्यतिरेकाम्युवगमे स्वसंवित्तिप्रसंगात्।
स्यादेतन्नार्थानुभवात्मत्तावाज्ज्ञानस्य प्रकाशकत्वमिष्टम्।। वही, पृ० ५६७, पंक्ति १७–१८

७६. सहोपलम्भनियमो अभेदो नील तद्धियो.।

७७ सह शब्दश्च लोकेऽन्यो नैवानेन बिना क्वचित्।

७८. विरूद्धो य ततो हेतुर्भदस्ति सहवेदनम्।। भदन्त शुभ गुप्त तत्वसग्रह पंजिका, पृ० ५६८, पक्ति १७–१८

७९. विषयस्य ज्ञान हेतु तयोपनिधिः प्रागुपलम्भ. पश्चात् संवेदनस्य इति। वही, पृ० ५६८, पक्तियां १६–२०

८०. यदि न किचिज्जानाति कथं तर्हि सर्वज्ञः स्यादिति। वही, पृ० ५७७, पंक्ति २७

८१. आकारवान् बाह्योर्थः सह बहिर्देश सम्बद्धः प्रत्यक्षुपलम्यते। मीमांसासूत्रभास्य १.१५, वही, पृ० ५७८, पंक्ति १४–१५–१

८२. न स्मरामि मया कोऽपि गृहीतोर्थस्तदेति हि।
सारन्ति ग्राहकोत्पाद, ग्राह्यरूपविर्जितम्।।
तस्मादभिन्नतायां च ग्राह्योपि स्मरण भवेत्
ग्राहक स्मृति निर्भासात् तत्राप्यसैव गृह्यते।। श्लोक वात्तिक–शून्यवाद ८३–८४

८३. निराकारं ज्ञानम्।

८४. सन्तया।

८५. अभिधर्मकोश कोशस्थान ६, बुद्धिष्ट लाजिक भाग २, पृ० ३४३–३४६

८६. अर्थक्रियाकारित्वलक्षणं—न्यायवार्त्तिक तात्पर्यटीका। पृ० १४, पंक्ति १३

८७. न्यायकन्दली, पृ० १२३–१२४

८८. चक्षुर्विज्ञानसगी नीलं विजानाति नतु नीलमिति, तत्त्वसंग्रह पंजिका पृ० १२ पक्ति २२

८९. अभिधर्मकोश कोशस्थान ६

९०. विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते। तत्वसंग्रह १३४४

९१. स्वतित्वर्वाप्रमाण तु सारस्य योग्यतेऽपि वा। वही १३४४

९२. येन कृत्येन चार्थ प्रायितो भवति स एवच प्रापणफलम्। न्यायबिन्दु टीका १.१६

६३ श्लोक वार्तिक, इन्द्रिय प्रत्यक्ष कारिका ७४–७५

६४. तत्त्वसंग्रहकारिका १३४५

६५. वही, १३४७

६६. विश्निषत्मान् सन्धौ च दार्वादौ परशुच्चिदा।
प्रविशन्तुच्यतेतेन तत्रैकत्वम् अवस्थितम्।। वही १३४८

६७ अवश्यमादौ व्यवस्था द्वारेयौव साध्य साधन सस्था कर्तव्या, नाहम व्यवस्थाप्य सविद् भेद विषयभेदेन नियमेन प्रवृत्तिर्युक्ता सविदभेदव्यवस्थायाश्च सारूप्यमेव निबन्धनमिति सामर्थ्यदिवायात सारूप्स्य साधकतमत्व सारूप्यादेव च ज्ञानस्य प्रवर्त्तत्व, प्रवर्त्तकस्य च प्रमाणत्वं प्रवृत्तिकामेन निरूप्यते न व्यसनितया–तत्वसंग्रहपञ्जिका, पृ० ४००, पंक्तियां ६–१०

६८. स व्यापार प्रतीतत्वात् प्रमाण फलमेव सत्।
प्रमाणत्वोपचारस्तु निर्व्यापार न विद्यते।। प्रमाणसमुच्चय १०६

६६ प्रमाणसमुच्चयटीका (जिनेन्द्रबुद्धिकृत) देखिए बुद्धिस्ट लॉजिक भाग २, पृ० ३७८–३८३

१००. अभिधर्मकोश कोशस्थान २

१०१. जिनेन्द्रबुद्धि– प्रमाणसमुच्चयटीका बुद्धिष्ट लॉजिक भाग २, पृ० ३८२–३८३

१०२. तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलम् अर्थप्रतीति– रूपत्वात्– न्यायबिन्दु १.१८

१०३. न्यायबिन्दु १.१६

१०४. तद् वशादर्थ प्रतीति सिद्धेरिति– न्यायबिन्दु १.२०

१०५. विग्रहवान् सबंधः।

१०६ परिशुद्धि बुद्धिस्ट लॉजिक भाग २, पृ० ३७२–३७७

१०७. प्रमाणवर्त्तिक, प्रत्यक्ष।

१०८. बर्कले

१०६. प्रमाणसमुच्चय १.६

११०. स्वसंवित्तिः फलं चास्य तद्रूप्यादर्थ निश्चयः।
विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते।। वही १.१०

१११. स्वस्मिन्नेव भासते।

११२. प्रमाणसमुच्चयवृत्ति बुद्धिस्ट लॉजिक भाग २, पृ० ३८६–३८७

११३. द्वयस्य नास्तित्वमुपेति धीमान्। महायान सूत्रालंकार विकल्पमात्रं त्रिभवं बाहयर्थ न विद्यते। लंकावतार– अनित्यता परवर्त कारिका, ७७

११४. नामार्थभावना।

११५. तत्वसंग्रह पजिका पृ० ३६७, पंक्ति २२–२३

११६ वासनापूर्व ज्ञानम्।

११७. बुद्धिस्ट लॉजिक भाग २, टिप्पणी ३, पृ० ३६७–३६८

११८. वस्त्रादेर्मृगमदादिना वास्यस्त्व यथा। न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका पृ० १४५, पंक्ति २२–२३

११९ न दृष्टार्थ क्रिया स्वलक्षण सालक्षण्येन (सारूप्येण) अपितु अनादिवासना वशात् अलोकस्यैव दाह्याकादिक सामर्थ्यारोपः। न्याय वार्त्तिक तात्पर्य टीका, बुद्धिस्ट लॉजिक भाग २, पृ० ३६८

१२०. न्यायकन्दली, पृ० २७६, पंक्ति १५, बुद्धिस्ट लॉजिक भाग २, पृ० ३६८–१२१

१२१. बुद्धिस्ट लॉजिक भाग २, पृ० ३६६

१२२. वही, पृ० ३६६–७०

१२३. ज्ञानात् पृथक् वस्त्वभावात्

१२४. बुद्धश्याएवं यदाइच्छा अनुभूयते तदा अर्थेच्छा निश्चीयते। बुद्धिस्ट लॉजिक भाग २, पृ० ३६०

१२५. यथानुभवमेव अर्थ प्रतीतिः न तु यथार्थानुभवम्। प्रमाणसमुच्चय १.१०

१२६. बुद्धिस्ट लॉजिक भाग २, पृ० ३८६–३६०

१२७. बुद्धिस्ट फिलॉस्फी।

१२८. द सेन्ट्रल फिलॉस्फी ऑफ बुद्धिज्म

१२९. कान्सेप्ट ऑफ रियलिटी– १६७१

१३०. कत्थ आपो च पठवी तेजो वायो न गाधति?
कत्थ दीघश्च रस्सच्च अनुम थालुम सुभासुभम्
कत्थ नामच्च रूपश्च असेसम् उपराज्भूतीति?
तत्र व्याकरणं भवति।
विच्आणम् अनिदस्सम् अनन्तम् सव्वतोपभम्।
एत्थ आपे च पठवी तेजो वायो न गाधति।
एत्थ दीघश्च रस्सश्च अणुम् थूलम् सुभासुभम्।
एत्थ नामश्च रूपश्च असेसम् उपरुज्झति।
इदम् अवोच कमवा। अत्तमनो केवद्थो गहपतिपुत्तो भासितम् अभिनन्दीति
दीर्घनिकाय भाग १, पृ० २६३

१३१. मनोपुष्वंगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया। धम्मपद १

१३२. अशोक चटर्जी– योगाचार आइडियालिज्म, पृ० ५४

१३३. वही, पृ० ५८

१३४. एसेन्सियल ऑफ बुद्धिस्ट फिलॉसफी, ताका कुसु

१३५. एसेन्सियल ऑफ बुद्धिस्ट फिलॉसफी, ताका कुसु, पृ० ३७

१३६. वही, पृ० ८५

१३७ पुसे 'वेटुनिर्माण– अध्याय ४, पृ० ८०–१०६

१३८ डॉ० सी०एल० त्रिपाठी, दार्शनिक चिन्तन, पृ० ४६

१३९. योगाचार, आइडियालिज्म, पृ० २६–३०
य. प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैवमध्यमा।। १५. मध्यमकशास्त्र, १५.१

१४०. बुद्धिस्ट लॉजिक भाग १, पृ० १४१

१४१. यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा।
तथोत्पादस्तथा स्थान तथा भंगमुदाछतम्।। वही, ७.१४

१४२. प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वं पुनर्विज्ञानस्य परिणय शब्देन ज्ञायते। दार्शनिक चिन्तन, पृ० ४६

१४३. आचार्य नरेन्द देव कृत, बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० ४४६

१४४. प्रकृतिशोभयात्मादि व्यापार रहितं चलम्।
कर्म तत्फल सम्बन्ध व्यवस्थादि समाश्रयम्।। तत्त्वसंग्रह १.१.६

१४५. शरवात्स्की बुद्धिस्ट लॉजिक भाग १, पृ० २६२, दार्शनिक चिन्तन, पृ० ५१

१४६. प्रमाणवार्त्तिक १–३३

१४७. महायान बुद्धिज्म, पृ० ८३

१४८. शान्तिदेव– बोधिधर्मावतार, पृ० २३–२४

१४९. कार्यकारण भावोऽयं नाऽन्यत्रैवं न दृश्यते।
नियमश्च न लभ्यते सव्यदक्षिणश्रृंगवत्।।
इदं कार्यमयं हेतुर्द्वयं नाऽन्योन्यसंश्रयात्।
तद्भावभावितामात्रं हेतुः केनैव कल्प्यते।।
श्लोकवार्तिक सूत्र ५, शून्यवाद– १५२–१५३–

१५०. आचार्य, नरेन्द्रदेव कृत, बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० ४४६

१५१. शेरवात्स्की बुद्धिस्ट लाजिक, भाग १, पृ० २६२

अध्याय ८

वसुबन्धु और अन्य दार्शनिक

(क) वसुबन्धु और अन्य बौद्ध दार्शनिक

प्रथम, वैभाषिक एवं विज्ञानवादी मत (विज्ञप्तिमात्रता) की तुलना– वैभाषिक एवं विज्ञानवाद दोनों दर्शनों में अनेक विषयों में वैमत्त्य है। हम विस्तार मे जाना नहीं चाहते क्योंकि शोधग्रन्थ अत्यन्त विशाल हो जाएगा, तथापि दोनों सिद्धान्तवादियों की दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण दार्शनिक मुद्दों के बारे में उनके अपने क्या विचार हैं– इसका अतिसंक्षेपतः निर्देश करने का प्रयास करेंगे–

(क) वस्तुसत्ता– वैभाषिक बाह्यार्थवादी हैं। विज्ञानवादी निर्बाह्यार्थवादी है। इनके मत में बाह्यार्थ परिकल्पित है अर्थात् खपुष्पवत अलीक है। ये केवल विज्ञान परिणाम की ही द्रव्यतः सत्ता स्वीकार करते हैं।

(ख) परमाणु– वैभाषिक परमाणुवादी हैं, यद्यपि परमाणु के बारे में उनके परस्पर अनेकविध मत हैं, तथापि सभी परमाणु की सत्ता स्वीकार करते हैं। विज्ञानवादी इसके विपरीत परमाणु नही मानते इसीलिये आचार्य वसुबन्धु ने विंशतिका में निरवयव परमाणु का बड़े जोरदार ढंग से खण्डन किया है, यथा–

षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता।
षण्णां समानदेशत्त्वात् पिण्डस्यादणुमात्रक।।[1]

(ग) स्वसंवेदन– वैभाषिक स्वसंवेदन नहीं मानते। विज्ञानवादी स्वसंवेदन मानते हैं क्योंकि विज्ञप्तिमात्रता की स्थापना में स्वसंवेदन का सिद्धान्त बड़ा सहायक होता है।

(घ) ज्ञानाकार– वैभाषिक मत में इन्द्रियजज्ञान निराकार माने जाते हैं। इसके विपरीत विज्ञानवादी कहते हैं कि चक्षुर्विज्ञान आदि ही रूपादि का ग्रहण करते हैं। केवल विज्ञानवादी ही नहीं

अपितु वैभाषिकों को छोड़कर समस्त बौद्ध सिद्धान्तवादी यह मानते हैं कि चक्षुर्विज्ञान रूप को देखता है।

(ङ) गोत्र– वैभाषिक गोत्रव्यवस्था को नहीं मानते किन्तु विज्ञानवादियों में इसका बडा ही महत्व है।

(च) निर्वाण– वैभाषिक निरोध का निर्वाण मानते हैं। इसके विपरीत विज्ञानवादियों के मत में निर्वाण द्रव्यतः सत् नहीं है जैसा कि वैभाषिक मानते है अपितु वह क्लेशावरण का अभावमात्र है।

(छ) बुद्धवचन– वैभाषिक महायानसूत्रों को बुद्धवचन नहीं मानते क्योंकि उनमें वर्णित विषय उन्हें अभीष्ट नहीं होते। इसके विपरीत विज्ञानवादी समस्त महायान् सूत्रों को विशुद्ध बुद्धवचन स्वीकार करते है।

(ज) वैभाषिक धर्म नैरात्म्य नहीं मानते। उनके मत में केवल एक नैरात्म्य है और वह पुद्गलनैरात्म्य है। इसके विपरीत विज्ञानवादी क्योंकि महायानी दार्शनिक है, अतः वे पुद्गलनैरात्म्य एवं धर्मनैरात्म्य दोनों मानते हैं।

द्वितीय, सौत्रान्तिक और विज्ञानवादी मत की तुलना

(क) बाह्यार्थ– सौत्रान्तिक बाह्यार्थवादी हैं जबकि विज्ञानवादी निर्बाह्यार्थवादी हैं।

(ख) परमाणु– सौत्रान्तिक परमाणु की सत्ता स्वीकार करते हैं जबकि विज्ञानवादी निर्वाह्यार्थवादी होने के कारण परमाणु की सत्ता स्वीकार नहीं करते।

(ग) ज्ञानाकार– सौत्रान्तिक एवं विज्ञानवादी दोनों इन्द्रियज आदि समस्त ज्ञानों को साकार मानते हैं।

(घ) स्वसंवेदन– दोनों ही स्वसंवेदन स्वीकार करते हैं। सौत्रान्तिक स्वसंवेदन मानते हुए भी बाह्यार्थवादी हैं, जबकि विज्ञानवादी स्वसंवेदन से विज्ञप्तिमात्रता की स्थापना करते हैं।

(ङ) निर्वाण– सौत्रान्तिकों के मतो में निर्वाण प्रसज्जप्रतिषेध है जो समस्त क्लेशों से रहितामात्र है। विज्ञानवादिसम्मत निर्वाण का स्वरूप ऊपर कहा जा चुका है।

(च) गोत्र– वैभाषिकों की भाँति सौत्रान्तिक भी गोत्र–व्यवस्था नहीं मानते किन्तु विज्ञानवादी इसे महत्वपूर्ण मानते हैं।

(छ) महायानसूत्र– प्राचीन या आगमानुयायी सौत्रान्तिक महायानसूत्रों को बुद्धवचन नहीं मानते थे किन्तु धर्मकीर्ति के बाद के अर्वाचीन या युक्त्यानुयायी सौत्रान्तिक धर्मकीर्ति आदि आचार्यों के प्रभाव से महायानसूत्रों को बुद्धवचन मानने लगे, फिर भी वे उनका अर्थ प्रकारान्तर से लेते थे। विज्ञानवादी तो विशुद्ध महायानसूत्रानुयायी हैं ही।

तृतीय, योगाचार माध्यमिक एवं विज्ञानवादी

आचार्य भावविवेक के अनन्तर योगाचार माध्यमिक दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ। आचार्य शान्तरक्षित इस दर्शन के प्रवर्तक हैं। आचार्य कमलशील आदि उनके अनुयायियों ने आगे चलकर इसके विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया है।

(क) बाह्यार्थ– यद्यपि योगाचार माध्यमिक निर्बाह्यार्थवादी हैं, तथापि वे बाह्यार्थशून्यता को परमार्थ नहीं मानते, अपितु वे उसे व्यावहारिक ही मानते हैं। आचार्य शान्तरक्षित व्यवहार में सत्याकारविज्ञानवादी हैं। इस तरह हम देखते हैं कि व्यावहारिक क्षेत्र में विज्ञानवादियो और आचार्य शान्तरक्षित में अत्यधिक साम्य है इसलिये उन्हें योगाचार माध्यमिक कहा जाता है।

(ख) आलयविज्ञान– आचार्य शान्तरक्षित के ग्रन्थों में यह स्पष्ट नहीं होता कि वे आलयविज्ञान मानते हैं या नहीं, तथापि उनके दर्शन के वातावरण या रुझान को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि वे आलयविज्ञान नहीं मानते। आचार्य चोंखापा का भी इस विषय में यही मत है।

(ग) स्वसंवेदनः– विज्ञप्तिमात्रता दार्शनिक स्वसंवेदन अवश्य मानते हैं। आचार्य शान्तरक्षित भी विज्ञप्तिमात्रतावादी हैं, अतः उन्होंने स्वसंवेदन का बड़े जोरदार ढंग से समर्थन किया है। अपने मध्यमकालोक में उन्होंने संवृतिसत्य और परमार्थसत्य का विशद निरुपण किया है। वहाँ संवृति की स्थापना करते हुए उन्होंने विज्ञप्तिमात्रता को सप्रमाण सिद्ध किया है और उसकी सिद्धि के लिये सहोपलम्भनियम का युक्ति के रूप में प्रयोग किया है, जिस सहोपलम्भनियम का प्रयोग आचार्य धर्मकीर्ति ने भी प्रमाणवार्तिक में किया है। सहोपलम्भनियम की प्रामाणिकता के लिये स्वसंवेदन का

मानना अत्यन्त आवश्यक होता है। इस तरह हम देखते हैं कि इस (स्वसवेदन) विषय में आचार्य शान्तरक्षित और विज्ञानवादियों में ऐकमत्य है।

(घ) परमार्थसत्यः— ऊपर कहा गया है कि आचार्य शान्तरक्षित विज्ञप्तिमात्रता को मानते हैं, तथापि वे निर्वाह्ययार्थता को परमार्थसत्य स्वीकार नहीं करते। इस विषय मे वे विज्ञानवादियो से भिन्न मत रखते हैं।

(ङ) धर्मचक्रः— आचार्य शान्तरक्षित ने अपने मध्यमकालोक में आर्यसन्धिनिर्मोचन आदि सूत्रों का अभिप्राय स्पष्ट करते हुये लिखा है द्वितीय धर्मचक्र के अन्तर्गत कुछ सूत्र ऐसे हैं, जो समस्त धर्मों की परमार्थतः निःस्वभावता या परमार्थतः अनुत्पत्ति आदि यथावत् प्रदर्शित करते हैं। कुछ सूत्र ऐसे भी हैं, जो समस्त धर्मों को निःस्वभाव या अनुत्पन्न आदि प्रतिपादित करते हैं।

परिकल्पित लक्षण परमार्थनिःस्वभाव है, अतः वह लक्षणनिस्वभाव है। परतन्त्रलक्षण परमार्थतः उत्पन्न नहीं है, अतः वह उत्पत्तिनिःस्वभाव है। परिनिष्पन्नलक्षण परमार्थसत्त्य है और वह धर्मात्त्मता से रहिततामात्र है, अतः परमार्थनिःस्वभाव है। इस तरह हम देखते हैं कि आर्यसन्धिनिर्मोचन में वर्णित त्रिविध लक्षणों के अर्थ का स्पष्टीकरण करने में आचार्य शान्तरक्षित एवं भावाविवेक आदि विज्ञानवादियों से सर्वथा भिन्न मत रखते हैं।

उपर्युल्लिखित ढंग से हमने विज्ञानवाद या विज्ञप्तिमात्रता की तुलना बौद्ध—धर्म के अन्य सम्प्रदायों या मतावलम्बियों से करने का प्रयास किया है। इस तुलना के फलस्वरूप विज्ञप्तिमात्रता में अन्तर्निहित तत्वों के स्वरूप पर और भी युक्तिसंगत ढंग से प्रकाश डाला जा सका है।

(ख) वसुबन्धु और बौद्धेतर भारतीय दर्शन

उपनिषद एवं विज्ञानवाद :-

उपनिषद् एवं बुद्ध—देशना का समय तथा तत्कालीन समाज को ऐतिहासिक दृष्टि से भी देखने पर प्रमुख तेरह चौदह उपनिषदों में से कुछ बुद्ध के पूर्व और कुछ कनिष्ककालीन अन्तिम संगीति तक अपने वर्तमान परिनिष्ठित रूप में आ चुके थे।

राहुल सांकृत्यायन के अनुसार ईश, छान्दोग्य एवं वृहदारण्यक ७०० ई० पूर्व० तक और कौषीतकी, मैत्री, श्वेताश्वतर– जो उनके अनुसार चतुर्थकाल के हैं– भी २०० से १०० ई० पू० तक रचे जा चुके थे।[2] इससे स्वय बुद्ध तथा इनके संगीतियों में भाग लेने वाले उनके अनुयायियों पर उपनिषदों की अनुक्रिया अथवा प्रतिक्रिया की सम्भावना की जा सकती है।

ब्लूमफील्ड, राधाकृष्णन, रानाडे[3] आदि विद्वानों ने उपनिषदों की प्राचीनता, वाङ्मय की विशालता तथा व्यापकता को ध्यान में ध्यान में रखते हुए सम्भवतः उन्हें सभी समवर्गीय तथा प्रतिवर्गीय वैदिक दार्शनिक विचारधाराओं का मूलस्रोत घोषित किया था। उस समय वे वैदिक तथा अवैदिक दोनों ही सम्प्रदायों में भौतिकवादी तथा अध्यात्मवादी मतमतान्तरों का बाहुल्य हो गया था। उपनिषदों में धर्म एवं ज्ञान के लिए उत्तरदायी ब्राह्मण कहीं से भी तत्त्वज्ञान के लिए आतुर, मर्यादा एवं प्रशासन के उत्तरदायी राजा गाड़ीवान तक से जिज्ञासापूर्ति के लिये दौडता दृष्टिगोचर होता है। इतना ही नहीं पुरुषों के अलावा मैत्रेयी, सदृश स्त्रियाँ भी अमृतत्त्व प्रदायक तत्त्वज्ञान की खोज में लीन थीं।

इसके अतिरिक्त केनोपनिषद का "केनेषितं पतति मनः" (१/१) स्वयं सामान्य जिज्ञासा का द्योतक है। इसी प्रकार त्रिपिटकों में भी अजितकेशकम्बल सदृश घोर भौतिकवादी, मक्खलिगोशाल सदृश अकर्मण्यतावादी जैन तथा ब्राह्मणविरोधी पूर्णकश्यप जैसे सदसत्त्कर्मों को निष्फल मानने वाले अक्रियावादी, प्रकुध कात्त्यायन जैसे दृश्यतत्त्वों में अखण्डनीय सूक्ष्म अंश की उपस्थिति मानने वाले नित्त्यपदार्थवादी, संजयवेलट्ठिपुत्त सदृश अनेकान्तवादी तथा महावीर[4] सदृश सर्वज्ञतावादी दृष्टिगोचर होते हैं।

अब हम विज्ञानवाद तथा उपनिषद् के सम्बन्धों के बारे में चर्चा करेंगे–

विज्ञानवाद का मूल बौद्ध मूल त्रिपिटकों में यत्र–तत्र प्राप्त दार्शनिक वाक्यों में मिलता है, किन्तु महामहोपाध्याय हरप्रसादशास्त्री ने मैत्रेयनाथ[5] को तथा परस्परा ने असंग को विज्ञानवाद का उद्भावक होने का श्रेय दिया है। इस विषय में डॉ० गोविन्दचन्द पाण्डेय का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है जिसके अनुसार विज्ञानवाद की एक रहस्यवादी अनुभूति के रूप में प्रथम अभिव्यक्ति उपनिषदों में हुई थी, जिसकी कुछ प्रतिध्वनि प्राचीन बौद्ध सूत्रों में तथा विस्तार महायानसूत्रों में

उपलब्ध होती है। कालक्रम तथा युगीन प्रवृत्ति को देखते हुए प्रारम्भिक विज्ञानवादी दर्शन पर उपनिषदों का प्रभाव अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह बात दूसरी है कि दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि का तार्किक विज्ञानवाद ज्यों–ज्यों रहस्यात्मक अनुभूतियों से दूर और तर्क के अधिक निकट बढ़ता गया, त्यों–त्यों दोनों की दूरी बढती गई। वस्तुतः बौद्ध महायान सूत्रों पर आधारित कहा जाने वाला वसुबन्धु इत्यादि का विज्ञानवाद औपनिषद विज्ञानवाद के तथा उपनिषन्मूलक शाकर अद्वैत विज्ञानवाद के अत्यन्त निकट हैं। औपनिषद्र दर्शन के लिए शान्तरक्षित के वाक्य– "तेषामल्पापराधं तु दर्शनं नित्यतोक्तिः"[६] से बौद्धविज्ञानवाद की निकटता ही प्रतिपादित होती है। इसी प्रकार शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहना, आचार्य गौडपाद की स्वीकृति कि– "ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम्"[७] और स्वयं शंकर के द्वारा की गई पुष्टि कि– "विज्ञानवादिनो बौद्धस्य वचनं बाह्यार्थवादिपक्षप्रतिषेधपरं आचर्येण अनुमोदितम्"[८] परस्पर आदान–प्रदान के पोषक हैं।

उपनिषदों में विज्ञान एवं उसका स्वरूप

उपनिषदों में अद्वैती विज्ञानवाद का पोषण राहुल जी[९] करते हैं। उनमें अनेक स्थानों-स्थानों पर विज्ञान, प्रज्ञान आदि शब्दों का प्रयोग अनेकशः हुआ है। वृहदारण्यकोपनिषद में विज्ञानमय पुरुष का विशद निरुपण है।[१०] वहीं याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी तथा जनक को आत्मा का स्वरूप द्वैतरहित विज्ञानधन बतलाया है।[११] ऐतरेयोपनिषद में प्रज्ञान के पर्याय और स्वरुप इन पंक्तियों में और भी स्पष्ट हो जाते हैं कि–"यदेतत् हृदयं मनश्चैतत्, संज्ञानमज्ञानं प्रज्ञानं मेधा वृतिर्मनीषा श्रुतिः स्मृतिः संकल्पः क्रंतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति।"[१२] यही सभी देवता, पञ्चमहाभूत, जीव, स्थावर एव जंगम प्रतिष्ठित कहे गये हैं–"प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञाप्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म" है।[१३] यह प्रज्ञान ही "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" हैं।

विज्ञान अथवा प्रज्ञान नाम मात्र से बौद्धविज्ञानावाद की अधर्मणता नहीं सिद्ध करनी है। वस्तुतः विंशतिका तथा त्रिंशिका में विज्ञान के लक्षणहेतु प्रयुक्त अनेक शब्दों का ठीक वही अभिप्राय प्रतीत होता है जो उपनिषदों में प्रज्ञानधन ब्रह्म या आत्मा के लिये प्रयुक्त पदों का है। यद्यपि गौतमबुद्ध ने आत्मा, ईश्वर, विश्व की नित्यता आदि को अव्याकरणीय कहा है, तथापि उन्हीं के द्वारा तथा तदुनुवर्ती दार्शनिकों द्वारा इनका विवेचन किया ही गया है।

उपनिषदों में प्रयुक्त शुद्धम, भ्रान्तम् आदि स्वतः प्रकाशतत्त्व के उपलक्षण हैं। यही नहीं, आत्मा से अभिन्न सिद्ध हो रहे चित्त अथवा विज्ञप्ति को शुद्धलक्षण स्वतः प्रभास्वर आदि मानने के अतिरिक्त आत्मा की ही भाँति उसको एक नित्य तत्व स्वीकार करना पड़ा है।

'लंकावतारसूत्र' को देखने से ऐसा लगता है कि यदि बौद्धदर्शन के शब्दो के स्थान पर वहॉ समान औपनिषद अद्वैतवाद के शब्द रख दिए जायें तो प्रकारान्तर से वह अद्वैतवेदान्त का ग्रन्थ हो जायेगा। महायानसूत्रालंकार तो माना अनित्त्यता, क्षणभंगवाद, दुःखमयता का खण्डन करने के लिए ही लिखा गया था। त्रिंशिका में भी विज्ञान को अनास्रवधातु, अचिन्त्य, कुशल, ध्रुव, सुख, विमुक्त तथा धर्मकाय[९४] कहा गया है। सुख, ध्रुव आदि शब्दों का अर्थ त्रिंशिकाभाष्य में द्रष्टव्य है– "ध्रुवों नित्त्यत्त्वाद् अक्षयतया, सुखो नित्त्यत्त्वाद तद् 'दुःखं, अयं च नित्त्यः इत्त्यस्मात् सुख.।"

डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय के शब्द इस सन्दर्भ में अत्यन्त उपयुक्त लगते हैं कि उपनिषदों में विज्ञान अथवा प्रज्ञान का महत्व आत्मस्वरुप होने के कारण है, अत्मनिरपेक्ष रूप से नहीं। इसी प्रकार आचार्य नरेन्द्रदेव ने धर्मकाय तथा औपनिषद् सत् की तुलना करते हुए कहा है कि दोनों मन एवं वाणी के विषय नहीं है और दोनों के स्वरूप का निरुपण नहीं हो सकता।[९५] उसी ग्रन्थ में (पृ० ११६–११७ पर) त्रिकाय–स्तुति का एक श्लोक उद्धृत किया है जो पूर्णतः किसी वेदान्त ग्रन्थ का मंगलाचरण सा प्रतीत होता है और उससे माण्डूक्यश्रुति के अदृष्टतम् आदि की स्मृति आती है–

> यो नैको नाप्यनेको स्वपरहितमहासम्पदाधारभूतो।
> नैवाभावो न भावः रवमिव समरसो निर्विभावस्वभावतः।।
> निर्लेपं निर्विकारं शिवमसमसमं व्यापिनंनिष्प्रपञ्चं।
> वन्दे प्रत्त्यात्मवेद्यं तमहमनुपमं धर्मकायं श्रिनानम्।।

इस साम्यों को देखकर प्राच्यविद्याविशारदो ने वसुबन्धु के विज्ञानवाद को सदैव वेदान्त के अत्यन्त निकट बतलाया और विज्ञप्तिमात्र, आत्मा या ब्रह्म, आलयविज्ञान एवं ईश्वर, मनोविज्ञान एवं जीव, विषयविज्ञप्ति एवं जगत् एवं परिणाम एवं विवर्त को एक रूप कहा है। तथागतगर्भ में अन्तर केवल अनिर्वचनीयता का बतलाया है–"परमार्थस्तु महामते आर्यज्ञान–प्रत्त्यात्त्मगतिगम्यो न वाग्विकल्पबुद्धिगोचरः।"[९७] सारांश यह है कि जिन अर्थों में उपनिषदों अथवा वेदान्त का आत्मा या

ब्रह्म अवाच्य है, उन्हीं अर्थो में पूवचर्चिति विज्ञप्ति या चित्तम् भी। इसी प्रकार औपनिषद् आत्मा या ब्रह्म और बौद्धसूत्रों तथा असंग से प्रतिपादित विज्ञप्ति या चित्त अभिन्न प्रतीत होते हैं।

निर्वाण एवं उपनिषद

जिस प्रकार महायानी सूत्रग्रन्थों और असंग तथा वसुबन्धु के यहाँ विज्ञप्ति या चित्त आत्मा की भाँति नित्त्य, शाश्वत, आनन्दस्वरूप और चिदात्त्मक हैं, उसी प्रकार निर्वाण भी मोक्ष की भाँति भावरूप है। निर्वाण क्लेशक्षय मात्र नहीं माना जा सकता, क्लेश नाश के बाद सुखस्वरूप, प्रज्ञप्ति शेष रहने से अनन्दावाप्ति स्वतः सिद्ध है। अश्वघोष का कथन है कि "क्लेशक्षयात् निर्वृतिमम्युपैति" इसी तथ्य का द्योतक है कि जिस प्रकार स्नेहादि के क्षय से दीप न अवनि में आता है न अन्तरि में, अपितु मात्र निर्वृत्ति प्राप्त करता है, उसी प्रकार प्रज्ञान (विज्ञप्ति) भी क्लेशों के क्षीण हो जाने पर शुद्ध रूप में अवस्थित हो जाता है। यही भाव तथता, भूततथता, धर्मकायावस्थिति आदि नामों से ज्ञेय है। अश्वघोष के मत का समर्थन करते हुए आचार्य नरेन्द्रदेव कहते हैं कि शुद्धत्त्व विज्ञान की परिशुद्धि है और यदि विज्ञान वास्तव में संमिलिष्ट होता, तो वह शुद्ध न हो सकता। सूत्तनिपात के रतनसुत्त के शब्द–निव्वन्ति धीरा यथा यं प्रदीपों, विनयसुत्त के निव्वानं पदमुच्चतं, इतिवृत्तक के – निव्वानं अकुतो भयं तथा धम्मपदं के शब्द– निव्वानं परमं सुखं आदि में यही सिद्ध होता है कि निवृत्ति की स्थिति सुखमयी है, उपनिषदों की भाषा में यही अतिमृत्त्युगमन है, ब्रह्मविदव्रह्मैव भवति है। यही अमृतत्व का प्राशन है।

अवश्वघोष के ही सौदरानन्द के शब्द (१६/२६) "शान्तं शिवं साक्षिकुरुष्व धर्म, क्षेमं पदं नैष्ठिकामच्युतं तत्"[१८] की मोक्ष की परिभाषा से तुलनीय है। महायानसूत्र (६/२)[१९] का– ततश्च मोक्षो भ्रममात्रसंक्षयः, वाक्य मानों वेदान्त के मोक्ष का लक्षण हो। वसुबन्धु के वचन– महाब्रहत्त्वं तत्त्फलम् भ्रमण्यममत्मो मार्ग ब्राह्मण्यमेवैतत्"[२०] से उक्त विचारों की ओर भी पुष्टि होती है।

लंकावतारसूत्र में आलयविज्ञान से प्रवृत्तिविज्ञान की तरंगे उठती बतलायी गयी हैं। शान्त होने पर मात्र......प्रज्ञान शेष रह जाता है। इसके सदृश ही औपनिषद मन्त्र द्रष्टव्य है– "य यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं यान्ति, गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्त्येव प्रोच्यते (प्रश्न–६)[२१]

इन सब समताओं एवं एकरुपताओं के आधार पर यह निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है कि विज्ञानवाद के विकास के पूर्व स्थित उपनिषदों का विज्ञानवाद पर अवश्य ही प्रभाव पडा था।

२-वसुबन्धु तथा शांकर विज्ञानवाद

प्रथम, शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य के तर्कपाद में बौद्धों के क्षणिक विज्ञानवाद की अयौक्तिकता सिद्ध की है। उनके खण्डन का आधारभूत मुख्य तर्क यह है कि यदि विज्ञानवाद का समुचित विवेचन किया जाय तो ज्ञान–ज्ञेय व्यवहार तथा घटपटादि भेद व्यावहारिक जीवन में असंभव हो जायेगा। किन्तु शंकराचार्य के दर्शन पर भी यही बात लागू होती है। उनका मायावाद जगत मात्र को मिथ्या कहकर व्यावहारिक सत्य का अलाप करता है। किन्तु व्यावहारिक तथ्यों का कोई न कोई दार्शनिक स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर प्रत्येक दार्शनिक सिद्धान्त अपने को व्यवहारानुगामी सिद्ध करने की चेष्टा करता है। मायावाद ने त्रिविध सत्ता के सम्प्रत्यय का प्रतिपादन कर व्यवहार की रक्षा की है। वसुबन्धु ने भी ऐसा ही किया है। उन्होंने भी अपने त्रिस्वभाव सिद्धान्त (परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न) द्वारा ज्ञान–ज्ञेय भेद की भी इसी प्रकार रक्षा करने में समर्थ हुए हैं। इसलिए शंकराचार्य द्वारा वसुबन्धु के विज्ञानवाद की व्यावहारिक जगत् के अपलाप की आपत्ति उठाकर उसका खण्डन करना बहुत कुछ अधिक समीचीन नहीं प्रतीत होता। स्वयं शंकराचार्य ने अपनी दशश्लोकी में "न शास्ता न शास्त्रं न शिष्यो न शिक्षा न च त्त्वं न चाहं न चायं प्रपञ्चः" जैसे वचनों द्वारा व्यावहारिक जगत् का खण्डन किया है। वसुबन्धु और शंकराचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों में समानता होते हुए भी इन दार्शनिकों में निम्नलिखित बिन्दुओं पर महत्वपूर्ण भेद है। उदाहरण के लिए प्रथम, वसुबन्धु के मत में विज्ञान क्षणिक है, वह नितान्त अनाद्यनंत रूप नहीं हो सकता। किन्तु शांकरमत में विज्ञान परमार्थतः ब्रह्मरूप होने से अनादि, अनन्त तथा एकमात्र सत्य है।

द्वितीय, भारतीय प्रत्ययवाद का वर्णन उक्त उपनिषदों में है। उसके बाद सांख्य दार्शनिक वार्षगण्य एवं विन्ध्यबासी ने उस प्रत्ययवाद को एक दार्शनिक सम्प्रदाय का रूप दिया। तत्पश्चात् असंग एवं वसुबन्धु ने उसके आधार पर बौद्ध–मत को एक नई दिशा दी और 'विज्ञप्तिमात्रतावाद' की स्थापना की। उनके अनन्तर बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति ने विज्ञानवाद को तार्किक धरातल पर खड़ा किया एवं साकार विज्ञानवाद की स्थापना की। उनके साकार विज्ञानवाद की आलोचना शंकर एवं उनके शिष्य सुरेश्वराचार्य ने की एवं केवलाद्वैतवाद की स्थापना की। उससे

विज्ञानवाद की स्थापना की। तत्पश्चात् बौद्ध सिद्धों एवं शैवनाथों ने आध्यात्मिक प्रत्ययवाद का विकास किया जिसको तार्किक आधारों पर परवर्ती अद्वैत आचार्यो ने रखा। अन्त मे आधुनिक भारतीय भाषाओ के निर्गुण सन्तों ने विशुद्ध आध्यात्म का परिष्कार करके आदर्शवाद के रूप में प्रत्ययवाद की स्थापना की, जिसमें नैतिकता एवं आध्यात्मवाद का पुट विशेष रूप से है।

संक्षेप में भारतीय प्रत्ययवाद की यही मुख्यधारा है जिसका प्रभाव भारत के अतिरिक्त एशिया के समस्त देशों पर पडा है। इस समग्र धारा के परिप्रेक्ष्य में बौद्धमत को उपनिषदमूलक कहना और शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहना कोई गाली नहीं है। असंग एवं वसुबन्धु अपने बौद्धमत को मानते हुए भी प्रत्ययवादी थे और ठीक इसी प्रकार शंकराचार्य अपने अद्वैतवाद को मानते हुए भी प्रत्ययवादी थे। आइन्स्टाइन यहूदी होते हुए भी आधुनिक विज्ञान को मानते थे और अंग्रेज दार्शनिक हैल्डेन ईसाई होते हुए भी आइन्स्टाइन के सापेक्षतावाद को मानते थे। इसी प्रकार प्रत्ययवाद एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है, जिसका सामञ्जस्य बौद्धों तथा वेदान्तियों ने अपने–अपने धर्म से कर लिया था। अतएव प्रत्ययवाद का विवचन धर्म–निरपेक्षता की पृष्ठभूमि में करना चाहिए।

तृतीय, साक्षी सिद्धान्त :– अब हम वसुबन्धु के विज्ञानवाद की समीक्षा शंकराचार्य के परिप्रेक्ष्य में करेंगे। शंकराचार्य ने 'शारीरकभाष्य' के तर्कपाद में बौद्धविज्ञानवाद का खण्डन किया है। उसका विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि उन्होंने आत्मख्यातिवाद, सारुप्यवाद, सहोपलम्भनियम, निरालम्बनवाद, स्वयंसंवेदनवाद, वासनासिद्धान्त, क्षणिकविज्ञानवाद, आलयविज्ञान तथा विज्ञानभेदवाद का खण्डन किया है। यहीं नहीं उन्होंने स्वप्रकाशवाद और बौद्ध–स्वयसंवेदनवाद का भी अन्तर स्पष्ट किया है। वे विज्ञानों से भिन्न एक साक्षी को स्वीकार करते हैं, किन्तु वसुबन्धु उसको वहीं स्वीकार करते हैं। पुनश्च उन्होंने यह भी संकेत किया है कि यदि आलयविज्ञान को स्थिर मान लिया जाय जैसा बौद्ध में लंकावतार सूत्र के अवलोकन से प्रतीत होता है तो बौद्ध–विज्ञानवाद अपने सिद्धान्त को छोड़कर अद्वैतवाद में परिणत हो जाएगा। यह उनके उस विरोध–परिहार का दृष्टिकोण है, जिससे प्रेरित होकर वे अन्य मतों का खण्डन कर रहे थे।

डॉ० चन्द्रधर शर्मा के अनुसार शंकराचार्य की आलोचना केवल दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति के स्वतन्त्र विज्ञानवाद पर लागू होती हैं और असंग एवं वसुबन्धु के विज्ञप्तिमात्रतावाद पर नहीं[22] जो

शाश्वत और नित्य है। किन्तु शान्तरक्षित के अनुसार समस्त बौद्ध विज्ञानवादी विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि को मानते हैं।[23] शंकराचार्य की आलोचना वसुबन्धु के विज्ञप्तिमात्रता पर भी लागू होती है।

चतुर्थ, बौद्ध विज्ञानवाद् के अर्थ एवं प्रत्यय के अभेद का अखण्डन :– वास्तव में शंकराचार्य की आलोचना का मुख्य लक्ष्य बौद्ध विज्ञानवाद के अर्थ एवं प्रत्यय के अभेद का खण्डन करना है। बौद्ध विज्ञानवाद की ज्ञानमीमांसा अर्थापलाप करती है, वह एकत्त्ववादी है जैसे बर्कले की ज्ञानमीमांसा। परन्तु शंकराचार्य की ज्ञानमीमांसा समीक्षात्मक यथार्थवाद पर प्रतिष्ठित है, जिसके अनुसार ज्ञान में साक्षी, प्रत्यय और विषय ये तीन तत्व हैं। वे विज्ञान और विषय में बौद्ध–विज्ञानवादियो की भाँति, अभेद सम्बन्ध नहीं मानते, अपितु तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं। तादात्म्य सम्बन्ध में विज्ञान विषय का ज्ञापक है। फिर बौद्ध विज्ञानवादी आलयविज्ञान को विज्ञप्तिमात्रता का प्रथम परिणाम मानते हैं किन्तु यह बात लंकावतारसूत्र पर नहीं लागू होती जो विज्ञानवाद के वैपुल्यसूत्रों (नौ धर्मो) में प्रमुख स्थान रखता है और आलयविज्ञान को कूटस्थ नित्य मानता है एवं मनोविज्ञान एवं प्रवृत्तिविज्ञान को वे क्रमशः द्वितीय एवं तृतीय परिणाम मानते हैं। शंकराचार्य के साक्षिन् आत्मा एवं विज्ञान में भी तादात्म्य सम्बन्ध है। इस प्रकार जहाँ बौद्ध–विज्ञानवादी विज्ञप्तिमात्रता एवं विज्ञानों में कारण–सम्बन्ध मानते हैं वहाँ शंकराचार्य उसमें तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं। बौद्धों का विज्ञानवाद सृष्टिवैज्ञानिक प्रक्रिया पर आधारित है, शंकराचार्य का प्रत्ययवाद तार्किक–विश्लेषण पर निर्भर है।

अर्थ एवं प्रत्यय के अभेद का खण्डन करने के कारण कुछ लोग शंकराचार्य को यथार्थवादी समझतें हैं। परन्तु वे यथार्थवादी नहीं हैं। उन्होंने प्रत्ययवाद को तादात्म्य सम्बन्ध पर प्रतिष्ठित किया है। विषय विज्ञान के बिना नहीं हो सकते, यद्यपि वे विज्ञान से भिन्न हैं। ज्ञान के तीनों तत्व एक दूसरे से पृथक् नहीं है, यद्यपि वे एक दूसरे से भिन्न हैं। भिन्नता एवं पृथक्ता का जैसा अन्तर शंकराचार्य ने किया है, वैसा ही अन्तर इस युग के महान प्रत्ययवादी ब्रैडले ने भी किया है। वे कहते हैं कि निरपेक्ष तत्व में अनेक भेद हैं, किन्तु वे सभी भेद निरपेक्षतत्व से पृथक् नहीं हैं और न वे आपस में ही पृथक् हैं।[24] यह निरपेक्ष तत्व अपरोक्षानुभूति है।

परन्तु क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि शंकराचार्य को ब्रैडले की भाँति निरपेक्ष–तत्व में स्वगत–भेद मानना पड़ेगा? वास्तव में शंकराचार्य विषय को अनिवर्चनीय मानते हैं। वे न तो सत् हैं

और न असत्। विषय अभ्यस्त हैं। अतएव उनके कारण आत्मा में जो विज्ञानभेद प्रतीत होते हैं, वे भी अध्यस्त हैं। प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय की त्रिपुटी कल्पित है। अतएव इनके कारण आत्मा में वस्तुत· भेद नहीं होते हैं। इस प्रकार आत्मा में स्वगत भेद की कल्पना का का परिहार संभव है। किन्तु प्रश्न है, क्या बौद्ध विज्ञानवादी भी इसी प्रकार विज्ञप्तिमात्रता में विज्ञान–भेद कल्पित नहीं कर सकता? वह भी तो कहता है विज्ञप्तिमात्रता में ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय के भेद नही है और ये सारे भेद कल्पित हैं। यदि ऐसा है तो बौद्ध–विज्ञानवाद एवं शांकर वेदान्त मे अन्तर कहाँ रह जाता है? क्या विज्ञप्तिमात्रता एवं आत्मा एकार्थक नहीं हैं?

परमार्थतः आत्मा एवं विज्ञप्तिमात्रता में पर्याप्त समानता है। किन्तु दोनों को निषेधात्मक आधारवाक्यों के कारण हम एक नहीं कह सकते हैं।

पञ्चम, विज्ञप्तिमात्रता एवं साक्षि चैतन्य में भेद :– पुनश्च विज्ञप्तिमात्रता एवं साक्षि–चैतन्य एक नही है, जो सभी विज्ञानों में व्याप्त हो या सर्वव्यापी हो। आत्मा सर्वव्यापी है। विज्ञप्तिमात्रता स्वयं अपने अन्दर से विज्ञानों का आविर्भाव करती हे, जिसको समझ लेने से उनका तिरोभाव सम्भव हो जाता है और इस प्रकार विज्ञप्तिमात्रता का साक्षात्कार सुलभ हो जाता है। विज्ञप्तिमात्रता द्रष्टा के अतिरिक्त कर्ता भी है किन्तु आत्मा शुद्ध ज्ञान है, वह द्रष्टा एवं कर्ता नहीं है। विज्ञानों की उत्पत्ति केवल आत्मा नहीं कर सकती। उनकी उत्पत्ति अनिर्वचनीय है और उसका कारण भी अनिर्वचनीय है, इस प्रकार अनिर्वचनीयरूपा माया को स्वीकार करने के कारण शंकर आत्मा को विज्ञप्तिमात्रता से भिन्न करते हैं। विषयों की विचित्रता का कारण एकमात्र कल्पना या वासना नहीं है, अपितु माया भी है जो वासना से भिन्न है।

छठा, वसुबन्धु और शंकराचार्य के माया सिद्धान्त में अन्तर :-

वसुबन्धु और अन्य बौद्धविज्ञानवादी माया को मानते हैं किन्तु दोनों में तात्विकरूप से भेद है। बौद्धविज्ञानवादी की माया व्यक्तिगत कल्पना शक्ति या वासना है। इससे विपरीत शंकराचार्य की माया सार्वभौमिक शक्ति है। वह व्यष्टिगत न होकर समष्टिगत है। अतः उसको तत्व, अतत्व, सत्, असतादि निश्चित पदों द्वारा परिभाषित नहीं किया जा सकता।

वास्तव में शंकराचार्य आत्मा के अतिरिक्त यत्किंचित को मानते हैं, क्योंकि आत्मा स्वयं अपना ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकती है। यही यत्किञ्चित् विज्ञानों की विचित्रता एवं स्वरुपता का

नियामक है। परन्तु यह यत्किञ्चित् माया या मिथ्या है क्योंकि इसका जो भी अर्थ किया जाय, वह कल्पित होता है, और वस्तुसत् से भिन्न रहता है। यह सत्य है कि बौद्धविज्ञानवादी भी इस रूप में माया को मानता है किन्तु वह हठवादी है। वह कहता है कि यत्किञ्चित् का वास्तविक ज्ञान नही प्राप्त हो सकता है अतः वह असत् है। शंकराचार्य ऐसा नहीं करते हैं। वे एक खुली सम्भावना को सुनिश्चित करते हैं। यत्किंञ्चित् का हमारा ज्ञान भले ही मात्र कल्पित रहा हो किन्तु यह स्वयमेव कल्पित नहीं है। वह हमारे मनोविज्ञान से भिन्न एवं व्यतिरिक्त है और वह आत्मा या विज्ञप्तिमात्रता से भी भिन्न है।

यत्किञ्चित् की ऐसी सम्भावना मानने के कारण ही शंकर विषयनिष्ठ–प्रत्ययवादी हैं और इसको न मानने के कारण ही बौद्ध–विज्ञानवादी विषयिनिष्ठप्रत्ययवादी हैं। अतः बौद्ध विज्ञानवाद को अनिवर्चनीय रूपा माया की आवश्यकता नहीं है।, जबकि शंकराचार्य का यह एक मौलिक सिद्धान्त है।

शांकरवेदान्त में ज्ञान मे केवल विज्ञप्तिमात्रता और उसकी वासना–कल्पना का ही योगदान नहीं है, अपितु माया का भी योगदान है। इस माया के ऊपर वासना या कल्पना का कोई प्रभाव नहीं है। यह भी कहा जा सकता है कि यद्यपि यह माया आत्मा की एक शक्ति है, तथापि यह उसकी आवश्यक या स्वाभाविक शक्ति नहीं है। मन एवं माया को किसी तत्व या पदार्थ के रूप में निश्चित नहीं किया जा सकता पर हमारे ज्ञान में उसकी भूमिका उतनी ही है, जितनी हमारी आत्मा और उसकी वासना या कल्पना की। वह एक प्रकार से काण्ट दर्शन की 'स्वनिष्ठ–वस्तु' है जिसके बिना अनुभव का आरम्भ नहीं हो सकता, परन्तु यह अनुभव भी परमावस्था में स्वयं रह भी नहीं सकता।[२५]

अब जो लोग शंका करते हें कि शंकराचार्य स्वयं प्रत्ययवादी विज्ञानवादी होते हुए कैसे बौद्ध विज्ञानवाद का खण्डन करते हैं। उन्हें प्रत्ययवाद के विषयनिष्ठ एवं विषयिनिष्ठ प्रकारों का अन्तर जानना चाहिए। स्वयं निराकार विज्ञानवादी बौद्धों ने भी साकारविज्ञानवाद का खण्डन किया है। स्वयं प्रत्ययवादी काण्ट ने प्रत्ययवादी बर्कले का खण्डन किया है। इस प्रकार शंकराचार्य ने बौद्धविज्ञानवाद का जो खण्डन किया है, वह सर्वथा अद्वैत मतानुसारी है, सर्वथा प्रत्ययवादानुसारी है या यों कहिए कि वह प्रत्ययवाद की अग्रिम अवस्था का परिष्कार करने वाला है।

शंकराचार्य ने अपनी आलोचना के दौरान यह कहीं नहीं सिद्ध किया कि बाह्य–जगत् का अस्तित्व है या घटपटादि का अस्तित्व है। उन्होंने केवल यह सिद्ध किया है कि उनका अभाव नहीं है, या ये असत् नहीं है और विज्ञान से इनका भेद है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने यह सिद्ध किया है कि बाह्य विषय अनिर्वचनीय है। वे असत् नहीं है, इस वाक्य से यह नहीं सिद्ध होता कि वे जड़ हैं। इससे केवल इतना सिद्ध होता है कि वे मानसिक या चैतसिक नहीं हैं, इस प्रकार शंकराचार्य ने अनिवर्चनीय रूप में विषयों को सिद्ध किया है, विषय सत् नहीं है, जैसे आत्मा सत् है। वे असत् नहीं हैं जैसे बन्ध्यापुत्र। अतएव उनको अनिवर्चनीय कहा गया है। इस प्रकार शंकराचार्य ने बौद्ध विज्ञानवाद का जो खण्डन किया है उसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन्होंने बाह्यार्थवाद या सर्वास्तिवाद या वैशेषिकमत को स्वीकार कर लिया है। इसीलिए उन्होंने सर्वास्तिवाद और वैशेषिक मत का खण्डन पहले ही कर दिया है। अतएव शंकराचार्य का विज्ञानवाद का खण्डन सर्वथा अद्वैतवाद से सुसंगत है। उसमें असंगति देखना इस दार्शनिक दृष्टि को न समझना है, जिसको लेकर शंकराचार्य दार्शनिक जगत में प्रगट हुए थे।

उपर्युक्त विवेचन के बाद हमें यह देखना है कि शंकराचार्य के दर्शन का परवर्ती बौद्ध विज्ञानवाद पर क्या प्रभाव पड़ा।

शंकराचार्य के खण्डन का परवर्ती वेदान्त पर जितना प्रभाव पड़ा है, वह सर्वविदित है। उनके कारण वेदान्त दर्शन की दो धारायें हो गयीं– केवलाद्वैत एवं वैष्णव दर्शन। इन दोनों में प्रत्ययवाद तथा यथार्थवाद को लेकर वाद–विवाद, शास्त्रार्थ या खण्डन मण्डन होते रहे हैं। किन्तु प्रश्न है कि क्या शंकराचार्य के खण्डन का कोई प्रभाव बौद्ध–दर्शन पर पडा है? प्रायः लोग समझते हैं कि यह खण्डन भारत में बौद्ध–मत के लोप होने का एक कारण है। इस बात मे कुछ ऐतिहासिक साक्ष्य भी है क्योंकि शंकराचार्य के ठीक बाद ही भारत के बौद्धदार्शनिक तिब्बत चले गये और यहॉ बौद्ध दर्शन के अध्ययन–अध्यापन की परम्परा समाप्त हो गयी। परन्तु दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर यह प्रतीत नहीं होता है कि शंकराचार्य का खण्डन केवल नाशक रहा है। वास्तव में इस खण्डन का बौद्ध विज्ञानवाद पर रचनात्मक प्रभाव भी पड़ा है। इसका पूर्ण प्रभाव शान्तरक्षित के विज्ञानवाद पर पड़ा है। इस प्रभाव के कारण शान्तरक्षित ने साकार–विज्ञानवाद को छोड़कर निराकार विज्ञानवाद को मान्यता दी।

पुनश्च शान्तरक्षित ने औपनिषदक दर्शन के प्रति कुछ सहिष्णुता का भाव रखा और कहा कि परम्परागत अद्वैतवाद में केवल थोड़ा दोष है और वह यह दोष है कि वह आत्मा को नित्य मानना है। यह आलोचना सिद्ध करती है कि शान्तरक्षित प्रकारान्तर से यह मानते हैं कि उनके निराकार–विज्ञानवाद एवं शांकर वेदान्त में पर्याप्त साम्य है। इस आधार पर डॉ० चन्द्रधर शर्मा विज्ञप्तिमात्रता एवं आत्मा को एक मानते हैं।[२६] इसके विपरीत डॉ० विधुशेखर भट्टाचार्य के अनुसार अद्वैत वेदान्त की आत्मा एवं वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रता में काफी अन्तर है। एक नित्य है, कूटस्थ नित्य है और दूसरी ध्रुव है, परिणामी नित्य है।[२७]

इस प्रकार विज्ञप्तिमात्रता एवं आत्मा में काफी समानता है, कम से कम तत्वमीमांसा के क्षेत्र में। यह भी स्पष्ट हैं कि शंकराचार्य ने विज्ञप्तिमात्रता का खण्डन नहीं किया है। उन्होंने आलय विज्ञान, मनोवज्ञिान एवं प्रवृत्तिविज्ञान का ही खण्डन किया है। परमार्थ ने आलय विज्ञान से भिन्न एक अमल विज्ञान को माना था, जो वास्तव में विज्ञप्तिमात्रता का ही एक रूप है। शंकराचार्य ने इस अमल विज्ञान का खण्डन नहीं किया हैं किन्तु जिस प्रक्रिया से विज्ञप्तिमात्रता से आलय–विज्ञान आदि उत्पन्नं होते हैं, उसका खण्डन शंकराचार्य ने किया है। अतएव उनकी आलोचना वसुबन्धु के विज्ञप्तिमात्रता पर भी लागू होती है। विषय की विज्ञप्ति ही उसकी सत्ता नहीं है, विषयता विज्ञप्ति से भिन्न है– शंकराचार्य का यह सिद्धान्त वसुबन्धु के विज्ञप्तिमात्रतावाद का भी खण्डन करता है। इसी खण्डन के कारण शान्तरक्षित ने विज्ञप्ति को विषयाकार न मानकर निराकार माना। उनका निराकार विज्ञानवाद प्रातिभ–ज्ञान पर आधारित है, जिसके अनुसार विज्ञप्ति में ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय के भेद शान्त हो जाते हैं। यह अपरोक्ष अनुभूति या साक्षात्कार है, जिसे सभी प्रत्ययवादी मानते हैं। परन्तु इस साक्षात् अपरोक्षानुभूति का सम्बन्ध तर्क द्वारा विषयों से कैसे किया जाय? यह एक दार्शनिक प्रश्न है, जिसका उत्तर विभिन्न प्रत्ययवादी अपने–अपने ढंग से देते हैं। यही प्रत्ययवादियों में मतभेद हो जाता है।

शंकराचार्य ने तर्क के बल पर कहा, कि आत्मा के बिना किसी विषय का ग्रहण नहीं हो सकता, अतएव आत्मा ही सब कुछ है।[२८] आत्मा सभी विषयों की प्रागपेक्षा है। सुरेश्वराचार्य ने इसी को विशद करते हुए कहा कि आत्मा सर्वसाक्षी होते हुए भी अक्रम अर्थात् परिवर्तन रहित है।[२९] क्योंकि वह स्वयं क्रम के ज्ञान की प्रागपेक्षा है। शान्तरक्षित एवं उसके अनुयायी प्रत्ययवाद के पक्ष में

ऐसी युक्ति नहीं दे सकते थे, क्योंकि वे किसी ऐसे विज्ञान को स्वीकार नहीं करते थे जो सभी प्रवृत्ति विज्ञानों के साक्षिरूप मे हो। स्वयं वसुबन्धु ने भी ऐसी युक्ति नहीं दी थी। उन्होंने मात्र यह कहा था कि विषय नहीं है और सब कुछ विज्ञप्तिमात्र है। वे विषयों के अभाव के माध्यम से विज्ञप्तिमात्र की सर्वता सिद्ध करते हैं।

शंकराचार्य विषयों के भाव के माध्यम से आत्मा की सर्वता सिद्ध करते हैं। अतः शंकराचार्य की नयी युक्ति थी, जिसको बौद्ध विज्ञानवाद में उनके पूर्व किसी ने नहीं दी थी। वसुबन्धु ने कहा था कि विकल्प के बिना विषय नहीं हो सकते। शंकराचार्य ने उनके आगे जाकर कहा कि आत्मा के बिना विकल्प भी नहीं हो सकते। यही नहीं, आत्मा के बिना विज्ञप्ति या उपलब्धि भी नहीं हो सकती है। इस प्रकार विज्ञप्ति का आत्मा से अभेद करना अभ्यास है, आधेय को आधार समझ लेना है। इस प्रकार शंकराचार्य के आत्मवाद ने विज्ञानवाद का केवल खण्डन ही नहीं किया, वरन् उनको उसने एक नई दिशा प्रदान की। उसने विज्ञानवाद को, व्यावहारिक जगत को मानते हुए, गहन से गहनतम की ओर जाने को बाध्य किया। उसने शान्तरक्षित एवं कमलशील को साकार विज्ञानवाद को त्यागने को विवश किया और बज्रयानियों तथा सहजयानियों को निराकार विज्ञानवाद को भी छोडने को बाध्य किया।

बौद्धविज्ञानवाद तथा शंकराचार्य में समन्वय का सुझाव हम इस प्रकार दे सकते हैं–

इस प्रकार से उपर्युक्त शंकराचार्य की आलोचना ने बौद्ध विज्ञानवाद के इतिहास में एक नये युग का प्रवर्तन किया है। उसने गहन से गहनतम की खोज की प्रेरणा दी है। आत्मा से बढ़कर अभी तक कोई अन्य गहनतम प्रागपेक्षा विज्ञानवाद या प्रत्ययवाद को नहीं मिली हैं। इस प्रकार आज भी शंकराचार्य समस्त विज्ञानवाद के प्रकाशक सूर्य हैं। उनसे महान प्रत्ययवादी दार्शनिक सम्पूर्ण विश्व में पाना कठिन है। वे सर्वश्रेष्ठ प्रत्ययवादी दार्शनिक हैं।

किन्तु बौद्ध विज्ञानवाद ने शंकराचार्य के आत्मवाद को आज तक स्वीकार नहीं किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि आज तक यह अपने आधार की खोज कर रहा है, जैसे उसकी अपनी कोई आत्मा नहीं है। कभी वह अपना गठबन्धन शून्यवाद से करता है तो कभी सौत्रान्तिक मत से, कभी वह बज्रयान में अपने को निखारता है तो कभी सहजयान में, कभी वह साकार विज्ञानवाद मत को मानता है तो कभी निराकार विज्ञानवाद को और कभी विज्ञप्तिमात्रता को, तो कभी आलयविज्ञान

को वह स्वीकारता है तो कभी वह उसके पास जाकर आलय विज्ञान को भी मानता है और कभी आलयविज्ञान को सर्वथा ठुकरा ही देता है।

इस प्रकार शंकराचार्य ने बौद्ध विज्ञानवाद को झकझोर दिया है, उसे पंगु बना दिया है। आज तक बौद्धविज्ञानवाद अपनी आत्मा या अकाट्य बौद्धिक आधार की खोज कर रहा है। समूचे बौद्धदर्शन के इतिहास में शंकराचार्य के बाद आज तक शुद्ध विज्ञानवाद को मानने वाला एक भी बौद्ध दार्शनिक नहीं हुआ है। उसको अपने विज्ञानवाद के लिए एक बैसाखी की जरूरत है। क्यो नहीं इस बैसाखी को हटाकर वह आत्मा को स्वीकार कर लेता और शुद्ध प्रत्ययवाद को उसके सभी अतार्किक अप्रत्ययवादी मान्यताओं से हटाकर रखता? क्यों नही प्रत्ययवाद को धर्मनिरपेक्ष माना जाता? क्यों नहीं दर्शन को धर्म के ऊपर दर्शन के क्षेत्र में रखा जाता ? क्यों नहीं वेदान्त एवं बुद्धमत के अन्तर को दर्शन के क्षेत्र में सदा के लिए दफना दिया जाता? जैसे साधना के स्तर पर या सहज अनुभूति के स्तर पर परवर्ती बौद्ध सिद्धों और वेदान्तियों में कोई अन्तर नहीं रह गया, वैसे ही क्यों नहीं दार्शनिक एवं वैज्ञानिक स्तर पर उनका अन्तर दूर हो जाता? प्रत्ययवाद ही वास्तव में एकमात्र परमदर्शन है। अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय उसी के विभिन्न सोपान हैं।

३- वसुबन्धु एवं रामानुज

बहुत से महत्वपूर्ण प्रश्नों पर रामानुज एवं वसुबन्धु एक मत हैं फिर भी इन दोनों के मतों में परस्पर विरोध भी है। रामानुज एवं वसुबन्धु दोनों की ही दृष्टि में विज्ञप्तिमात्रता या सर्वोच्च सत्ता संसार का उपादान एवं निमित्त कारण दोनों हैं। किन्तु यहाँ पर रामानुज संसार को अविद्या या माया का प्रतिफल या भ्रम न मानकर वास्तविक मानते हैं जबकि वसुबन्धु एक मात्र विज्ञान को ही सत् मानने के कारण बाह्य जगत या संसार को अविद्या का प्रतिफल अर्थात् भ्रम जन्य मानते हैं।

रामानुज एवं वसुबन्धु दोनों ही निरपेक्ष सत् अर्थात् विज्ञप्तिमात्रता या ब्रह्म को एकमात्र सर्वोच्च सत् मानते हैं। ये दोनों ही कर्म सिद्धान्त में अविचल आस्था रखते हैं। दोनों ही ज्ञान के द्वारा मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति को सम्भव मानते हैं।[30] रामानुज की ज्ञान की परिभाषा वसुबन्धु के आशय से भिन्न है। फिर भी दोनों इतना तो मानते ही हैं कि ज्ञान मोक्ष के लिए नितान्त आवश्यक है। दोनों के मतानुसार जीव एवं संसार अनादि हैं और इसके साथ जीवों की यह अविद्या भी

अनादि हैं जो शरीर एवं इन्द्रियों के साथ उनका मिथ्या तादात्म्य बनाये हुए हैं। रामानुज एवं वसुबन्धु दोनों ही शून्यवाद तथा न्याय–वैशेषिक के परमाणुवाद, आरम्भवाद या असत्कार्यवाद के घोर विरोधी हैं।[31]

इस प्रकार बहुत सी बातों में रामानुज एवं वसुबन्धु एकमत हैं। यदि हम वसुबन्धु के पारमार्थिक दृष्टिकोण को अलग रखे और उन्होंने व्यावहारिक दृष्टि से जो कुछ कहा है उससे रामानुज की तुलना करें तो दोनों में वैषम्य की अपेक्षा समानता अधिक दिखलाई पडती है फिर भी इन दोनों में निम्नलिखित विषयों में मतभेद है। रामानुज उपनिषदों में प्रतिपादित सत् के एकतत्ववादी दृष्टिकोण को सत्यनिष्ठा के साथ पकड़ने का प्रयास किया है और सगुण ईश्वर की दृष्टि से उसकी व्याख्या की है जब कि सामान्य धारणा यह है कि उपनिषदों में निर्गुण निराकार ब्रह्म की स्थापना की गयी है। इसके विपरीत वसुबन्धु किसी सगुण सत्ता का प्रतिपादन न करके निराकार निर्गुण एवं सच्चिदानन्दस्वरूप, विज्ञप्तिमात्रता का प्रतिपादन किया है, साथ ही रामानुज ने वसुबन्धु के इस सिद्धान्त का खण्डन भी किया है कि अविद्या या अज्ञान ही बन्धन का कारण है किन्तु जबकि वे स्वयं अनादि कर्मस्वरूपा अविद्या को संसार में बन्धन का कारण मानते हैं।[32]

वसुबन्धु एवं निम्बार्काचार्य

निम्बार्काचार्य का सिद्धान्त 'भेदाभेदवाद' है। इस सिद्धान्त के अनुसार भेद एवं अभेद दोनों सत्य हैं। निम्बार्काचार्य इन दोनों को समान रूप से सत्य मानते हैं। इसके विपरीत वसुबन्धु एकमात्र विज्ञप्तिमात्रता को निरपेक्ष सत् स्वीकार करने के कारण इसके समान अन्य किसी दूसरी सत्ता को नही स्वीकार करते।[33] वसुबन्धु मानते हैं कि जहाँ कहीं भी भेद की बात कही गई हैं वह केवल ज्ञान के अन्य माध्यमों से या अनादि वासना या अविद्या के कारण होता है। हमारे विचार से वसबुन्धु का यह मत उचित प्रतीत होता है कि पारमार्थिकरूप से निरपेक्ष सत् अभेदरूप हैं क्योंकि व्याघात के नियम के कारण दो समान सत् का अस्तित्व नहीं हो सकता। ऐसा मानने पर दोनों की ही सत्ता खण्डित हो जाएगी। प्रो० ए० सी० मुखर्जी के शब्दों में कि भेद में अभेद वह सबसे ऊँचा रूप है जिसके अनुरूप कोई भी विचारणीय वस्तु होनी चाहिए, यह सत्य हो सकता है किन्तु इससे यह

सिद्ध नहीं होता कि वह व्यक्ति जिसके लिए ऐसा सत्य अस्तित्ववान होता है स्वयं ही भेद में अभेद हो।[34]

५. वसुबन्धु एवं श्री मध्वाचार्य का द्वैतवाद :-

रामानुज के विशिष्टद्वैत की भाँति मध्व के द्वैत दर्शन में भी या ब्रह्म को स्वातन्त्रय, शक्ति, ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त शुभगुणों से सम्पन्न माना गया है। यह सब दुर्गुणों एवं अशुभों से मुक्त है और सब प्रकार के महान है।[35] अगर हम वसुबन्धु के विज्ञानवाद से इनके दर्शन की तुलना करने का प्रयत्न करें तो वसुबन्धु से इनका दर्शन कुछ बातों में साम्य रखते हुए भी पर्याप्त रूप से विरोध रखता है। उदाहरण के लिए वसुबन्धु की भाँति मध्वाचार्य जी भी यह मानते हैं कि परमतत्त्व (निरपेक्ष) चैतन्य स्वरूप है।[36] साथ ही जीव की मुक्ति शाश्वत होती है उसे पुनः सांसारिक जीवन नहीं धारण करना पड़ता।[37]

किन्तु समग्र रूप से देखें तो मध्व का द्वैतवाद वसुबन्धु के विज्ञप्तिमात्रता से बिल्कुल भिन्न है। मध्व भेदों को विभिन्न वस्तुओं का तत्व या तात्विक विशेषता मानते हैं। इसके विपरीत वसुबन्धु को तात्विक भेद न मानकर अनादि वासना या अविद्या का प्रतिफल मानते हैं क्योंकि निरपेक्ष सत् अभेदस्वरूप है।

६. वसुबन्धु एवं वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद :-

शुद्धाद्वैतवाद शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है– शुद्ध एवं अद्वैत। गोस्वामी गिरधर जी ने अपनी छोटी किन्तु प्रसिद्ध पुस्तक 'शुद्धाद्वैत मार्तण्ड' में इसकी व्याख्या करते हुए लिख है कि मायासम्बन्धरहित शुद्ध (तत्व) ही 'शुद्ध' कहा गया हैं अतः शुद्धाद्वैत के अनुसार शुद्ध ब्रह्म का सम्बन्ध माया से नहीं है। शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय पुष्टि मार्ग भी कहलता है क्योंकि वह भगवत् कृपा को मानव जीवन के लिए सर्वाधिक मूल्यवान वस्तु मानता है।

वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रता के विपरीत वल्लभाचार्य का ब्रह्म अनन्त गुणों का धारक रचयिता और नियंत्रक है। रामानुजाचार्य की भाँति वल्लभाचार्य ने भी यह स्वीकार किया है कि उपनिषदों में ब्रह्म के निर्गुण रूप में विवेचन से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि ब्रह्म में गुण नहीं है अथवा वह निर्गुण है अपितु यह अर्थ लगाना चाहिए कि ब्रह्म में प्रकृति भी साधारण गुणों

का सर्वथा अभाव है।[३८] वस्तुतः वल्लभ का ब्रह्म एक दृष्टिकोण से वसुबन्धु के निरपेक्ष सत् (विज्ञप्तिमात्रता) से साम्य भी रखता है क्योंकि वल्लभ ने भी एक मात्र शुद्धाद्वैत की कल्पना की है। किन्तु इसके विपरीत वसुबन्धु के दर्शन से विरोध भी रखता है क्योंकि वसुबन्धु बाह्य जगत को वास्तविक न मानकर अनादि वासना या अविद्या का प्रभाव मानते हैं जबकि वल्लभ ने अविद्या या अनादि वासना का निषेध करते हैं। वल्लभ के अनुसार ससार भ्रामक या असत् नहीं है। उसकी रचना एवं स्थिति ब्रह्म की सत् इच्छा पर आश्रित है अतः वह ब्रह्म के समान ही सत् है। उनके अनुसार संसार की रचना एव ब्रह्म की अभिव्यक्ति एक ही बात है। इसका अस्तित्व वैसा ही है जैसा ईश्वर का अस्तित्व। .

यदि हम वसुबन्धु के विज्ञप्तिमात्रता पर विचार करें तो पायेंगे कि वह जगत् के सृष्टि क्रम का वर्णन आलय विज्ञान, क्लिष्टमनोविज्ञान, प्रवृत्ति विज्ञान आदि के माध्यम प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं फिर भी वह जगत् या संसार को न तो विज्ञप्तिमात्रता से पृथक मानते हैं और ने ही उसे वास्तविक, वरन् वह भ्रमजन्य मानते हैं। इस प्रकार यदि हम वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद एवं वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रता का अध्ययन करें तो इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि यद्यपि निरपेक्ष तत्व को दोनों ही एक मानते हैं फिर भी इसके गुण तथा सृष्टि कम को लेकर विरोध रखते हैं।

(ग) वसुबन्धु और पाश्चात्य प्रत्ययवादी दार्शनिक

१. वसुबन्धु तथा बर्कले का विज्ञानवाद :-

बर्कले के अनुसार दर्शन ज्ञान तथा सत्य के अध्ययन के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[३९] इस आधार पर प्रायः यह कहा जाता है कि पाश्चात्य–दार्शनिक केवल ज्ञान के आधार पर बुद्धिमान् बनना चाहते हैं जबकि भारतीय दार्शनिक आचरण की शुद्धि एवं मन की पवित्रता के आधार पर परमसत्ता से साक्षात्कार करना चाहते हैं।

भारतीय दर्शन में मनुष्य केवल विवेचक नहीं होता अपितु उसे किसी सरणी का आलम्बन करना पड़ता है एवं उससे वह अध्यात्म के उच्चतम शिखर पर आरुढ हो पाता है। बर्कले भी व्यक्तिगत जीवन में आस्थावान तथा पवित्र थे, वे नास्तिकवाद का विरोध कर विज्ञानवाद की स्थापना करके आध्यात्मवाद का विकास करना चाहते थे।

वसुब्रन्धु भी पहले वस्तुवादी थे, लेकिन ज्यों–ज्यों उनका ज्ञान परिपुष्ट होता गया, आध्यात्मवादी बनते गये, फलतः सर्वास्तिवादी दृष्टिकोण का परित्याग कर विज्ञानवादी बन गये और अपने विज्ञानवाद की प्रस्थापना में तत्कालीन दार्शनिकों के मतों का विवेचन करके विज्ञप्तिमात्रता के स्वरूप का निर्धारण किये। इसके विपरीत जबकि बर्कले, डेकार्ट, लाक, आदि दार्शनिकों के द्वैतवादी दर्शन का खण्डन करके आध्यात्मिक विज्ञानवाद को प्रस्तुत किये।

बर्कले तथा वसुबन्धु दोनों दार्शनिक वस्तु की बाह्य सत्ता का खण्डन करते हैं तथा चेतना के ही प्रत्यय को बाह्य रूप में स्थापित करते हैं किन्तु दोनों के बाह्य सत्ता के खण्डन का स्वरूप अपने देशगत दार्शनिकों की सरणियॉ हैं। वसुबन्धु बाह्य सत्ता के प्रतिस्थापक अणुओं तथा अणुसंघातों का खण्डन करके उसकी सत्ता की अयथार्थता सिद्ध करते हैं, जबकि बर्कले बाह्यवस्तु के द्वितीयक गुणों के साथ प्राथमिक गुण का भी निरास करते हैं। इस प्रकार गुणों के अभाव तथा परमाणु की असिद्धि से बाह्यसत्तावाद का विनाश हो जाता है। बाह्यपदार्थों के खण्डन के लिए वसुबन्धु निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं–

चूँकि बाह्य पदार्थ परमाणुओं के द्वारा बनते हैं इसलिए उन परमाणुओं से बना हुआ ज्ञान का विषय न एक हो सकता है, न परमाणुरूप अनेक और न परमाणु संहत होकर विज्ञान का विषय बन सकते हैं क्योंकि परमाणु सिद्ध नहीं होते हैं।

एक साथ ही छः प्रदेशों में संयोग होने पर परमाणु के छः अंश मानने पड़ेगें। छः परमाणुओं के समान प्रदेश में अवस्थित होने पर पिण्ड अणुमात्र हो जाएगा। परमाणुओं का संयोग न होने पर उनके संघात में किसका संयोग होगा। परमाणुओं के निरवयव होने के कारण उनका संयोग सिद्ध नहीं होता।

जिसका दिग्भाग के कारण विभाग होता है वह एक नहीं हो सकता एवं परमाणु के भाग न मानने पर छाया एवं अवरोध कैसे होंगे। यदि पिण्ड परमाणुओं से अन्य नहीं तो वे पिण्ड के धर्म भी नहीं हो सकते।[४०]

इस प्रकार वसुबन्धु ने तत्कालीन प्रचलित वस्तुवादी मतों का विशेषकर वैभाषिकों, सौत्रान्तिकों तथा वैशेषिकों का खण्डन करके विज्ञानवाद की स्थापना की।

दोनों विचारकों ने बाह्यवस्तुसत्ता का खण्डन करके चेतना को ही बाह्यवस्तुओं के संवेदन का कारण माना। बर्कले ने अपनी प्रसिद्ध उक्ति ''सत्ता दृश्यता है'' अर्थात् किसी भी वस्तु का सार या उसकी वास्तविकता मन के प्रत्यय पर (प्रतीति पर) निर्भर करता है, कहकर बाह्यवस्तुओं की सत्ता को संवेदन मात्र बना दिया। इसके विपरीत वसुबन्धु ने 'त्रिंशिका' में विज्ञप्तिमात्रता का सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित किया तथा बाह्य संसार को विज्ञान का परिणाम बनाकर लोकव्यवहार को चलाया तथा उसके आधार पर ही निर्वाण का मार्ग प्रशस्त किया।

बाह्य वस्तुओं के अभाव में भी जीवन का त्रिविध परिणाम सत्य है। आत्मा एवं धर्म उसमें उपचरित है। परिणाम का अर्थ है– कार्यकारण भाव के अनुसार उत्पाद तथा निरोध।[४१] विज्ञान की सत्ता कार्यकारण नियत तथा प्रवाहमय है। वह आलयविज्ञान मन तथा छः प्रकार के विषय विज्ञान के रूप में परिणत[४२] होता है।

यहाँ आठ विज्ञान तथा इनसे सम्बद्ध चित्त, चैतसिक ही वास्तविक है, शेष धर्म उपचारमात्र हैं। इस प्रकार वसुबन्धु ने वैभाषिकों के पञ्चविध रुपचित्त–चैत्त–चित्तविप्रयुक्त–असंस्कृत धर्मों तथा सौत्रान्तिकों के रूप–चित्त–चैत्तों को योगाचार दर्शन के केवल चित्त–चैत्तों में, पर्यवसित कर दिया तथा चित्त में ही लाकर सम्पूर्ण जगत की सृष्टि कर दी।

बर्कले ने भी केवल आत्मा को ही एक पदार्थ माना तथा बाह्य जगत के प्रत्ययों को उस पर आधारित कर सम्पूर्ण बाह्य जगत की सत्ता का खण्डन किया। इस प्रकार बर्कले के दर्शन में आत्मा तथा आत्मिक प्रत्ययों के अतिरिक्त किसी भी अन्य वस्तु की सत्ता नहीं है। उन्होंने जड़वाद की अति तीक्ष्ण आलोचना करके उसे ध्वस्त कर दिया तथा उसके स्थान पर अध्यात्मवाद को प्रतिष्ठित किया। उन्होंने जड़पदार्थ की वास्तविकता के निर्धारक तीन प्रमुख तथ्यों १– अमूर्तबोधन,

२– प्राथमिक तथा गौणगुणों की तथा ३– प्रत्ययों का खण्डन कर यह सिद्ध किया कि जड़वाद को स्वीकार करने पर नास्तिकवाद फैलता है तथा व्यक्तियों की ईश्वर में आस्था शिथिल पडती है तथा धार्मिक एवं नैतिक पतन की पूरी सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। देकार्त, स्निोजा, लाइबनित्ज तथा लॉक के विचार इस बात के प्रमाण हैं। इन दार्शनिकों के दर्शन की परिणति अज्ञेयवाद, संशयवाद तथा निरीश्वरवाद में हुई। इसलिए जड़ पदार्थ का परित्याग कर अध्यात्मवाद की ओर उन्मुख होना चाहिए था। यही एक मात्र युक्तिसंगत सिद्धान्त है।

बर्कले ने तीन प्रकार की आत्माओं को माना। प्रथम आत्मा 'मै' रुपात्मक है, द्वितीय 'मैं' के समान अन्य जगत के मनुष्य की आत्मायें हैं, तृतीय अपरिमित ईश्वर की आत्मा है। मैं अपनी सत्ता का सहज प्रत्यक्ष करता हूँ तथा जागतिक सीमित आत्मा का सामान्यानुमान से बोध करता हूँ मै देखता हूँ कि वे भी मेरे ही समान आध्यात्मिक हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि– मेरे अन्दर अनेक भावनाओं तथा प्रत्ययों का प्रवाह है, जिस पर मेरा कोई अधिकार नहीं। नदी, पहाड़, भूकम्प इत्यादि ऐसे ही प्रत्यय हैं, जो सीमित आत्माओं की इच्छा से परे तथा स्वतन्त्र दीखते हैं। इसीलिए ईश्वर ही वास्तव में सभी प्रत्ययों का उत्पादक है।

इन दोनों दार्शनिकों ने बाह्य जगत को न केवल चित्तमय माना अपितु उसे प्रवाहमान् भी स्वीकार किया। आलयविज्ञान को विपाकात्मक तथा सभी बीजों का आश्रय मानकर स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा एवं चेतना से उसे संम्प्रयुक्त किया और उसकी वृत्ति को नदी की धारा की भाँति सडेन प्रवाहमान् स्वीकार किया।

बर्कले भी संवाद में हाइलस के मुख से प्रत्ययों की प्रवाहमानता स्थापित कराते हैं–

"मुझे ऐसा लगता है कि आप की अपनी विचार प्रणाली के अनुसार तथा आपके अपने ही सिद्धान्तों के परिणामस्वरूप यह निष्कर्ष निकलेगा कि निखिल जगत प्रवाहमान प्रत्ययों की व्यवस्था मात्र है।"[४३]

इस प्रकार चित्त की प्रवाहमानता के विषय में भी दोनों दार्शनिक समान हैं तथा उसकी व्याख्या भी अपने ग्रन्थों में किये हैं।

दर्शन के इतिहास में बहुत से विज्ञानवादी विचार हैं लेकिन किसी ने भी एकात्मसत्तावाद को नहीं अपनाया है। इस दृष्टि से बर्कले तथा वसुबन्धु भी एकात्मसत्तावादी नहीं हैं। वसुबन्धु को बाह्यविषयों का अभाव प्रतिपाद्य है किन्तु अन्य चित्तों का अभाव नहीं मान्य है।[४४]

इस प्रकार दोनों ही दार्शनिकों के दर्शन का पर्यवसान एकात्मसत्तावाद (सॉलिप्सिज्म) में नहीं होता। एक चित्त धारा पर अन्य चित्तधारा का प्रभाव दिखाई पडने के कारण जैसे वसुबन्धु एकात्मसत्तावादी नहीं बनते वैसे ही विषयिगत प्रत्ययवाद को परित्याग कर विषयगतप्रत्ययवाद को स्वीकार करने के कारण बर्कले भी एकचित्तवादी (सालिप्सिस्ट) नहीं बनते।

दर्शनों की इस आध्यात्मवादी व्यवस्था का परिणाम भिन्न–भिन्न सम्प्रदायों के अनुसार भिन्न–भिन्न होता है। वसुबन्धु चित्त के द्वारा आत्मरूप या धर्मरूप में कल्पित विश्व के ग्राह दृष्टियों का परित्याग कर निर्वाण धातु में प्रवेश करना चाहते हैं। इसलिए वे मानते हें कि जब तक विज्ञान विज्ञप्तिमात्रता में अवस्थित नहीं होता, तब तक वह निवृत्त नहीं होता। वह ग्राह्य'ग्राहक भाव के त्याग से लोकोत्तर ज्ञान को उत्पन्न करता है। इस प्रकार चित्त विज्ञप्तिमात्रता में स्थित होता है, यहं अचित्त एवं अनुपलम्भ है, यह ही लोकोत्तर ज्ञान है, यही द्विविध दोषक्षय के कारण आश्रय की परावृत्ति है और यही कुशल, शाश्वत, अचिन्त्य और अनास्रव, धातुरूप है तथा यही सुखात्मक विमुक्तिकाय महामुनि का धर्मकाय है।

बर्कले भी ईश्वर की इस दिव्य सृष्टि का स्वरूप बतलाकर यह बतलाना चाहते हैं कि सभी जीवों का उस ईश्वर से मार्ग प्रशस्त बनता है। उसी के कारण या उसके पवित्र भय से हम सद्गुणों में प्रवृत्त होते हैं। वही कर्तव्यबोध कराता है।

सर्वोपरान्त हमारे अध्ययनों में जो सर्वोपरि स्थान का अधिकारी है, वह है– ईश्वर तथा अपने धर्म का चिन्तन। जहाँ जितना ही उत्साहित करना एक ओर मेरे परिश्रम की मुख्य धारा तथा परियोजना रही है, उतना ही दूसरी ओर ईश्वरोन्मुख करना मेरे दार्शनिक चिन्तन का ध्येय रहा है। यदि जो कुछ मैंने कहा है, उसके द्वारा पाठकों को ईश्वर की व्यापकता की पावन भावना से अनुप्राणित न कर सका निष्कल अभिचिन्तनों के असत्य तथा मिथ्यादम्भ की कलई न खोल सका तथा गास्पल के उन श्रद्धास्पद सत्यों का जिनका ज्ञान प्राप्त करना तथा अभ्यास करना मानव

स्वभाव की उच्चतम पूर्णता हैं, का सम्मान करने तथा उन्हें अंगीकार करने के लिए और अच्छी तरह तत्पर न कर सका।

२. वसुबन्धु का विज्ञप्तिमात्रतावाद एवं हेगेल का निरपेक्षवाद :-

हेगेल (१७७०–१८३१ ई०) विश्व के महान् चिन्तकों में हैं और उनका दर्शन विश्व की विस्तृत व्याख्या है। हेगेल केवल एक और सर्वव्यापी तर्कीय सत्य में विश्वास करते थे और वही उनका निरपेक्ष या ईश्वर है। मन, आत्मा, प्रत्यय या निरपेक्ष प्रत्यय उसी के पर्यायवाची हैं इसी को निर्वैयक्तिक भी कहा गया है। डॉ० मैक्टेगार्ट के शब्दो में हेगेल द्वारा निरूपित निरपेक्ष को वैयक्तिक न समझा जाना चाहिए और उसे व्यक्तिवाचक सर्वनाम की अपेक्षा वस्तुवाचक सर्वनाम से सम्बोधित करना चाहिए।''[४५]

अगर हम वसुबन्धु एवं हेगेल के दर्शन का सिंहावलोकन करें तो हमें ऐसा प्रतीत होगा कि वे वसुबन्धु के विरुद्ध भी हैं और उनके अनुकूल भी हैं। उनका वसुबन्धु से इस बात में मतभेद है कि उनका निरपेक्ष एक समग्रता है, भेदों में स्थापित की गई एकता है, वह ऐसी एकता नहीं है जिसमें भेद विलीन हो जाते हैं। परन्तु वसुबन्धु का निरपेक्ष सत् अर्थात् विज्ञप्तिमात्रता पूर्णतः सजातीय एकता है। फिर भी प्रो० मुखर्जी के शब्दों में "हेगेल के सिद्धान्त का यह आवश्यक उपनिगमन प्रतीत होता है कि निरपेक्ष सामञ्जस्यपूर्ण एकता होने के नाते आनन्दमय अवश्य होना चाहिए।''[४६]

हेगेल का निरपेक्ष इस विषय में वसुबन्धु के विज्ञप्तिमात्रता के समान ही है क्योंकि वह भी आनन्दस्वरूप है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि जैसे हेगेल का ईश्वर संसार के बिना ईश्वर ही नहीं है, वैसे ही वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रता भी शासन करने के लिए जीव एवं पदार्थों से पूर्ण संसार आवश्यक रूप से चाहता है।

वसुबन्धु अपने दृष्टिकोण में हेगेल से कहीं अधिक संगत दिखाई देते हैं। वे जब कभी विज्ञप्तिमात्रता का अपने आप में निरुपण करते हैं तो उसे सब परिवर्तनों, विकारों एवं भेदों से मुक्त बताते हैं। किन्तु हेगेल का निरपेक्ष या ईश्वर संसार के बिना कभी नहीं रहता हैं यदि प्रकृति 'तर्कीय प्रत्यय का एक रूप है' यदि 'संसार वस्तुतः प्रत्यय का देशकालगत रूप है।[४७] यदि 'विकास शब्दतः

एक चिदात्म प्रक्रिया है तो सत् एवं असत् के बीच भेद करने के हमारे सारे प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं।

हेगेल बुद्धिवादी एवं प्रत्ययवादी हैं किन्तु वसुबन्धु आत्मनिष्ठ प्रत्ययवादी हैं। हेगेल को विषयीनिष्ठ या आत्मनिष्ठ प्रत्ययवादी मानना बहुत बडी भूल होगी। उसके विचार से 'क्रिया के रूप' या 'तर्कबुद्धि के पदार्थ' केवल खाली छिलका नही है और न जीवनहीन प्रत्यय, बल्कि वे विषयगत विचार एवं चित् शक्तियाँ हैं। वस्तुओं का तत्व उन्हीं से निर्मित होता है।[४८] किन्तु **प्रो० सी० डी० शर्मा** और **डॉ० सी० एल० त्रिपाठी** उपर्युक्त मत से सहमत नहीं हैं। वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रता को व्यक्तिनिष्ठ मानना बहुत बडी भूल होगी। उनकी विज्ञप्तिमात्रता आत्मिक अवश्य है किन्तु व्यक्ति की आत्मा नहीं अपितु समिष्टिगत आत्मा है। व्यक्तिगत तो प्रवृत्ति विज्ञान है जो सर्वाभौम एवं वस्तुनिष्ठ आत्मा से निःसृत होते हैं।

वसुबन्धु विश्व प्रक्रिया का उद्देश्य विज्ञप्तिमात्रता की प्रकृति की अभिव्यक्ति मानते हुए भी वे इस चराचर जगत को भ्रमजन्य ही मानते हैं अतः इस अर्थ में वे आत्मनिष्ठ प्रत्ययवादी हैं। इसके अतिरिक्त सृष्टि प्रक्रिया को वसुबन्धु लक्ष्यहीन मानते हैं किन्तु हेगेल अपनी 'द्वन्द्वात्मक पद्धति' के आधार पर 'निरपेक्ष तत्व' को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं।

इस प्रकार हेगेल एवं वसुबन्धु के दर्शन का सूक्ष्म अवलोकन करने पर हमे यह मालूम हो जाता है कि इन दोनों में साम्य कम एवं वैषम्य अधिक है।

३. वसुबन्धु एवं टी० एच० ग्रीन :–

अंग्रेज दार्शनिक ग्रीन के दर्शन से भी वसुबन्धु के दर्शन में बहुत सी बातों में साम्य है और बहुत सी बातों में मतभेद। आखिर वे हेगेल की दर्शन परम्परा के ही ठहरे।

ग्रीन को सामान्यतः विषयनिष्ठ प्रत्ययवादी माना जाता है। उसके विचार से मनुष्य प्राकृतिक घटनाओं की श्रृंखला की एक कड़ी नहीं है[४९] और न प्राकृतिक शक्तियों का परिणाम मात्र। वह वस्तुतः एक आत्मचेतन, स्वतन्त्र एवं चिदात्म सत्ता है जिसे सर्वव्यापी चिदात्म तत्व ने अभिव्यक्त किया हैं वह परम तत्व, प्रकृति एवं उसके प्रपञ्च का नियंत्रण एकीकरण एवं व्याख्यान करता है। ग्रीन के अनुसार चिदात्म सत्ता ही प्रकृति में एकीकरण एवं व्यवस्था स्थापित कर सकती हैं।

इसके विपरीत वसुबन्धु विज्ञप्तिमात्रता को ही एकमात्र सत् मानने के कारण आत्मनिष्ठ प्रत्ययवादी है। यद्यपि वे जगत या भौतिक पदार्थ की व्याख्या करते हैं किन्तु यह अनादि वासना के कारण दृष्टिगोचर होता है, स्वय में इस चराचर जगत का कोई अस्तित्व नहीं है। एकमात्र विज्ञान ही सत् हैं।

ग्रीन एवं वसुबन्धु दोनों ही चेतना को वस्तुओं से भिन्न एवं उसका ज्ञाता मानते है, दोनो ही चेतना को तत्वों से उत्पन्न मानना उचित नहीं समझते हैं, दोनो ने ही भौतिकवाद के विरोध में समान प्रकार के तर्क प्रस्तुत किये हैं। जैसे वसुबन्धु की दृष्टि में विज्ञप्तिमात्रता से अलग एव स्वतन्त्र किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है वैसे ही ग्रीन के विचार में चेतना ही सब कुछ है। इन विशेषताओं का अवलोकन करने पर कुछ अंशों में ग्रीन एवं वसुबन्धु में साम्यता परिलक्षित होती है। फिर भी निष्कर्षतः इनमें विरोध बना ही रहता है क्योंकि जहाँ पर ग्रीन प्रत्ययवादी दार्शनिक होने के बावजूद भी भौतिक जगत की सत्ता का खण्डन नहीं करते वहीं पर वसुबन्धु विज्ञानवाद का सहारा लेकर भौतिक जगत को निरा भ्रम या अविद्या जनित मानते हैं एवं एकमात्र विज्ञप्तिमात्रता या चैतन्यस्वरूप निरपेक्ष तत्व कों वास्तविक मानते हैं।[५०]

४. वसुबन्धु एवं ब्रैडले :–

प्रायः यह कहा जाता है कि पश्चिमी दार्शनिकों में ब्रैडले वसुबन्धु के सबसे अधिक निकट है।[५१] वस्तुतः ब्रैडले के दर्शन में ऐसी बहुत सी बातें हैं जिनसे ये उक्तियाँ सिद्ध होती हैं। वसुबन्धु के दर्शन से पूर्वपरिचित लोग जब ब्रैडले की पुस्तक 'एपियरेंस एण्ड रियलिटी' पढ़ते हैं तो उन्हें वसुबन्धु के सिद्धान्त की बहुत सी बातें उसमें मिलती हैं। प्रो० ए० सी० मुकर्जी के शब्दों में "ब्रैडले का निरपेक्षवाद वसुबन्धु के विज्ञप्तिमात्रता सिद्धान्त का[५२] ही अनजाने में किया गया प्रतिपादन प्रतीत होता है।"

ब्रैडले ने अपनी प्रमुख रचना 'आभास एवं सत्' की प्रस्तावना में ही आभास एवं सत् का भेद बताते हुए कहा है कि तत्वमीमांसा आभास की बजाय सत् को जानने का प्रयत्न है। इसको पढते ही हमें ध्यान आता है कि वसुबन्धु ने भी अपरा विद्या का विभाजन किया है और परा विद्या को परम सत् अर्थात् विज्ञप्तिमात्रता जिज्ञासा कहा है। इससे दोनों के दार्शनिक प्रयत्नों के उद्देश्य की

एकता तो दीखती ही है साथ ही उन दोनों दार्शनिकों ने हमारे अनुभव में आने वाले संसार की प्रकृति का जो चित्रण किया है उससे भी उन दार्शनिकों के दर्शन में पर्याप्त एकरूपता झलकती है।

ब्रैडले ने वस्तुतः संसार विषयक हमारे सामान्य सम्प्रत्यय में निहित व्याघात एवं असंगतियों को स्पष्ट करने के लिए बड़ा भ्रम किया है एवं निष्कर्ष निकाला है कि संसार का जो स्वरूप हम देखते है और समझते हैं वह आभासमात्र है, उसमें सत् कुछ नहीं है।

वस्तुतः उसकी द्वन्द्वात्मक विधि 'खण्डनखण्डखाद्य' के रचयिता श्रीहर्ष द्वारा प्रयुक्त विधि की प्रतिकृति प्रतीत होती है।

यह बात अवश्य है कि वसुबन्धु ने ब्रैडले या श्रीहर्ष की तरह कोई विशेष विधि निर्मित नहीं की थी किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि संसार को असत् सिद्ध करने के लिए वसुबन्धु के पास कोई तर्क नहीं था। वसुबन्धु का यह दावा कि शीत एवं ताप आदि तथा उनके कारणों को ज्ञान की किसी भी प्रामाणिक विधि द्वारा सत् वस्तु नहीं सिद्ध किए जा सकते, बहुत कुछ वैसा ही है जैसा ब्रैडले का यह दावा कि विशेष्य एवं विशेषण सत् नहीं हैं। दोनों की विवेचन विधि भले ही भिन्न हो किन्तु दृश्य जगत की असत्यता के सम्बन्ध में दोनों का निर्णय प्रायः एक सा है। उदाहरण के लिए वसुबन्धु अपरा विद्या का प्रयोग व्यावहारिक सत् तक ही सीमित मानते हैं, परमार्थ मे उसे असत् समझते हैं, उसी प्रकार ब्रैडले के विचार से 'सभी विशिष्ट विज्ञान भौतिक एवं मानसिक दोनों, असत् का ही अध्ययन करते हैं।[५३] ब्रैडले का निरपेक्ष अथवा परम सत् वसुबन्धु के परमसत् जैसा नहीं है। ब्रैडले का निरपेक्ष सत् एक ऐसी समग्रता है[५४] जो स्वयं तो सब आत्म–व्याघातों एवं सीमाओं से मुक्त है किन्तु सभी ससीम और आत्मव्याघातपूर्ण वस्तुओं को (केवल आभास मात्र हैं) अपने में धारण किये हैं।

इसके विपरीत वसुबन्धु के परमसत् में न कोई द्वैत है और न भेद। हमारे सामान्य अनुभव में आने वाले संसार के नाम एवं रूप विज्ञप्तिमात्रता में नहीं हैं। ब्रैडले का 'स्व' आभास होते हुए भी निरपेक्ष में विद्यमान् है। ब्रैडले के अपने शब्दों में 'स्वं को किसी भी रूप में लिया जाय वह आभास ही सिद्ध होगा।[५५] फिर भी वह अन्य वस्तुओं की तरह ब्रैडले के परम सत् अर्थात् समग्र का एक तत्व है।[५६] इसके विपरीत वसुबन्धु का स्व या आत्मा आभासमात्र है। परम तत्व में उसके लिए कोई स्थान नहीं। ब्रैडले निरपेक्ष की खोज ससीम स्व के परे जाकर करते हैं जबकि वसुबन्धु प्रो० मुकर्जी के

विचार से "ससीम स्व के परे जाकर निरपेक्ष की खोज नहीं करते वरन् स्व का गहन विश्लेषण करके उसके भ्रान्त स्वरूप को हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं और अन्ततोगत्वा उसे तत्वत· निरपेक्ष से अभिन्न पाते हैं।[५७]

इस प्रकार दोनों दार्शनिक अपनी भिन्न पद्धतियों से परम सत् तक पहुँचते हैं। इसीलिए दोनों के विचारों का यह साम्य अधिक आगे नहीं चल सकता हैं वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रता सामञ्जस्य पूर्ण समग्रता न होकर ऐसा वास्तविक एक है जिसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। इसके विपरीत ब्रैडले का परमसत् ससीम तथ्यों का एक तन्त्र या समग्रता है। वह स्वयं तो आभास नहीं है किन्तु सब आभासों को अपने में समाहित किये है। आभासों के अतिरिक्त उसकी कोई सम्पत्ति नहीं है। ब्रैडले का परमसत् हेगेल की तरह वसुबन्धु से मिलता–जुलता है किन्तु वह वसुबन्धु के विज्ञप्तिमात्रता जैसा नहीं है क्योंकि विज्ञप्तिमात्रता हमारे सब ससीम अनुभवों से अलग और असम्बद्ध है और निश्चय ही अनिर्धार्य और अपरिभाष्य है।

जहाँ तक परम सत् के अपरोक्ष ज्ञान का प्रश्न है वसुबन्धु उसके लिए तर्कीय चिन्तन को समर्थ मानने के लिए किसी प्रकार तैयार नहीं हैं। ब्रैडले ने भी इस तथ्य का पर्याप्त समर्थन किया है। ब्रैडले एवं वसुबन्धु दोनों का ही यह सुचिन्तित मत है कि विचार की प्रकृति ही ऐसी है कि उसके द्वारा परमसत् को नहीं जाना जा सकता। विचार को स्वभावतः अपने से भिन्न किसी वस्तु की अपेक्षा होती है।[५८] वह तर्कीय एवं विवेचनात्मक होता है यदि वह ऐसा न हो तो वह आत्म–हत्या ही कर ले।

इस प्रकार, इसमें सन्देह नहीं है कि परम सत् के ज्ञान के विषय में वसुबन्धु एवं ब्रैडले के दृष्टिकोण एक जैसे हैं किन्तु यह साम्य बहुत दूर तक नहीं चल पाता है। वस्तुतः ब्रैडले को अपने निरपेक्ष के विषय में जो ज्ञान है वह केवल एक प्राक्कल्पना है जबकि वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रता एक वास्तविक अनुभव का तथ्य या प्रमाणित प्राक्कल्पना है। जिसकी अनुभूति भोगी को अत्यन्त कष्ट का जीवन व्यतीत करने के बाद अनेक भूमियों के पार जाने पर होता है।

संदर्भ

१. दर्शन दिग्दर्शन–उपनिषद से सम्बद्ध अंश।
२. इण्डियन फिलासफी– सी० डी० शर्मा पृ० २७।

३. केनोपनिषद्
४. दीर्घनिकाय– १/२ सं. नि. ३/१/१ म. नि. २/१/१०–२/३/७
५. इण्डियन फिलासफी– सी० डी० शर्मा पृ० १४३।
६. तत्त्वसंग्रह– पृ० ३३०–३१।
७. गौडपादकारिका– ४–५।
८. गौडपादकारिका पर शांकरभाष्य।
९. दर्शनदिग्दर्शन, पृ० ३६२
१०. वृहदारण्यकोपनिषद– २/१५–१७।
११ वृहदारण्यकोपनिषद– ४/५।
१२. ऐतरेय उप०– ३/२।
१३. वृहदारण्यकोपनिषद– ३/३।
१४. असंग–महायानसूत्रालंकार
१५. बौद्धधर्मदर्शन, पृ० १२१।
१६. बौद्धधर्म दर्शन, पृ० ११६।
१७. लकावतारसूत्र पृ० ८७।
१८. वही, पृ० ८६
१९. वही, पृ० ६१
२०. वही २/२३,६/५१/६/५४
२१. बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० ११८
२२. बौद्ध–दर्शन एवं वेदान्त, डॉ० सी० डी० शर्मा, वाराणसी, १९४६, पृ० १६३
२३. विज्ञप्तिमात्रता सिद्धिः धीर्मद्भिर्विमली कुला।
अस्माभि. तद्दिशा याता परमार्थ विनिश्चये।।–तत्वसंग्रह, श्लोक–२०४०
२४. अपीरियन्स एण्ड् रियलिटी, नौवा संस्करण, आक्सफोर्ड, १९५१, पृ० १२६
२५. देखिए काण्ट दर्शन, प्रो सगम लाल पाण्डेय, इलाहाबाद, १९७१, पृ० ११५ में
२६. बौद्ध–दर्शन एवं वेदान्त, डॉ० सी० डी० शर्मा, पृ० ६६
२७. दी आमशास्त्र ऑफ गौडपाद, कलकत्ता, भूमिका पृ० १४२
२८. आत्मव्यतिरेकेण अग्रहणात् आत्मैव सर्वम्। वृह० उपनिषद् भाष्य, शंकराचार्य २/४/६
२९. शब्दाधाकारनिर्भासाक्षणप्रध्वंशिनीदृशा।
निटयोऽक्रमदृगात्मैको व्याप्नोतीव धियोऽमिशम्।। नैष्कर्म्यसिद्धि–सुरेश्वराचार्य, २/२९
३०. विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि, त्रिंशिका १७
३१. देखिए रामानुज कृत, ब्रह्मसूत्रभाष्य, १.१.२–४, २.१.४–६
३२. वही, १.१.१ (शरीरगोचरा चाहं बुद्धिरविद्यैव)
३३. रामानुज कृत, गीता भाष्य, २.१० (देहातिरिक्तात्मज्ञाननिमित्तं च धर्म.......)
३४. इण्डियन फिलासफी, डॉ० राधाकृष्णन–खण्ड–२, पृ० ७५२

३५. सर्वदर्शनसग्रह, ५.३४

३६. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, खण्ड २, पृ० ६६२–६६८

३७. सर्वदर्शनसग्रह, ५.२७ (मोक्षो एव नित्य)

३८. शुद्धाद्वैतभार्तण्ड, पृ० २४ (मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।)

३९. वल्लभाचार्य कृत, ब्रह्मसूत्र भाष्य, ३.२.२२

४० मानवीय ज्ञान के सिद्धान्त–प्रस्तावना, धारा–१

४१ नतेदेक न चानेकं।

४२ कोऽय परिणामों नाम? (स्थिरमति कृत त्रिंशिका भाष्य)

४३. विपाकोमननाख्यश्च विज्ञप्तिर्विषयस्य च (त्रिंशिका का० २, पूर्वार्द्ध)

४४. मानवीय ज्ञान के सिद्धान्त, धारा, २६२

४५. अन्योन्याधिपतित्वेन विज्ञप्तिर्नियमो मिथः। विंशतिका, का० १८

४६. स्टडीज इन हेगेलियन कास्मोलॉजी, पृ० ५८

४७. देखिए हीरालाल हलदार द्वारा लिखित 'न्यू हेगेलियनिज्म' का परिशिष्ट।

४८. दि नेचर ऑफ सेल्फ, पृ० २६३

४९. इ० ग्रा० लीली, ए हिस्ट्री ऑफ फिलासफी, पृ० ४२६

५०. वही, पृ० ४२७

५१. सी० डी० शर्मा–बौद्ध दर्शन एवं वेदान्त।

५२. डॉ० सी० एल० त्रिपाठी–प्राब्लम ऑफ नालिज इन योगाचार बुद्धिज्म।

५३. देखिए, ग्रीन्स, प्रोलेगोमेना, बुक १, अध्याय १ एव २

५४. डॉ० राधाकृष्णन कृत, इण्डियन फिलासफी, पृ० ५०१

५५. गुलाब राय, पश्चिमी दर्शनों का इतिहास, पृ० २६८

५६. लीली, ए हिस्ट्री ऑफ फिलासफी, पृ० ५०६

५७. एपियरेंस एण्ड रियेलिटी, पृ० १०३

५८. इण्डियन आइडियलिज्म, पृ० २१

सहायक ग्रन्थ सूची

English

1. Vijnaptimatrata Siddhi, K.N. Chatterjee Kishore Vidya Niketan Bhadani, Varanasi, India 1980.
2. Buddhist Theory of Perception, C.S. Vyas, Navrang, New Delhi 1991.
3. A Critical History of Greek Philosophy, W.T. Stace, Macmillan India Ltd., Delhi 1985.
4. The Path of Purification (Visuddhimaggo) Buddhaghosa, 2 Volumes, Shambhala Publications INC. 2045 TranCisco Street BerKeley California 1956, 1964
5. A History of·Indian Philosophy Surendar Nath Dasgupta, Motilal Banarasi Das, Delhi, 1975.
6. The Nature of Self, A.C. Mukherji, The Indian Press Ltd., Allahabad, 1943.
7. PreSamkara Advaita Vedanta, Sangam Lal Pande, Darshan Peeth Allahabad, 1974.
8. Structural Depths of Indian Thought P.T. Raju, South Asian Publishers, New Delhi, 1985.
9. Indian Philosophy, S. Radhakrishnan, George Allen & Unwin Ltd.,London, 1929.
10. The Vedanta Sutras of Samkaracarya, George Thibaut, The Clarendon Press Oxford, The Sacred Books OF the East Series Edited by Max Muller Volumes 34, 1890, 38 (1896) The Clarendon Press Oxford.
11. The Bodhisattva Doctrine in Buddhist Sanskrit Literature, Har Dayal, Motilal Banarasi Das, Delhi, 1978.
12. Mahayana Buddhism- Nalinaksha Dutt, Firma K.M. Private LTD.Calcutta, 1976
13. Self, Thought and Reality, A.C. Mukherji, The Indian Press Private Ltd., Allahabad, 1970

14. The Dialectical Method of Nagarjuna (Vigraha Vyavartını) Kamleshjr Bhattacharya, Johnston Kunst MotiLal Banarasi Das, Delhi 1978.

15. The Problem of Knowledge ın Yogacara Buddhısm, Dr. C.L Trıpathi, Bharat Bharatı Publications, Durga Kunda, Varanası, 1972.

16. A Critical Survey of Indian Phılosophy, Dr. ChandraDhar Sharma, MotiLal Banarası Das, Varanası, 1976.

17. The Dhammapada, Dr. S. Radhakrishnan, Oxford University Press, Delhi, 1977.

18. The Central Philosophy of Buddhism, T.R.V. Murtı, Munshi Ram Manoharlal, Publıshers Private Ltd. 1998.

19. The Madhyamika and The Tathata, The Indian Philosophical Quarterly IX, (1933), (March 1933, 30&31

20. The Yogacara Idealism. Ashoka Kumar Chatterji, Motilal Banarasidas, Varanası, Delhi, Patna, 1977

21. Buddhist Sects ın Indıa, Nalinakshi Dutt, Indologıcal Book House, Varanası, Delhı, 1977.

22. Early Buddhist Theory of Knowledge, K.N. Jajyatilleke, George Allen & Unwın, London 1963.

23. Buddhist Philosophy ın India and Ceylon, A.B. Keith, Chaukhamba Vidya Bhawan, Varanasi, 1963.

24. Madhyamika Dialectic and the Philosophy of Nagarjuna, Samdhong Rinpoche, The Central Institute of Hıgher Tibetan Studies, Sarnath, Varanasi, 1977.

25. The Essentials of Buddhist Philosophy J. Takakusu, Motilal Banarasidas, Delhi, Patna, Varanasi 1966.

26. Outlines of Mahayana Buddhism D. T. Sujuki, Tharper & Row, New York, Evenston, London, 1968.

27. Nagarjuna's Philosophy as presented in the Mahaprajnaparamita Sutra, Harjrd Yanching Institute, Cambridge, Massachusetts 1966.

28. "Emptiness", A Study in Religious Meaning, A kingdon Press, New York 1967.

29. Systems of Buddhist Thought Yama Kami Sogen, Bharatiya Publishıng House, Varanasi, Delhi, 1979.

30. The Conception of Buddhist Nirvana, Theodere Stecherbatsky, Bharatiya Vidyaprakashan, Varanasi.

31. `Vedanta and Buddhism' ,S.S. Roy's article, `Advaita Vedanta and Buddhist Absolutism' Centre of Advanced Study in Philosophy, Banaras Hindu University 1968.

32. Lamkavatara sutra (English Translation)

33. Nagarjuna's Philosophy as presented in the Mahaprajnaparamita Sutra, Harjrd Yanching Institute, Cambridge, Massachusetts 1966.

34. The way to Nirvana, Louis be La Vallee Poussin

हिन्दी एवं संस्कृत

१. बौद्ध दर्शन और वेदान्त- डॉ० चन्द्रधर शर्मा, स्टुडेन्ट्स फ्रेन्ड्स, इलाहाबाद, बनारस १९४६

२. धम्मपद- डॉ० रामजी उपाध्याय, इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशंस), प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद १९६६

३. दर्शन-दिग्दर्शन- राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद १९४६

४. ग्रीक दर्शन- डॉ०. छोटे लाल त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, इलाहाबाद १९९१

५. माध्यमिक दर्शन का तात्विक स्वरूप- डॉ० मुक्तावली नाग प्रकाशन, ११ए/यू०ए०, जवाहर नगर, दिल्ली, (भारत) १९९८

६. बौद्ध धर्म दर्शन- आचार्य नरेन्द्रदेव, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली १९९४

७. बोधिचर्यावतार-'आचार्य शान्तिदेव, अनुवादक, शान्तिभिक्षु शास्त्री, बुद्ध विहार, लखनऊ १९८३

८. श्री रामचरितमानस, गोस्वामी तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर १९९८ ई०

९. मध्यमकशास्त्रम्- नागार्जुन, मिथिला विद्यापीठ प्रकाशन, दरभंगा १९६० ई०

१०. मध्यान्त विभाग-असंग, सम्पादक श्री रामचन्द्र पाण्डेय

११. माण्डूक्य कारिका, गीताप्रेस, गोरखपुर, १९८०

१२. श्लोक वार्त्तिक, कुमारिल भट्ट, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९७१

१३. चतु:शतकम्- आर्यदेव, अनुवादक, डॉ० भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर १९७१

१४. मध्यमकशास्त्र वृत्ति- चन्द्रकीर्ति-मिथिला विद्यापीठ प्रकाशन, दरभंगा १९६० ई०

१५. भारतीय न्यायशास्त्र- डॉ० चक्रधर विजल्वान, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ १९८३

१६. माध्यमिक डायलेक्टिक एण्ड द फिलॉसफी ऑव नागार्जुन-संदोंग रिनपोछे, सेण्ट्रल इन्स्टीट्यूट ऑव हायर टिबेटेन स्टडीज, सारनाथ, वाराणसी १६७७

१७. भारतीय दर्शन में अनुमान- डॉ० व्रजनारायण शर्मा, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल १६७३

१८. बौद्ध सिद्धान्त विमर्श, शान्तिभिक्षुशास्त्री-बौद्ध विद्या विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली १६८५ ई०

१६. महायानसूत्रालंकार- असंग, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा १६७० ई०

२०. अभिसमयालंकार वृत्ति- (स्फुटार्था) केन्द्रीय तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान, सारनाथ वाराणसी १६७७

२१. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास- डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डे, हिन्दी समिति-सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ १६७६ ई०

२२. अभिसमयालंकार- असंग केन्द्रीय तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान, सारनाथ वाराणसी १६७७

२३. मध्यमकशास्त्र और विग्रह व्यावर्तनी- नागार्जुन-व्याख्याकार यशदेव शल्य, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् न्यू मेहरौली रोड, नई दिल्ली १६६० ई०

२४. आचार्य शंकर- ब्रह्मवाद-डॉ० रामस्वरूप सिंह नौलखा, किताबघर, आचार्यनगर, कानपुर

२५. 'बोधिवृक्ष की छाया में' भरतसिंह उपाध्याय सस्तासाहित्य मण्डल प्रकाशन, कनाट सर्कस, नई दिल्ली १६८६ ई०

२६. भारतीय दर्शन- डॉ० राधाकृष्णन्- अनुवादक श्री नन्दकुमार गोभिल, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली १६७२

२७. शिक्षासमुच्चय-शान्तिदेव-मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा १६६० ई०

२८. भारतीय दर्शन- डॉ० नन्दकिशोर देवराज, उत्तर प्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ १६८३ ई०

२६. भारतीय दर्शन का इतिहास- डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, अनुवादक, एम०पी० व्यास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर १६७३

३०. भारतीय दर्शन- डॉ० धीरेन्द्र मोहन दत्त एण्ड सतीश चन्द्र चटर्जी, पटना

३१. भारतीय दर्शन- (ऐतिहासिक और समीक्षात्मक विवेचन) आलोचन और अनुशीलन, डॉ० चन्द्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १६८६

३२. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण- संगम लाल पाण्डेय, सेण्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद १६६१ ई०

३३. बृहदारण्यकोपनिषद् गीताप्रेस, गोरखपुर १६५५

३४. ईशादि नौ उपनिषद्- व्याख्याकार हरिकृष्ण दास गोयनका, गीताप्रेस, गोरखपुर १९५३ ई०

३५. तर्कभाषा- केशव मिश्र- व्याख्याकार डॉ० गजानन शास्त्री 'मुसलगॉवकर' चौखम्बा, सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी १९८४ ई०

३६. दार्शनिक चिन्तन- डॉ० छोटे लाल त्रिपाठी, सरस्वती प्रकाशन, १६ कॅचा श्यामदास, इलाहाबाद १९९६ ई०

३७. मूलबौद्ध दर्शन और धर्म का अर्थ, डॉ० छोटे लाल त्रिपाठी, सरस्वती प्रकाशन, १६ कँचा श्यामदास, इलाहाबाद १९९६ ई०

३८. विनय पत्रिका- गोस्वामी तुलसीदास टीकाकार वियोगी हरि- सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, दिल्ली १९९१ ई०

३९. सद्धर्मलंकावतार सूत्र- मिथिला विद्यापीठ, दरंभगा १९६३

४०. श्रीमद् भागवत, गीता प्रेस गोरखपुर

४१. संयुक्त निकाय, भिक्खु जगदीश काश्यप, पालि पब्लिकेशन बोर्ड, नालन्दा १९५९

४२. विसुद्धिमग्गो (३ भाग) बुद्धघोष, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी १९७२

४३. अंगुत्तर निकाय, भिक्खु जगदीश काश्यप, देवनागरी पालि सीरीज, नालन्दा १९६०

४४. कथावत्थु, भिक्खु जगदीश काश्यप, पालि पब्लिकेशन बोर्ड, नालन्दा १९६१

४५. केनोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर १९५३

४६. छान्दोग्य उपनिषद, गीता प्रेस, गोरखपुर

४७. दीघनिकाय, भिक्खु जगदीश काश्यप, नालन्दा १९६०

४८. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि-प्रकरण-द्वय, शुबतम छोग्डुग शास्त्री एवं रामशंकर त्रिपाठी, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी १९७२ ई०

४९. बोधिचर्यावतार पञ्जिकासहित, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा १९६०